

DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

६६

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

आचार्यपरिमलपद्मगुप्तनिरचित

नवसाहस्राङ्कचरितम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —

शास्त्री जितेन्द्रचन्द्रभारतीय एम. ए.

(साहित्याचार्य, साहित्यरत्न)



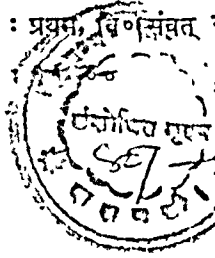
चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० वत् :

मूल्य



© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)

1968

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN'S SANSKRIT GRANTHAMALA

66
ॐॐॐ

80953

THE
NAVASĀHASĀNKACHARITAM

OF

ĀGHĀRYA PARIMALA; PADMAGUPTA

With Prakāśa Hindi Commentary, Introduction etc ,

By

Shastrī Jitendrachandra Bhāratīya M A

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN, VARANASI-1
1963

दो शब्द

एम० ए० द्वितीय वर्ष में मैंने आदरणीय गुरुवर श्री अय्यर महोदय से प्रबन्ध लिखने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की। गुरुवर ने परिमलपद्मगुप्त के नवसाहस्राक्षरित को ६ सगों तक अनूदित करने की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ पर कार्य करना प्रारम्भ किया गया। इसके लिये पद्यप्रदर्शक की आवश्यकता थी। स्वयं गुरुवर ने भद्रेय गुरुदेव डा० सत्यव्रतसिंह को आदेश दिया और वे मेरे पद्यप्रदर्शक नियुक्त हुये। बाद में फिर मैंने १८ सगों का ही पूर्ण अनुवाद कर डाला।

पद्मगुप्त ने जिस कार्यानिर्माण-कौशल और प्रतिभा का परिचय इस ग्रन्थ में दिया, उसी को दृष्टि में रखकर इस महाकाव्य पर विचार प्रकट किये गये हैं।

नवसाहस्राक्षरित सस्कृत साहित्य का उच्च कोटि का महाकाव्य है। इसमें त्रिपय की मनोहर दृग से यथार्थ विवेचना, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। भाव, भाषा, दृढ़, रस और शैली तथा अलंकार इन सब का औचित्यपूर्ण समावेश इस काव्य में देखकर ऐसा अनुभव होता है कि परिमलपद्मगुप्त मानो कविमूर्धन्य कालिदास का ही प्रतिनिधित्व कर रहा हो।

यह काव्य यद्यपि सरल है, फिर भी कहीं-कहीं और किन्हीं-किन्हीं प्रसगों में कुछ श्लोक ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ करना दुरूह-सा हो जाता है, केवल मूलपाठ के आधार पर यह कार्य मही मति सपन्न नहीं हो पाता। इसके लिये यत्र-तत्र सम्स्करणों में जो कई प्रकार के पाठ दिये गये हैं, उनको देखने से और मूल के साथ उनही सगति लगाने से कुछ का अर्थ तो समझ में आ जाता है, किन्तु कुछ में भ्रांति बनी रहती है। किन्तु मेरी इस उल्लेख को गुरुवर भी डा० सत्यव्रतसिंह ने सुझाया। श्री डा० सत्यव्रतसिंह जी ने विवेचना-पूर्ण दृष्टि से देखकर मुझे न समझाया होता, तो उन कतिपय श्लोकों के अर्थ की सगति बैठाने में अत्यधिक असुविधा होती।

इस काव्य की उपलब्ध प्रतियों में पाठभेद के कई रूप हैं। कहीं-कहीं तो अक्षर भी छूट गये हैं। इन सब बातों पर विशेष ध्यान रखकर ही अनुवाद किया गया है।

इसके पश्चात् तो जैसे-जैसे विवेचना की जाने लगी, वैसे ही वैसे कार्य करने में अधिक आनन्द आने लगा और नवसाहस्रकचरित की विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। १ से ६ सर्ग तक लगभग ७६२ श्लोकों का अनुवाद करने के पश्चात् आलोचना का कार्य किया गया। चूँकि इस काव्य की चर्चा संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र पायी जाती है, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने समय में यह अवश्य प्रसिद्ध रहा होगा।

—जितेन्द्रचन्द्र भारतीय

भूमिका

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा

जब हम संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा पर विचार करने लगते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान ऐतिहासिक शब्द पर जाता है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? विभिन्न विद्वानों ने इसका क्या अर्थ लिया है? और इसे किस अर्थ में लेना चाहिये, यह बात विचारणीय हो जाती है। इतिहास लिखना और काव्यनिर्माण करना—ये दोनों बातें मिला हैं। यदि इतिहास शब्द से जातिगत इतिहास या वंश क्रमानुसूल घटनाओं का वर्णन करना ही लिया जाय, तब तो सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और जातिगत अनेक प्रकार के इतिहास का ग्रहण करना होगा। इतना ही अर्थ लेकर यदि इस शब्द की उपादेयता देखी जायगी, तब तो ऋग्वेदकाल से लेकर रामायण, महाभारत (जैसे इतिहास ग्रन्थों) तक को ऐतिहासिक महाकाव्य माना जाना चाहिये। पर हम देखते हैं कि इन ग्रन्थों को कोई भी इतिहास मानने के लिये तैयार नहीं है। कारण कि ऐसा मान लेने पर वेदों की अपौरुषेयता और रामायण महाभारत की धार्मिक काव्यता ही नष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, फिर तो कालिदास और मगध, भारवि और माघ आदि कवियों के ग्रन्थ भी ऐतिहासिक महाकाव्य हो जायेंगे। अतः ऐतिहासिक शब्द का उपर्युक्त अर्थ लगाना सर्वथा अनुचित है। और यदि तथियों तथा उन उन घटनाओं की ठोस वर्णन सामग्री से युक्त काव्य को ही ऐतिहासिक काव्य कहा जायगा, तब आज इतिवृत्त को निर्दिष्ट करने वाले काव्य भी ऐतिहासिक कोटि में न आ सकेंगे।

यदि केवल वंशानुक्रम ही लिया जायगा तो उसके साथ काव्य में जितनी सामग्री कल्पना के आधार पर उपस्थित की गई है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। इससे काव्यनिर्माण का उद्देश्य और महत्त्व ही लुप्त हो जायगा। इसके विपरीत साहित्यिक दृष्टिकोण से जहाँ कहीं भी हम देखते हैं, काव्य में इतिवृत्तात्मकता तो कम और काव्यात्मक भावना अधिक मिलती है। अतः वहाँ इतिहास गौण हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'ऐतिहासिक काव्य' शब्द भ्रामक हो जाता है। अतः इस शब्द का इतना ही अर्थ लेना समुचित होगा—“वह काव्य, जिसमें इतिहासोपयोगी सामग्री

विद्यमान हो ।” इतिहास के तत्त्वों का उपयोग करनेवाली सामग्री वाला काव्य ही ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है । इस प्रकार की बात मान लेने पर जिसमें उपदेशात्मकता, धार्मिकता या सांस्कृतिक चेतना का बाहुल्य होगा, वह ग्रन्थ इस कोटि में नहीं आ सकेगा । व्यापक अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ को ग्रहण करने पर ही यह बात निश्चित हो सकती है कि कौन काव्य ऐतिहासिक काव्य है ।

इस दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य में हम हर्षचरित, गौडवध, नवसाहस्र-चरित, विक्रमांकदेवचरित और राजतरंगिणी को ऐतिहासिक काव्य की कोटि में रख सकते हैं ।

इन काव्यों के पूर्व के उपलब्ध काव्यों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति नहीं पाई जाती । क्यों ? यदि कहा जाय कि वाणभट्ट आदि कवि राजाभित्त कवि थे, इसलिए इन लोगों ने अपने आध्यदाताओं की प्रशंसा पर ही विशेष ध्यान दिया और ऐतिहासिक तत्त्वों का समावेश आपाततः किया, तो प्रश्न उठता है कि कालिदास को भी तो राजाभयमिला था, फिर उसने अपने आध्यदाता के समक्ष अपने-आपको सच्चा स्वामिभक्त और प्रशंसक सिद्ध करने का प्रयास क्यों नहीं किया ? कालिदास ने भी अपने आध्यदाताओं की प्रशंसा की है, पर वह इतनी ध्वन्यात्मक हो गई, उसमें इतनी भंगिमा और अन्योक्ति का सा भाव आ गया कि उसका रूप ही बदल गया । उसकी ऐतिहासिकता ने काव्य का चोला पहन कर अपने को बिलकुल ही ढँक लिया । यह कालिदास की असाधारण प्रतिभा का ही फल था । यदि यह कहा जाय कि महाकवि वाणभट्ट आदि ने खुद ऐसा किया तो क्या वह चाटुकार थे ? नहीं ! यह नहीं माना जा सकता । कारण कि उनकी कविता को पढ़ने पर यह भली-भाँति विदित होता है कि वहाँ काव्यानन्द की कमी नहीं है, वह दरबस चित्त को द्रवीभूत कर ही देता है । उस काव्यानन्द में किसी रूप में भी चाटुकारिता का आभास नहीं मिलता, और फिर दरबारी कवियों की भाँति यदि अपने आध्यदाताओं को ही प्रसन्न करना इनका ध्येय होता तो वे उन्हें केवल ऐसे रूप में चित्रित करते, जिससे उनका चरित्र अतिरक्षित होकर एक चमत्कारिक काव्यरूप में रह जाता । परन्तु ऐसा नहीं हुआ । इससे यह विदित होता है कि इस ऐतिहासिक काव्यनिर्माण में कोई न कोई ऐसी भावना काम करती रही है, जिससे ये लोग इस प्रकार के चरित्रों को लेकर काव्यनिर्माण करने लगे ।

कालिदास ने अपने ग्रन्थों की रचना आदर्श महापुरुषों की कथावस्तु के आधार पर की । रामायण और महाभारत के महान् चरित्र कालिदास

के सामने थे। माघ, भारवि, भवभूति आदि में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध है, किन्तु उत्तरकालीन कवियों में इस परम्परा के निपरीत एक दूसरी परम्परा परिलक्षित होती है, जिसमें ख्यातिप्राप्त लौकिक राजाओं की कथावस्तु को आधार मानकर काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति पायी जाती है।

तो क्या कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति और बाणभट्ट आदि के बीच के समय में ही उन महापुरुषों के चरित्रों में ऐसे कोई तत्त्व न रह गए थे, जिनपर आगे चलकर भी लोग काव्य निर्माण करते ? ऐसा मानने में कुछ सकोच होता है। जहाँ इस प्रकार के राजचरितों को लेकर आगे बढ़ने की जो प्रवृत्ति बाणभट्ट और उनके परवर्ती कवियों में देखी गई है, हो सकता है कि वह इसलिये हो कि इन लोगों ने सोचा हो कि भारतीय जीवन के अधिष्ठातृमूल प्रसिद्ध आदर्शों के प्रतीक चरित्रों को काव्य का रूप देने में कालिदास की क्षमता और समता को पाना कठिन है, और ख्यात होना तो अभीष्ट है, अतः इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के मार्ग को त्याग कर एक ऐसी वस्तु उठाई, जो नवीन दृष्टिकोण की थी, और जनजीवन से दूर भी न थी। उसीको लेकर इन्होंने अपनी काव्यप्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ किया। फिर यह भी सम्भावना हो सकती है कि जिन राजाओं की इतिवृत्तात्मक कथावस्तु लेकर ये लोग चले हैं, वे अपने समय में ऐसे मान्य, भद्रेय और ख्यात रहे हों, जिन्हें बनता अत्यन्त गौरव की दृष्टि से देखती रही हो। अतः अपने काव्य की गौरवान्वित करने के लिये और इस भाँति जनता के बीच अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि कवियों जैसी ख्याति प्राप्त करने के लिये भी इन कवियों ने इस प्रकार की इतिवृत्तात्मक काव्यनिर्माण की दिशा की ओर पैर बढ़ाया।

यही कारण रहा होगा कि ऐतिहासिकता इन कवियों के काव्य में न्यून रही और काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति अधिक बलवती। अन्यथा ये इतिवृत्त का ही उल्लेख विशेष रूप से करते और इस भाँति करते कि ऐतिहासिक ही कहे जाते, पर बात तो यह रही कि अपनी ख्याति के लिये ही इन्होंने काव्यनिर्माण की नवीन परम्परा अपनाई, और सम्भवतः इसीलिये बाणभट्ट ने गद्यशैली का भी आश्रय लिया। बाणभट्ट के पश्चात् होनेवाले कवियों के काव्यों को देखने से और उनके काव्यों के नामकरण से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि बाणभट्ट के हर्षचरित में जितनी ऐतिहासिकता मिलती है, उतनी गौडवध में नहीं, और नवसाहसाङ्कचरित तथा विक्रमाङ्कदेवचरित में तो वह और भी कम होती हुई प्रतीत होती है। हाँ, राजतरंगिणी में

काव्यमयी प्रवृत्ति न्यून और ऐतिहासिक प्रवृत्ति कुछ अधिक पाई जाती है। उसका कारण यही है कि राजतरंगिणी का निर्माता कल्हण तीन सौ वर्ष पुराने राज-वंशों का और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अपने दृष्टिकोण से संवीक्षण करने में लगा हुआ था। अतः उसका कार्य इन अन्य कवियों की प्रवृत्ति से कुछ भिन्न ही हो जाता है। सूक्ष्म विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्य-परम्परा की जो प्रचुर प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका उद्गम वाणभट्ट का हर्षचरित ही है।

हर्षचरित

हर्षचरित एक ऐसी प्रथम ऐतिहासिक कृति है, जिसमें काव्य के साथ-साथ ऐतिहासिकता की भी रक्षा हुई है। हर्षचरित में हर्षवर्धन के वंश-प्रवर्तक पुरुष से लेकर वंशक्रमवर्णन, युद्ध में सम्मिलित राजाओं का वर्णन, और अन्त में हर्ष के राज्य का विस्तार, उसकी दिग्विजय, उसकी लोकप्रियता, न्यायप्रियता आदि का वर्णन बड़ी रोचक समस्तगद्यात्मक शैली में किया गया है।

हर्षचरित के इतिवृत्त का वर्णन आलंकारिक और भावप्रधान ढंग से किया गया है। कविवर वाणभट्ट ने उसमें केवल अपने आश्रयदाता के इतिवृत्तात्मक जीवन का ही दर्शन नहीं कराया है, अपितु इसके पूर्व अपनी वंशोत्पत्तिक्रम का और अपनी कई पीढ़ियों तक का विवरण दिया है। इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है, जो संस्कृत के अन्य ऐतिहासिक काव्यों के विषय में कही जा सकती है, कि वे अतिरञ्जनापूर्ण हैं। पर यह हर्ष की बात है कि इस काव्य की नमस्त ऐतिहासिक घटनाएँ आधुनिक इतिहासकारों ने सत्य स्वीकृत कर ली हैं। और वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि हर्षचरित में वर्णित घटनाएँ समसामयिक इतिहास के अनुसंधान के लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं। वाणभट्ट की इसी विशेषता को देखकर संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक महाकाव्यों के निर्माताओं में सर्वप्रथम वाणभट्ट का ही नाम आता है :

वाणो वाक्यतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च ।

विल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः ॥

गौडवध

इसके पश्चात् वाक्यतिराजदेव के गौडवधो (गौडवध, ७३६ ई० पू०) की रचना है। इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। पर इस विषय में भी अभी मतभेद पाया जाता है। इसमें यशोवर्मा के द्वारा एक गौड राजा के

परास्त होने की घटना का वर्णन है। परन्तु महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर कम ध्यान दिया गया है। यहाँ तक कि प्रतिपत्नी गौड राजा का नाम तक नहीं दिया गया है। इसका कवित्वमय वर्णन सुन्दर और रोचक है।

नवसाहसाङ्कचरित

इस काव्य के निर्माता परिमलपद्मगुप्त हैं। इसमें 'वाक्पतिराज' उपाधिधारी मुज के छोटे भाई सिन्धुराज के पराक्रम की कथा और नागराजपुत्री शशिप्रमा के साथ उसके पाणिग्रहण का वर्णन किया गया है। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्राकुश की मारकर उसकी स्वर्णवाटिका से हेमकमल को लाकर शशिप्रमा के पिता शखपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर शशिप्रमा से विवाह कर लेते हैं। इसी घटना का परिमलपद्मगुप्त ने विस्तृत एवं काव्योचित वर्णन करते हुए अपने आभयदाता सिन्धुराज के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसकी वर्णन शैली और संस्कृत काव्यमय रूप के भीतर से ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करने पर उनमें यथार्थ वशवर्णन, तथा घटनाओं का पता ऐतिहासिकों को लग सकता है। इस कवि ने तत्कालीन अनेक विश्वसनीय ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जिनकी पुष्टि अन्य उपलब्ध प्रमाणों और शिलालेखों से होती है।

ऐतिहासिक काव्यपरम्परा में नवसाहसाङ्कचरित का स्थान

ऐतिहासिक महाकाव्यों में नवसाहसाङ्कचरित का क्या स्थान है? इसका निर्णय करना अति कठिन है। फिर भी कुछ आधारों पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहसाङ्कचरित ऐतिहासिक काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

नवसाहसाङ्कचरित एक ऐसा महाकाव्य है, जो अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों प्रकार के ऐतिहासिक काव्यों की मध्य स्थिति में है, और दोनों पर प्रकाश डालता है। इसमें जो ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, वे आज के इतिहास सशोधकों के लिए और विशय कर परमारवंश के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए बरद सिद्ध हुई हैं। साथ ही साथ इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ प्रचलित्यों और शिलालेखों की सत्यता की कसौटी पर कसने से खरी उतरती हैं। बायमट्ट और वाक्पतिराजदेव के प्रयाग परन्तु नवसाहसाङ्कचरित ही एक ऐसा काव्य है, जो काव्य के दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि इसकी इतिवृत्तयोजना सुन्दर, सरस और चमत्कारपूर्ण शैली के आधार पर हुई है।

शशिप्रमा के पाणिग्रहण की घटना सिन्धुराज के जीवन की प्रत्यक्ष घटना

है, जिसके आधार पर कवि की कल्पना को विस्तार मिला है, उसी पर काव्य की उपादेयता निर्भर है। यह सच कवि ने स्वयं सिन्धुराज की प्रेरणा से ही किया है, जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं किया है। अतः यह प्रतीत होता है कि इस काव्य का तत्कालीन जनता में भी प्रभूत आदर रहा होगा।

यद्यपि बृहन्नयी की गणना में परिमलपद्मगुप्त की कृति की गणना नहीं की गई है, पर इससे उसका महत्त्व नहीं घटता। उसका महत्त्व तो इतने से ही अधिक बढ़ जाता है कि सुप्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य श्री मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में अलंकारों के उदाहरणों को देने के लिए नवसाहसाङ्कचरित के छंद उद्धृत किये हैं। मम्मट के समय तक इस ग्रंथ की ख्याति कश्मीर तक फैल चुकी थी। मम्मट को इस रचना में श्रेष्ठ गुण प्रतीत हुए, इसलिए उन्होंने इसके छंद उद्धरण के रूप में दिए। जैसे विषमालंकार के उदाहरण में :

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।

एष क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः । (१६।२८)

और :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा !

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते । (१।६२)

तथा पर्यायालंकार में :

विन्वोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।

अधुना हृदयेऽप्येव मृगशावाक्षि लक्ष्यते । (६।६०)

एकावली में :

पुराणि यस्यां सवराङ्गानि वराङ्गाना रूपपुरस्कृताङ्गथः ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥

(१।२१)

क्षेमेन्द्र ने श्रौचित्यविचारचर्चा में, और वर्धमान ने गणतंत्रमहोदधि में पद्म-गुप्त की चर्चा की है। कुछ कविता के अंश भी दिए हैं। परन्तु गणतंत्रमहोदधि में ऐसी कवितायें उद्धरणरूप में दी गई हैं, जो नवसाहसाङ्कचरित में नहीं हैं। इसने यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस कवि की कोई और भी रचना रही होगी।

नवसाहसाङ्कचरित के पृष्ठ ३८६ के नीचे लिखा है : श्रीपरिमलकालिदासत्रिचिते साहसाङ्कचरिते हेमकमलहरणः सप्तदशसर्गः और पृष्ठ २६१ की टिप्पणी में भी यही लिखा हुआ है। पर मूल में कहीं भी यह

नहीं लिखा हुआ है। यह माना जा सकता है कि इसकी काव्यशैली पर कालिदास का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। कालिदास से कवि इतना प्रभावित है कि वह स्वयं ही कहता है “राजा ने भलकारों से अपनी देह को इसी भाँति सजाया, जैसे कालिदास ने सरस्वती को।” कालिदास का नाम, उसकी दीपशिखा, चित्रशबलता आदि के प्रसंगों को देखकर विदित होता है कि कवि ने कालिदास के मार्ग को अपनाया। काव्यवर्णनशैली, काव्यसौन्दर्य, विषय-वर्णन, वस्तुचित्रण, समुचित भावमग्नता को देखकर यदि लोग पद्मगुप्त को कालिदास या परिमलकालिदास कहते रहे हों तो आश्चर्य ही क्या ?

इस विवरण से परिमलपद्मगुप्त की विशेषता और उसके स्थान का महत्त्व स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। अर्थात् यह कवि कालिदास के समकक्ष है, यह कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं।

इन सब पहलुओं को देखते कहा जा सकता है कि यह काव्य अपने समय के काव्यों में रचातिमास था। दूसरी बात यह है कि वृहन्नयी का विषय रामायण और महाभारत के वृत्त रहे हैं। लोगों को वे अधिक मान्य थे, इसलिए उनसे आधार पर बने काव्य चुनकर वृहन्नयी में रखे गये। अतः बाद की रूपचरित-वर्णन-परम्परा को एक अर्थ प्रकार की ही कोटि में रखा गया। इस काव्य का जनता में प्रचार हुआ, इसे रचाति भी मिली, पर परम्परागत विषय-वर्णन की प्रियता और लोककवि वृहन्नयी के विषय में अधिक थी, इसलिए नवसाह-साङ्गचरित वृहन्नयी के समान नहीं माना जा सका।

नवसाहसाङ्गचरित की विशेषताएँ

नवसाहसाङ्गचरित अपने समय के काव्यों में उत्तम माना जाना चाहिए। इसके कारण हैं, और वे हैं इसकी विभिन्न विशेषताएँ।

इसकी पहली विशेषता तो यह है कि इसका निर्माण प्रतिमासम्पन्न रूप से हुआ। वर्णन शैली पर कालिदास की छाप है। पर न इसमें पूर्ण रूप से कालिदास की ही शैली है, और न वाणभट्ट की ही। दोनों शैलियों का सम्मिश्रण इसमें है। जिसके कारण यह काव्य अपने दग का निराला ही हो गया है। सुकुमारता और शोभसुकु शैली, उत्प्रेक्षित कथा का स्वाभाविक वर्णन, और भाषा की प्राञ्जलता—इसके गुण हैं, जिनकी अभिव्यजना मली भाँति हुई है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस कवि ने अपने काव्य में उन ऐतिहासिक तथ्यों को निर्दिष्ट किया है, जो परमारवंश के इतिहास के लिए प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। परन्तु यह सामग्री इतने समुचित दग से रखी गई है कि उसकी उपादेयता और चारखोसकर्म अपने समय के सभी काव्यों से अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। इसमें काव्य के उत्तम गुण पूर्ण रूप से सन्निहित हैं।

तीसरी विशेषता इसकी सफल इतिवृत्तयोजना है ।

चौथी विशेषता चरित्र-चित्रण की प्रभावोत्पादकता, वर्णनों की विशदता एवं मनोहारिता, व्यक्तित्व का समुचित विकास, एवं भारतीय परम्परा का आदर्शोन्मुख प्रणय है, जो कल्पित होते हुए भी वास्तविक है और लोकानुभव से बाहर की वस्तु नहीं है ।

पाँचवी विशेषता रस तथा भाव की सफल योजना और उसके लिए अलंकारों का श्रौचित्य, नातिनिर्वहणीयता तथा अकष्टसाध्यता का समावेश है । छन्दोयोजना की भावानुकूल स्थापना और भी विशेष गुणोत्कर्ष की द्योतिका है, जिसके कारण उद्देश्य की पूर्ति में कहीं भी व्यवधान नहीं आने पाया है ।

छठी विशेषता सिन्धुराज के परम पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति के स्वच्छन्द गतिशील रूप का मनोवैज्ञानिक चित्रण है, जो इसके मूलवृत्त का महत्त्व है ।

सातवीं विशेषता अपनी मौलिकता के साथ अन्य कवियों की शैली का सामंजस्य करा देना है, जिसके द्विगुणित प्रभाव के कारण भावचित्र और वस्तु-चित्र उभरते चले गए हैं और वातावरण की स्पष्टता तथा स्वाभाविकता का रूप प्रत्यक्ष हो जाता है ।

आठवीं विशेषता कवि और पाठक, पात्र और पाठक के बीच एक आत्मीयता का भाव और तदाकारत्व की अनुभूति है, जिससे कवि की मर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय मिलता है और काव्यानन्द की चरमानुभूति हो जाती है ।

इन सब विशेषताओं के कारण नवसाहस्राब्दचरित का स्थान ऐतिहासिक काव्यों में किसी से कम नहीं रहता, और यदि यह कहा जाय कि अपनी विशेषताओं के बल पर यह काव्य उनसे भी अधिक महत्त्व का है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

कविविषयक चर्चा

संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले अधिकतर कवि अपने वंश-परिचय और अपने विषय में प्रायः उदासीन ही रहे हैं । उन महापुरुषों ने सम्भवतः इसकी कल्पना भी नहीं की और यह भी हो सकता है कि अपने समय में वे इतने ख्यात रहे होंगे कि उन्हें अपना परिचय देने की आवश्यकता भी न पड़ी होगी । जो कुछ भी हो, यहाँ पर हम यही कह सकते हैं कि वस्तुतः भास और कालिदासदि कवि जिस प्रकार अपना परिचय देने में लालायित नहीं रहे, उर्वा प्रकार पद्मगुप्त भी अपने विषय में उदासीन रहा है । इतने बड़े काव्य

के आदि अन्त में कहीं भी कवि ने अपना परिचय नहीं दिया। केवल प्रति सर्ग के अन्त में कवि ने 'मृगाङ्कदत्तसूतो' कह कर अपने पिता मृगाङ्कदत्त का नाममात्र दिया है।

पर इस कवि की जन्मभूमि कहाँ थी, इस विषय में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में बलदेवप्रसाद की उपाध्याय ने एव 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा' में भी चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने भी केवल पद्मगुप्त की चर्चा मात्र कर दी, और कुछ भी उसके विषय में नहीं लिखा। श्री विश्वेश्वरनाथ की रेव ने अपने ग्रन्थ 'राजा भोज' में इस कवि के आश्रय दाताओं के उल्लेख के अवसर पर पद्मगुप्त और उसके पिता मृगाङ्कदत्त के नामों का उल्लेख मात्र ही किया है। 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' (श्रीकृष्ण-माचारा) में भी अथर्व पात्रों की चर्चा तो इस कवि के सम्बन्ध में की गई है, पर वहाँ भी परिमल का कोई उल्लेख नहीं। यह कवि धारा नगरी में ही उत्पन्न हुआ था या कहीं बाहर से यहाँ आया था, जैसे यह मुञ्ज का दरबारी कवि बना, इन बातों का संकेत कहीं भी नहीं मिलता। ज्योतिष की औचित्य विचारचर्चा में भी इस कवि का उल्लेख है, पर वहाँ भी परिचय नहीं दिया गया है। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से भी कुछ पता नहीं चलता। इस विषय में जो कुछ भी विशेष रूप से ज्ञात हो सकता है, उसका आधार नवसाहस्राङ्कचरित ही है, जिस पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। अन्त साक्ष्य और वहि-साक्ष्य जो कुछ भी उपलब्ध हो सकते हैं, केवल नवसाहस्राङ्कचरित से ही, उन्हीं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह कवि बाहर से आकर धारा में रहने लगा था। वहाँ कविवाचन मुञ्ज से इसकी मैत्री हुई और वह मुञ्ज के आश्रय में रहने लगा। मुञ्ज के समय में भी इसने कुछ ग्रन्थ लिखे। कवि ने मुञ्ज के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है।

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं धन्वामहे वाक्पतिराजदेवम् ।

यस्य प्रसादाद्द्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णं पथि संचराम ॥ (१।७)

और

दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त या वाक्पतिराजदेव ।

तस्यानुजन्मा कप्रियाधवस्य भिनत्ति ता सम्प्रति सिन्धुराज ॥ (१।८)

इन श्लोकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त मुञ्ज का बड़ा कृपापात्र था। उसके मरने पर कवि ने मौन धारण कर लिया था, प्रथ निर्माण और साधारण रूप से कविता करना उसने बन्द कर दिया था, परन्तु सिन्धुराज के कहने पर कवि को नवसाहस्राङ्कचरित का निर्माण करना पड़ा। राजा नवसाहस्राङ्क ने ही अन्य कवियों के होते हुए भी इसी कवि को काव्य

निर्माण के लिए नियुक्त किया। इससे इस कवि की काव्यनिर्माण-निपुणता का आभास मिलता है।

इसी आधार पर कवि के काल का और ग्रंथ-निर्माण के काल का भी अनुमान सरलता से हो जाता है। मुञ्ज ने कर्नाटक (लार) चोल देश के राजाओं को परास्त किया। तैलप द्वितीय ने इसे वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाला। पश्चात् सिन्धुराज गद्दी पर बैठा और वि० सं० १०६६ के कुछ पूर्व गुजरातनरेश सोलंकी चामुण्डराय के साथ की लड़ाई (१०१० ई० सं०) में मारा गया। मुञ्ज की मृत्यु १०५०-१०५४ के बीच मानी जाती है। सिन्धुराज (राजा भोज) की मृत्यु जब १०६६ वि० में हुई तो इस हिसाब से १४ या १६ वर्ष तक ही सिन्धुराज का राज्य रहा। मुञ्ज की मृत्यु के बाद कुछ समय तक पद्मगुप्त ने काव्य भी नहीं लिखा। सिन्धुराज जब १०५३-५४ में सिंहासनाधिरूढ़ हुआ होगा, तभी उसने पद्मगुप्त से काव्यनिर्माण के लिए भी कहा होगा। चार-पाँच साल तक सिन्धुराज ने भी अपने पराक्रम का विस्तार किया होगा। और तभी उसने अपनी यशोगाथा लिखने का आदेश दिया होगा। क्योंकि इस बीच उसने कई राजाओं के साथ युद्ध किए, जिनका वर्णन पद्मगुप्त ने नवसाहसाङ्कचरित में किया है। तब तो नवसाहसाङ्कचरित का निर्माणकाल १०६१-६२ वि० सं० (ई० सं० १००५) सिद्ध होता है।^१

जब पद्मगुप्त ने राजाभय पाया होगा, तब कम-से-कम उसका अध्ययन भी प्रौढ रहा होगा और उसकी कविता भी परिष्कृत हो चुकी होगी। इस काल में उसकी आयु कम-से-कम २५-३० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि मान लिया जाय तो पद्मगुप्त का जन्मकाल १०२८ के लगभग माना जाना चाहिए। १०४८ में वह मुञ्ज का दरवारी कवि बना होगा। मृत्युकाल क्या रहा होगा, इसका किसी भी भाँति अनुमान नहीं किया जा सकता है।

रही बात जन्मस्थान की, तो यह भी निर्यात्मक दृष्टि से नहीं कहा जा सकता है कि यह कवि कहाँ का था, किन्तु इतना तो उसके काव्य के आधार पर कहा ही जा सकता है कि वह उज्जयिनी का नहीं था, बाहर से आकर वह यहाँ बस गया; क्योंकि कवि ने उज्जयिनी का जो वर्णन किया है, उसमें यह विदित होता है कि उज्जयिनी के गूढ़ रहस्यों और चित्रणों के बारे में वह बात नहीं है, जो कालिदास के उज्जयिनी-वर्णन में है। अन्य स्थानों का वर्णन कवि

१. "नवसाहसाङ्कचरित की रचना १००५ के लगभग हुई"—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (चन्द्रशेखर शाली)।

ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है, जैसे—मोगवती का वर्णन, नर्मदा का वर्णन आदि । इसपर से इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि यह कवि कश्मीर का रहा होगा, क्योंकि उधर के ही प्रवृत्ति-सौन्दर्य के चित्रण उसके काव्य में उत्तम रूप से उपास्थित किए गए हैं । हाटकेश्वर के वर्णन से भी यह कहा जा सकता है कि वह कश्मीर के सौन्दर्य से परिचित था, और नाम भी उसका कश्मीरी परम्परा का ही सा है और उस पर कश्मीरी शैव सिद्धांत की छाप भी अवश्य पड़ी है । यह भी अवश्य है कि वह शैवभक्त था । उसने अपने काव्य में प्रारम्भ से ही शिव की स्तुति की है । मध्य में भी कई छन्द शिवस्तुति और शिवमहिमा के हैं । अंत में भी शिवस्तुति के साथ ही अथसमाप्ति की गई है । अतः यदि यह मान लिया जाय कि वह कश्मीरी या तो अनुचित नहीं होगा ।

नवसाहसाङ्कचरित का मूलवृत्त

संस्कृत के महाकाव्यों में आदिकवि वात्मीकि से लेकर उत्तरोत्तर जितने भी महाकाव्य के निर्माता हुए हैं, उन सबने प्रत्यात मूल वृत्त को ही लेकर अपने काव्यों का निर्माण किया है । उनकी इस परम्परा का उद्देश्य प्रत्यात वृत्त से परिचित जनता में अपने काव्य द्वारा उसकी सत्ता और गुणगणिमा प्रतिष्ठित करना ही रहा है । अधिकतर महाकवियों ने रामायण और महाभारत की कथाओं को लेकर अपने काव्यों की रचना की, किन्तु कुछ काल के पश्चात् विषय की नवीनता ने भी कवियों के चित्त को आकृष्ट किया और इसी लिये आगे आने वाली पीढ़ी ने नवीन कथावस्तु के आधार पर अपने काव्य का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया । बाणभट्ट जैसे कुछ महाकवियों ने प्रत्यात राजपुरुषों के वृत्तों को लेकर इस नयी परम्परा को प्रचलित किया । परिमलपद्मगुप्त ने भी इसी परम्परा के आधार पर अपने समय के प्रत्यात, वीर, साहसी सिन्धुराज के वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की । इस काव्य का मूलवृत्त परमारवंश की राज्यधी का सिन्धुराज द्वारा स्थिर करना है, जिसमें परमार राजाओं की वीरपरम्परा निहित है । उपेन्द्र नामक राजा से लेकर सिन्धुराज नवसाहसाङ्क तक की षो घटना ऐतिहासिकरूप में पद्मगुप्त ने प्रस्तुत की है, वही इस मूलवृत्त का केन्द्रबिन्दु है और वही मूल वृत्त समस्त काव्य के इतिवृत्त के विस्तार में बीजरूप से पाया जाता है ।

सिन्धुराज के पूर्व उसका बड़ा भाई मुञ्ज अपनी कीर्तिपताका को पहना चुका था । मुञ्ज स्वयं वीर, कवि और कविवान्धव भी था । पद्मगुप्त मुञ्ज का दरबारी कवि था । मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् पद्मगुप्त ने काव्य का निर्माण करना छोड़ दिया था । उस समय सिन्धुराज राज्याधिकारी हो

चुका था। सिन्धुराज जनप्रिय नृपति था, वह भी मुञ्ज की ही भाँति ख्याति प्राप्त करना चाहता था, जो उसकी वीरता और साहस के साथ काव्य द्वारा विशेष रूप से हो सकती थी। अतः उसने स्वयं पद्मगुप्त को इस प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आज्ञा दी, जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस महाकाव्य का मूल वृत्त सिन्धुराज द्वारा परमारराज्यलक्ष्मी का स्थिरीकरण ही है। कवि पद्मगुप्त उस वंश से परिचित था ही। उस वंश के वीरों की पराक्रम-शालिता और वीरता के बारे में उसे पर्याप्त ज्ञान था, अतः उसने परमारवंश की राज्यक्षी को शत्रुभूतियों से जीतकर उसे स्थिर रखने का सारा श्रेय सिन्धुराज को दिया और इसीलिये उसने नवसाहसाङ्क सिन्धुराज का परमोच्च व्यक्तित्व सामने रखा।

सिन्धुराज अपने समय में कुन्तलेन्द्र जैसे नृपति को परास्त करके ख्यात हो चुका था, इसलिये पद्मगुप्त ने उसीके वृत्त को लेकर अपने काव्य का निर्माण किया। मूलवृत्त के पश्चात् कवि ने इतिवृत्त का मनोहर एवं कलात्मक विस्तार किया और उसे रोचक बनाने के लिये अपनी कल्पना-प्रसूत शशिप्रभा, जो राज्यलक्ष्मी का प्रतीक है, एवं वज्रांकुश जो तैलयवंशीय कुन्तलेन्द्र के रूप में देखा गया है, इन दोनों की योजना कर दी। इस महाकाव्य का मूल वृत्त प्रख्यात है, जो भारतीय जनता को अपने समय में प्रिय रहा है, और जो भारतीय जीवन के व्यापक अंग से सम्बद्ध रह चुका है। साथ ही साथ पद्मगुप्त की प्रत्यक्ष अनुभूति भी इसमें रही है। इसीलिये उसने इस मूल वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की।

नवसाहसाङ्कचरित की इतिवृत्तयोजना

मूल वृत्त के परिचय के पश्चात् हम यह सुगमता से कह सकते हैं कि इस महाकाव्य का इतिवृत्तात्मक शरीर पद्मगुप्त की कल्पना से बना है और जिस भाँति पद्मगुप्त ने अपनी उदात्त कल्पना के द्वारा उसे सँवारा है, उसके अनुसार यह इतिवृत्त इस महाकाव्य में इस प्रकार झलक रहा है :

मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् सिन्धुराज राजसिंहासनारूढ हो चुका है। राजसत्ता की प्राप्ति के पश्चात् वह अपने प्रतिपक्षी अनेक राजाओं को जीत लेता है। अपने भाई मुञ्ज की दुःखद मृत्यु का प्रतिशोध वह कुन्तलेन्द्र से लेता है। कुन्तलेन्द्र को जीतना सहज कार्य नहीं है। इसके लिये सिन्धुराज की वीरता और साहस के कार्यों को दिखा कर उसे दैवी शक्तियों का सहयोग दिखलाया गया है। मृगया-विहार से लेकर विंध्याट्टी में नागराजपुत्री शशिप्रभा के हार की प्राप्ति द्वारा उसके भेंद, उसका अदृश्य होना, उसकी

प्राप्ति के लिये चेष्टायें आदि घटनाओं के द्वारा सिन्धुराज के अदम्य साहस और उरसाह का परिचय दिया गया है। वक्रमुनि का आशीर्वाद, नागों और गधवों की सेना का सहयोग, नर्मदा की मंगल-कामना कर-इतिवृत्त में समावेश किया गया, जिससे सिन्धुराज की अथर्वशीघ्र और अमर्षणीय शक्ति का परिचय दिया गया है। भीषण साहसी कार्यों के फलस्वरूप शशिप्रभा के साथ राज्यलक्ष्मी का सुखमोग दिया गया है। इसके लिये सिन्धुराज को पय में भानेवाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाला सिद्ध किया गया है। वज्राकुरा जैसे अदम्य दैत्य का वध कराकर उसकी एहवापिका से स्वर्णकमल का आहरण करना और अन्त में पूर्णरूप से सब सुख प्राप्त करना—इस काव्य के इतिवृत्त का अन्तिम छोर है।

इस प्रकार मूल वृत्त में महान् भेद दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक के इतिवृत्त की कल्पना सुसश्लिष्ट और संस्कृत रूप से हुई है, जिस पर स्वयं नायक और कवि दोनों मुग्ध हुए जान पड़ते हैं। सप्तम तथा दशम सर्ग में एव ग्यारहवें सर्ग के १०२ श्लोक से लेकर ११२ श्लोक तक इस इतिवृत्त की उत्पत्ति कवि ने स्पष्ट रूप से की है, जिसमें हूण, बागड़, मुरल, लाट, कर्नाटक, कोशलपति पर विजय का स्मरण दिलाकर राजनीति का वर्णन करके इतिवृत्त को विस्तृत रूप दिया है। यह है इतिवृत्त, जिसका परिचय कवि की कल्पना शक्ति के साथ कथारूप में मिलकर हमें मिलता है। कवि की प्रतिभा और उदात्त कल्पना ने इस वृत्त को हृदयावजक ढंग से उपस्थित किया है।

नरसाहसाङ्कचरित में चरित्र चित्रण

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में जो चरित्र उपस्थित किए गए हैं, वे या तो अलौकिक रहे हैं या महापुरुषों के। इसके अतिरिक्त उच्चवर्गी राजाओं के या ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के चरित्रों की भी उपस्थापना की गई है। अनेक महाकाव्यों के नायकों के चरित्र साधारण होते हुए भी अलौकिकता से सवलित हैं। ऐसे चरित्रों को इसीलिए ब्राह्म माना गया है कि उनकी परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। परन्तु यह एक ऐसी बात रही है कि महाकाव्यों के निर्माण के लिए लौकिक या अलौकिक जो भी चरित्र लिए गए हैं, उनका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर हुआ है। उनकी जितनी भी विशेषता है, वह साधारण जीवन के शरत्तल से ऊपर उठकर उसमें मानवीय उदात्त भावनाओं का विकास करना ही है। सामान्य रूप से मानवीय दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराकर उनपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा सभीमें की गई है। इसीलिए चरित्र के अतर्गत सत्य, ईमानदारी, त्याग, परट सकातरता, सहिष्णुता, आदर्श की दृढ़ता, आत्मसयम आदि

अनेक गुणों का बोध सन्निविष्ट रहता है। चरित्र की विशेषता यह है कि वह पशुप्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करता है, और इन्हीं विशेषताओं पर उसके महत्त्व का मूल्यांकन प्रायः सभी कवियों ने किया है, और तभी महाकाव्य के नायक में कुछ स्वाभाविक गुणों का होना अनिवार्य माना गया है।

तेजो विलासो माधुर्यं शोभास्थैर्यगभीरताः ।

श्रीदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥

ये सात्त्विक गुण किसी भी कौटि के नायक में होने चाहिए।

नवसाहस्राक्षरित के नायक सिन्धुराज में हम इन सभी गुणों को पाते हैं। आलंकारिक आचार्यों ने जो चार प्रकार के नायक माने हैं, उनमें से दो भेदों (धीरोदात्त, धीरललित) के मिलन-बिन्दु से बना हुआ सिन्धुराज का व्यक्तित्व है।

कालिदास के पात्रों का चरित्र आदर्शान्मुख होते हुए भी वे इसीलिए सर्वथा स्वाभाविक सिद्ध हुए हैं कि उनमें साधारण जीवन का पक्ष अधिक प्रबल रहा है, एवं व्यावहारिक सत्य की कहीं भी श्रवहेलना नहीं की गई है। बाणभट्ट के पात्र कल्पना का कलेवर धारण करने पर भी व्यावहारिक सत्य के अत्यधिक निकट हैं। यही बात भारवि एवं माघ के पात्रों में भी पाई जाती है। परिमलपद्मगुप्त के नवसाहस्राक्षरित के पात्र भी कुछ ऐसे ही हैं। इनमें अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन भी है, तथापि साधारण जीवन का लौकिक पक्ष और जीवनोपयोगी सत्य का स्वाभाविक चित्र भी उपस्थित किया गया है।

इस काव्य में दो ही प्रधान चरित्र हैं। सिन्धुराज नवसाहस्राक्ष और नागराज शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा। सिन्धुराज का व्यक्तित्व परम पुरुषार्थी, तेजस्वी, विनायी, माधुर्यसम्पन्न, गम्भीर और ललित आदि गुणों की समष्टि से बना हुआ है। उसे प्रभावसम्पन्न प्रतिज्ञापालक के रूप में उपस्थित किया गया है। विनय और शालीनता ने उसके प्रधान गुण हैं। उसके साहस के सम्बन्ध में पद्मगुप्त ने कहा है :

निर्व्यूढनानाद्भुतसाहसञ्च (१। ५६)—इससे उसकी अद्भुत साहसी शक्ति की सूचना मिलती है, इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते । (१। ६२)

इस प्रकार सिन्धुराज की साहससम्पन्न शक्ति का परिचय दिया गया है।

सिंधुराज प्रसन्नचित्त का मनस्वी व्यक्ति है। राज्यशासन में निपुण, गुणग्राही, गुणों की कदर करनेवाला एव सत्यभाषी है। कवि ने स्वयं इस विषय में कहा है कि वह ययाति, मान्धाता और भरतीपम है। उसने सैकड़ों साहसी कार्य किये, इसीलिए वीरजोषियों में उसे नवसाहस्राङ्क नाम से लोग पुकारा करते थे (११।१६२)।

रूपेण तेजस्वितयार्जवेन प्रियवदस्त्वेन त्वामुना व।

दिलीपदुष्यन्तभगीरथादीन तानादिराजान् झटिति स्मरामि। (६।६)

इस श्लोक में सिंधुराज के उन सभी गुणों का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुतः नायक में होने चाहिए। साहस और स्थैर्य का परिचय उस समय अधिक मिलता है, जब वह मार्ग में अनेक उपद्रवों का सामना करता हुआ नर्मदा को पार कर नामलोक तक जाता है और शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए वज्राकुश जैसे दुर्दांत और दुर्मद राक्षस पर विजय प्राप्त करके उसकी वापिका से स्वर्ण-कमल लाकर शलपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है।

एक क्षिती साहसिकस्त्वमेव

नान्योऽस्ति राजन्नवसाहस्राङ्क।

निसर्गदुर्गामपि भूमिमेता

स्वोद्यानवीथीमिव य प्रविष्टः ॥ (६।४६)

सा ते समाप्ताङ्कतसाहसस्य

वत्साङ्कभभ्येतु कणीन्द्रकन्या।

सीता यथा दाशरथे सलीलम्

आरोपितत्र्यम्बककर्मुकस्य ॥ (६।६१)

इस कथन से सिंधुराज का उत्साही होना पुष्ट होता है। पर इतना ही नहीं, इस उत्साह की पुष्टि वज्राकुश के साथ का भीषण युद्ध है, जिसमें उसकी वीररशक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। जहाँ नवसाहस्राङ्क का चरित साहससम्पन्न और धैर्यशाली है, वहाँ उसमें रसिकता भी उतनी ही अधिक पाई जाती है। उसकी शृंगारप्रियता का परिचय तो समस्त काव्य में ही मिलता है। प्रेमी हृदय का सिंधुराज रूपलोलुप या कोरा कामी नहीं। उसके हृदय में सत्यरस वदमूल रूप से दिखाई देता है। जब से उसने शशिप्रभा को देखा, उसके मन में उत्पन्न पूर्वानुराग उसकी प्राप्ति में पूर्ण सहायक हो जाता है, और इसीलिए सक्ती का सामना करते हुए भी वह उसे प्राप्त कर लेता है। शृङ्गारप्रियता के साथ इसका सौन्दर्यदर्शन और प्रेम भी उपम छोटि का है। कालिदास के दुष्यन्त की भाँति इसके प्रेम का परिचय भी वन में ही मिला है। यहाँ भी सखियाँ प्रेमपुष्टि में सहायक होती हैं। वे शशिप्रभा से कहती हैं

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥

(७।६६)

चिरतेऽपि मेघतिमिरे नताङ्गि मे

न गतासि लोचनपथं यदा तदा ।

फणिलोकभूमिमतिदुर्गामिमाम्

अविशं तवानुपदमेव सुन्दरि ।

(११।५४)

शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए दुर्गम फणिलोक की भूमि में प्राणों की बाजी लगाकर प्रवेश करना प्रेम की पुष्टि का प्रमाण नहीं है तो और क्या है ? हेमकमल लाकर शशिप्रभा के साथ पाणिग्रहण करने से प्रेम की सत्यता का पूर्ण परिचय मिल जाता है । इस सारी घटना में उसकी शृंगारी प्रवृत्ति ही काम करती दिखाई पड़ती है, जिससे वह सच्चा प्रेमी और दृढप्रतिज्ञ दिखाई देता है । परन्तु सिन्धुराज का आदर्श प्रेम सामान्य मानव-जीवन के आदर्श का प्रतीक है । 'त्रिभुवनविभ्रमैकभूमि' शशिप्रभा के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसमें अनुरक्त होना भी स्वाभाविक था । किन्तु इस अनुराग में मर्यादा का उल्लंघन कहीं भी नहीं हुआ । उसने शशिप्रभा की प्राप्ति की चेष्टा तभी की, जब उसे 'धृता गुणाद्यस्य बृहत्कथा तव' और "अतो वरोऽयं युवयोः समागमः" की सूचना मिल जाती है । 'असीमसौन्दर्यविलासभू' शशिप्रभा से वह तभी प्रेम करता है, जब उसे उसके अनुराग की भी सूचना मिल जाती है । इस प्रेम के प्रसंग में कवि ने अपने नायक के चरित में मानवोचित दुर्बलताओं का चित्रण करके स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है । शशिप्रभा के अदर्शन से नितान्त व्याकुल हो जाना, हार की देखकर कामासक्त हो जाना, व्याकुलता में सन्देश भेजना, सन्देश में अपनी कामासक्तता का उल्लेख करना आदि ऐसे तथ्य हैं, जिनका स्वाभाविक चित्रण नवसाहसिक के व्यक्तित्व में हुआ है । यद्यपि कथानक को देखकर कुछ घटनाएँ—जैसे नर्मदा के तिल में प्रविष्ट होना, गन्धर्व-सेना का सहयोग देना; दन्दर का मनुष्य हो जाना आदि—अस्वाभाविक सी जान पड़ती हैं, किन्तु इन घटनाओं में देवी शक्ति और शापविमोचन आदि का प्रकरण उपस्थित करके उन्हें काव्योचित बना दिया गया है । अभीष्ट रस के अनुकूल इस प्रकार की कल्पना का समावेश भी चरित की विशेषता में एक गुण ही माना जाता है, जिसके कारण

समय समय पर रस का उद्दीपन और प्रशमन होता रहे, एव प्रधान रस की विभ्रान्ति होने पर उसे फिर से सँभाल लिया जाय ।^१

सिंधुराज प्रतापी और शोभाशाली था, उसमें अनेक गुणों की समष्टि थी । इस विषय में पद्मगुप्त ने यों कहा है

पृथुप्रतापस्सविता यथैव यथा कलाना निधिरोपधीरा* ।

यथा वसन्त सुमनोऽनुकूलस्तथाऽभि भूमि स्पृहणीताया । (६।२४)

कन्दर्पाधिककान्तोयमवन्तिभृगुलाब्धन (६।५५)

यहां पर जिन गुणों की समष्टि का परिचय दिया है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहस्राक्षरित के नायक सिंधुराज के चरित में "अधो गुणा नेतरि सत्त्वत्वा" की उक्ति सुचारु रूप से घटित हो जाती है ।

शशिप्रभा

नवसाहस्राक्षरित की नायिका है शशिप्रभा । शशिप्रभा का भी अपना व्यक्तित्व है । अतुलनीय सौन्दर्य की नैसर्गिक छटा उसमें देखी जाती है । नागलोक की उस सर्वसुन्दरी की समता रति, चित्रलेखा, घृताची और तिलोत्तमा भी नहीं कर सकती । उपोढलाक्ष्यतरंगमङ्गया सरागबिम्बोद्गतप्रवालया (५।२४) कह कर कवि ने उसके सौन्दर्य को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है ।

शशिप्रभा 'घनानुरागिणी' है । सिंधुराज की चर्चा उसने मुन रखी है । मृग को लगे वाण के दर्शन से और वाण पर लिखी नृपति की नामाक्षरपंक्ति को पढ़कर शशिप्रभा के हृदय में अनुराग का अक्षुर प्रस्फुटित हो जाता है । यह पूर्वानुराग उसकी हृदय की सरलता और तरलता का संसर्ग पाकर लज्जा की सृष्टि कर देता है, जिससे वह लज्जाशील स्वभाव की प्रतीत होने लगती है । उसकी लज्जा विनय और मर्यादा समुच्च है । वह प्रेम के प्रसंग में कभी भी अनर्थादि तथा निरावरण नहीं होती । उसमें मारतीय नारी का सयम देखा जाता है ।

चित्रप्रतिन्यपि नृपे तत्त्वापेशेन चेतसि ।

व्रीडार्धयलित चक्रे मखे दुमरशैव सा ॥ (६।४२)

नवानुराग की वृद्धि होने पर भी वह मर्यादा का ध्यान रखती है ।

१ कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा

यथा रसमय सर्वमेवेतप्रतिभासते ।

पुनरुत्प्रेक्षयाप्यन्तरामीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेय , यथा कालिदासप्रबन्धेषु ।

(ध्वन्यालोक वृ० उ० पृ० ३११)

वह राजा को देखती भी है तो कनखियों से। “सदाचारपरे” विशेषण भी सम्भवतः कवि ने उसकी इन विशेषताओं को ही देख कर दिया होगा। परिस्थितिवश जय सिन्धुराज उसको अपने समीप आने को कहता है तो हृदय से तो वह चाहती है, पर मर्यादा का ध्यान उसे उस समय भी रहता है।

विरह की अवस्था में उसके प्रेमी हृदय का सच्चा रूप देखने को मिलता है। नारीहृदय का प्रेम, उमंगें और सभी भावुक दशायें उसमें पाई जाती हैं। सिन्धुराज का विरह उसे व्याकुल करता है, उसीका चिन्तन वह करती रहती है। पर हाहाकार नहीं करती। हृदय को जला देने वाले विरहानल की पीडा को वह झेलती है, उसका टिंदोरा नहीं पीटती। इससे उसकी धीरता का पता चलता है। शशिप्रभा के चरित्र में इसीलिए एक और विशेषता भी आ गई है कि कवि ने उसके चरित्र में सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक और नारी-हृदय के चित्रों का रूपरंग भली-भाँति निखारा है। माधुर्य, शोभा, लज्जा, गाढानुराग और अनन्यासक्ति का जो चित्रण शशिप्रभा के व्यक्तित्व में हुआ है, वह मनोवैज्ञानिक है और स्वाभाविक भी।

वह वाक्चातुरी में भी दक्ष है। उसका स्वभाव दयालु है। वह हास-परिहास की प्रकृति वाली भी है। और सबसे बड़ी विशेषता है उसके सत्य प्रेम की। उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शशिप्रभा का चरित्र एक सभ्रान्त भारतीय नारी का चरित्र है, जो आदर्शोन्मुख होता हुआ भी व्यावहारिकता के अति निकट है।

रमाङ्गद

रमाङ्गद चतुर बुद्धि का कार्यकुशल मंत्री है। उसके विचारों में दृढता और कार्यवाहक शक्ति का सम्मिश्रण है। राजा जब कभी भी धैर्यहीन होने लगता है तो रमाङ्गद बड़ी निपुणता के साथ उसे धीरज बँधाता है। वह स्वयं साहसी और वीर है। इसका प्रमाण उसका ब्रज्राकुश के साथ का युद्ध है। वह राजनीति का पंडित है। यह गुण उसका तब प्रकट होता है, जब वह ब्रज्राकुश के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाता है और राजनीति की बातें करता है। रमाङ्गद स्वामिभक्त मंत्री है। इसी प्रकार के कई गुणों की समष्टि का व्यक्तित्व है रमाङ्गद का।

पाटला

पाटला का व्यक्तित्व चतुरता एवं परिहासप्रियता का जीवन्त व्यक्तित्व है। इसका परिचय उस समय मिलता है, जब वह राजा से द्वार मांगते समय यातचीत करती है। वह रूपवती, बुद्धिमती, ‘भंगिभणितदत्त’ और कर्तव्य-

पालन में तत्पर है। वह अपने कार्य में सदैव जागरूक रहती है, और उसे पूर्ण ही कर देती है। उसमें परपीडा कातरता का गुण अधिक है। सच्ची सहेली के लक्षण उसमें विद्यमान हैं। प्रेम की गूढ रीति-नीतियों को वह मली भाँति जानती है। उसमें दूसरों के मनोभावों को ताट लेने की कुशलता है। इसका परिचय तब मिलता है, जब वह रमाङ्गद के एक एक भाव को समझ कर उसका उत्तर देती है। उसकी चतुरता से शशिप्रभा राजा का दर्शन कर सकी है। पाटला के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसका मधुर स्वभाव है।

अन्य सखियाँ

पाटला के अलावा अनङ्गवती, कलावती आदि शशिप्रभा की अन्य सखियों का चरित्र भी उत्तम ढंग का प्रतिपादित किया गया है। वे भी हास-परिहास करनेवाली तथा कलाकौशल निपुण हैं। उनमें आनन्द की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। जिस भाँति शकुन्तला क प्रणय-साफल्य में प्रिय-वदा एवं अनुसूया सहयोगिनी होती हैं, वैसे ही यहाँ भी पाटला आदि सखियाँ शशिप्रभा का साथ देती हैं।

अतः हम यह कहेंगे कि नवसाहसाङ्क के चरित्रों पर भी कालिदास के चरित्रों की छाप पड़ी हुई है। चरित्रों का चित्रण इस काव्य में सुन्दर और स्वामादिक ढंग से हुआ है।

नवसाहसाङ्कचरित की रसयोजना

नवसाहसाङ्कचरित शृ गाररसप्रधान महाकाव्य है। यद्यपि इसमें अन्य रसों का भी समावेश हुआ है, पर वे सब अग्ररूप में ही आये हैं। अग्री शृ गाररस ही है। इस शृ गाररस को यदि हम पदमगुप्त की शृ गारप्रियता का उत्कृष्ट निदर्शन कहें तो यह अत्युक्ति न होगी। किसी भी महाकाव्य में प्रधानभूत रस एक ही माना गया है, वह शृ गार ही या वीर ही। कथा भी ऐतिहासिक या सज्जन पुरुष सम्बन्धी हो। धर्म, श्रय, काम, मोक्ष में से उसका कोई एक इल होना चाहिये।

इन सब बातों क नियम का पालन हम नवसाहसाङ्कचरित में देखते हैं। नवसाहसाङ्कचरित का पुरुषार्थ काम है। क्योंकि सिन्धुराज का जिस प्रकार का पुरुषार्थ यहाँ दिखाना गया है, उसका पर्यवसान शृ गाररस की सिद्धि करके शशिप्रभा के साथ सान्द जीवन यापन में होता है। इसी हेतु अन्य सब गुणों और अन्य रसों की उद्भावना करके भी उसी मूलभान की पुष्टि की गई है। यही इसका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये इस काव्य में नाना

प्रकार की घटनाओं की योजना की गई है, और उनके क्रमिक विकास की समाप्ति भी शृंगारसाधन के हेतु ही हुई है।

जिस प्रकार कालिदास की रसयोजना अपने क्षेत्र में सर्वसुन्दर है, उसी भाँति परिमलपद्मगुप्त की रसयोजना भी अपने ढंग की निराली है। कालिदास का अनुकरण करने पर भी उसमें कवि ने अपना व्यक्तित्व और मौलिकता सुरक्षित रखी है। कालिदास की रसाभिव्यक्ति का वातावरण और ढंग कुछ दूसरा ही है, और इस कवि का कुछ दूसरा। इसके शृंगार में आदर्श की दिव्य सृष्टि है। रतिभाव की सूक्ष्मता को पहचानना परिमल-पद्मगुप्त को भलीभाँति आता था। इसीलिए उनका रसपाक और उसकी योजना औचित्यपूर्ण ढंग से हुई है।

काव्य के प्रारम्भ में ही जब राजा मृगया-विहार को जाता है तो विन्ध्याटवी में उसकी वीरता का परिचय मात्र कराकर कवि सिन्धुराज की ललित प्रकृति का परिचय देने लगता है। उसका सौन्दर्यप्रेम हंसदर्शन और हारदर्शन से ही व्यक्त होने लगता है। शशिप्रभा के हार पाने और उसमें शशिप्रभा का नाम पढ़ने से ही कामभावना अंकुरित होती दिखाई देती है और इसका स्वल्प विकास पाटला के द्वारा शशिप्रभा-रूपवर्णन से होता है। दर्शन से उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को चालना मिलती है। तब विस्मृति, चिन्ता एवं उत्कंठा का प्रादुर्भाव राजा के हृदय में हो जाता है।

धीरे-धीरे जैसे ही जैसे राजा शशिप्रभा के उस हार को निपुणतया देखने लगता है तो उसके हृदय में उत्सुकता बढ़ने लगती है, और दक्षिण-वाहुस्फुरण से शशिप्रभा की प्रत्याशा भी होने लगती है। यहाँ से शृंगाररस के स्थायी भाव का उन्मेष होने लगता है। रतिभाव के उन्मेष तक बड़ी दक्षता से कवि ने संचारी भावों का स्वल्प चित्रण किया। तदनन्तर राज-दर्शन होने पर पाटलाकृत शशिप्रभा-सौन्दर्यवर्णन से रतिभाव को अधिक उन्मेषित किया गया। एक ओर नृपति सिन्धुराज के हृदय में रतिभाव का उन्मेष किया गया है, और दूसरी ओर नृपति के वाण पर नवसाहसिक का नाम लिखा देखकर शशिप्रभा के हृदय में भी अनुराग की भावना जागृत दिखाई गई है। नायक और नायिका में समान रतिभाव को दिखाकर शृंगाररस का औचित्य भी कवि ने व्यक्त किया है। इसी औचित्य के आधार पर रस का परिपाक नैसर्गिक ढंग से सफल बन पड़ा है।

शशिप्रभा की कामावस्था का वर्णन कवि इस रूप में करता है।

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरीवारविन्दस्य मुधासहचरं मधु ॥ (७ । ३४)

अनीयताकुलत्वं सा त्रितयेन तनूदरी ।

विस्मयेनातिसान्द्रेण मदेन मदनेन च ॥ (६ । ३५)

मदन की स्वल्प जाग्रति से ही उसकी स्तनपत्रलता में पुलकोद्गम हो गया, कुचकम्प भी होने लगी । स्वेदसचार, लज्जा, शंका, साध्वस—यह बातें उसकी कामासक्तता का द्योतन करती हुई पुन रतिभाव की परिपोषक बन जाती हैं ।

नय प्रेम नयोत्कठा नवास्ते ते मनोरथा ।

इति तस्यास्तथैवाम्बुदन्तरङ्ग परिच्छद ॥ (६ । ४४)

इसके द्वारा कवि ने रतिभाव का उसी भाँति का उन्मेष शशिप्रभामें भी दिखाया, जिस प्रकार सिंधुराज में रतिपुष्टि का क्रमिक विकास नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दिया गया है । उसमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष की सत्यता के सूक्ष्म रूप से दर्शन होते हैं । राजा के शशिप्रभा को देखने पर और शशिप्रभा के राजदर्शन करने पर दोनों का हृदय रति की पुष्टि के आघार पर बलिष्ठ हो जाता है, क्योंकि 'नवानुराग से वह तन्वी शीघ्र कुछ अर्थ ही सी प्रतीत होने लगी और उसके सुकुमार हृदय पर कामबाण का आघात होने लगा ।' अपने इस कार्य पर उसे लज्जा आती है । पर लज्जा के स्थिर होने पर शृंगार की पुष्टि नहीं हो सकती । इस सत्य को सामने रखकर लज्जा निराकरण की बात सखी द्वारा कही गई, 'कुतो लज्जा तवालिपु', इतना ही नहीं, रति की उद्दीप्ति भी होना अतिवार्य था, अतः प्रकृति का उद्दीपन रूप भी सामने रखा गया है । आम्रमञ्जरियों का उद्गम, कोकिला की कलध्वनि, अशोकवृक्ष का दोहद, तिलक, सिंधुवार आदि पुष्पवृक्षों का पुष्पित होना आदि प्रकृति के उद्दीपन सौंदर्य की उद्भावना द्वारा शशिप्रभा के नवानुराग को उद्दीप्त किया गया है । इसी प्रकार शशिप्रभा की नृपप्रत्याशा को भी उसकी सखी माल्यवती द्वारा बल दिया गया है

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥ (६ । ६४)

इस प्रकार भावों का क्रमिक विकास करके उन्हें रतिपुष्टि में सहायक करने में पद्मगुप्त ने अतिसूक्ष्म भावमर्मज्ञता का परिचय दिया है ।

जिस प्रकार शशिप्रभा का हार धारण करने से राजा की कामभावना की वृद्धि हुई, उसी भाँति 'नुपारपाण्डुना तेन ववृधेस्या मनोभय' के द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया कि शशिप्रभा ने भी जब राजा के हार को धारण किया तो वह भी कामासक्त हो गई ।

शशिप्रभा के दर्शन पर रही-सही कमी को रमांगद ने उसके रूप-वर्णन से

पूर्ण कर दिया। शशिप्रभा के नख-शिख-वर्णन ने राजा को उसके प्रति अति आसक्त बनाकर उसके प्रति रति की वृद्धि कर दी। अभी रतिभाव की वृद्धि अन्तर्द्वन्द्व में ही हो रही है। इसके पश्चात् उसमें और अधिक तीव्रता आती है। मनोरागों की प्रवृत्तता से वह परिपुष्ट होती दिखाई देती है। लज्जा और नृपालोकन-क्रीतूहल ने शशिप्रभा की रति को और अधिक विकसित कर दिया और राजा के लिये शशिप्रभा के रूप का “चिरं पपौ स स्तिमितेन चक्षुषा” कहकर उसकी एक झलक भी दिखा दी।

इस प्रकार धीरे-धीरे रतिभाव की जागृति और पुष्टि कराकर पद्मगुप्त ने राजा की ललित वृत्ति का समुचित परिचय दिया। पर इतने से ही तो रतिभाव स्थायीभाव की कोटि में नहीं आ सकता। अतः पद्मगुप्त उसको स्थायी रूप देने के लिये और विशेष विधान भी बनाता है। रतिभाव की जब सबल पुष्टि होने लगती है, तब धैर्य की ग्रन्थि का शिथिल होना भी नैसर्गिक ही है। इसलिये कवि ने कहा है कि उसके सरस मानस में उस राजहंस ने प्रवेश किया, प्रवृष्टि होते ही उसने शशिप्रभा की धीरता को मृणालिनी की भाँति तोड़ डाला। फिर भी कवि को अभी पूर्ण रतिभाव की पुष्टि नहीं दिखाई देती। अभी तो वह उनके परस्पर अनुराग का एक-दूसरे से परिचय कराने में ही तत्पर है : ‘जब शशिप्रभा और राजा ने परस्पर एक-दूसरे को देखा तो उन दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति अनुराग को परि-लक्षित करा दिया।’

अत्रापदन्योन्यनिवद्धभावयोस्तयोः प्ररोहं हृदि वालमन्मथः । (७।४३)

जब नृपति की बोलने की इच्छा जागृत हुई, उसने शशिप्रभा से नाना प्रकार के प्रश्न किये, पर शशिप्रभा ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। बदले में माल्यवती ने ही उत्तर दिया। यहाँ पर भी यदि स्वयं शशिप्रभा उत्तर दे देती तो रतिभाव की पुष्टि न हो सकती। इस प्रकार की सूक्ष्म बातों पर भी कवि ने जागन्क होकर दृष्टि रखी है। क्योंकि रसबन्धतत्पर होने के कारण कवि को इतना सूक्ष्म ध्यान रहा है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो उसकी इच्छा से उसके अभीष्ट अंगी रस का अंग न बन जाय। अथवा उसके अभिमत रस का अंग बनकर रसत्वातिशय को पुष्ट न करे। यह बात हमें पद्मगुप्त के काव्य में भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है कि इस कवि ने अपने अभिमत शृंगाररस को घोषित करने के लिये नैसर्गिक भावों के क्रमिक विकास का ध्यान रखा। प्रबन्ध के लिये यह एक और विशेषता

है कि बीच बीच में रस का उद्दीपन और प्रशमन कराना और रसोचित्य का ध्यान रखना, क्योंकि रसोचित्य का भंग होने से काव्य में भारी दोष आ जाता है। पद्मगुप्त को इन बातों का पूर्ण ज्ञान था। जो उसकी काव्यमर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय देता है।

“भ्रता गुणाद्यस्य बृहत्कथा तव” कहकर गुणध्वज से लेकर और दर्शन तक अनुराग की अभिव्यक्ति कराकर कवि ने “अतो वरोऽय युवयो समागम” कहकर एक प्रकार से रतिभाव का चरम सा दिखाना चाहा और “रघुद्वहस्यावनिक्कयका यथा तथा तयेयं विधिनोपपादिता” एवं “किमयदस्या कृतपाणिपीडनम् पद निघत्से गृहमेधिना घुरि” कहकर भी समागम की पूर्ण भावना प्रगट कर दी। इसके कुछ ही क्षण पश्चात् रतिभाव को उद्दीप्त करने के लिये और उसको पुष्ट करने के लिये भयकर मेघों का नभ में छा जाना, आधी का उटना, शशिप्रभा का अपनी सखियों के साथ विलुप्त होना आदि घटनाओं की युक्तिसंगत योजना करके कवि ने शृंगार को विप्रलम्भ का रूप दे दिया। यह भी शास्त्रमर्यादा और लौकिक व्यवहार कवि-अनुभूति का ही परिचायक है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो प्रधान कथावस्तु समाप्त हो जाती, और रस केवल भावरूप में ही रह जाता, इसलिये कवि ने विप्रलम्भ की योजना की। और ही उचित यही। जैसे कि कहा गया है, “न विना विप्रलम्भेण शृंगार पुष्टिमश्नुते”। अतः विप्रलम्भ की योजना के द्वारा ही पुनः रतिभाव की पुष्टि करायी गयी है।

शशिप्रभा जन राधा के सामने ही आधी में कहीं विलीन हो जाती है, तब राधा खिन्न होकर विरहकातर हो जाता है। और फिर शशिप्रभा के अन्वेषण का प्रयत्न करने लगता है। इसके लिये उसे अद्भुत साहस के कार्य करने पड़ते हैं। नर्मदा की सहायता से वह पाताललोक में प्रवेश करता है। यहाँ उसे सूचना मिलती ही है, पर शशिप्रभा का दर्शन नहीं होता। अतः उग्रता, चिन्ता, दैन्य संचारीभाव और वर्णाविवर्तनादि अनुभावों का उदय होता है। शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा है कि वज्राकुश को मार कर जो उसकी बावड़ी से हेमकमल लायेगा, वही शशिप्रभा का वरण करेगा। यह सुनकर नृपति उस कमल को लाने का साहस करता है। इस साहस में रमागद, बकुमुनि और नर्मदा आदि उसे सहायक देते हैं। बीच में अद्भुत-रस की योजना भी शापमातृ प्राणियों द्वारा की गई है। वे भी नृपतिदर्शन से शापमुक्त होकर उसके साहसकार्य में सहायक होते हैं। वज्राकुश के साथ नृपति का युद्ध होता है। इस स्थल पर वीररस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। युद्ध के पूर्व

सिन्धुराज का विरह-वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शशिप्रभा का विरह भी मनोवैज्ञानिक है :

विस्रस्तमाल्या श्लथबन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कत्ररीं वहन्ती ।
कलिन्दकन्यामस्तृणोर्मिनीलां निस्त्रिशलेखामिव मन्मथस्य ॥ (६।१५)
मुखं निशाघ्रातमिवारविन्दं विपादवीतप्रभमुद्वहन्ती ।
विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥ (६।१६)

श्रौर :

त्वदीयविश्लेषमवाप्य वाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिवृत्तेव ।
भवादृशामेकपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो हुनोति ॥ (६।२३)

कहकर कवि ने शशिप्रभा की वियोगावस्था को व्यक्त किया। इसी भाँति राजा का शशिप्रभा के प्रति व्याकुल होना, स्वप्न देखना, सन्देश भेजना आदि में भी मनोदशा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। बीच-बीच में उत्साही वातावरण की सृष्टि भी की गई है। फिर विलाप की चर्चा यों की गई है :

सरले सह वारिजश्रिया निभृतं कापि गतः स भास्करः ।
वद तेन विनाऽञ्जनी कथं क्षणदामद्य नताङ्गि नेष्यति ॥
(१२।३४ तथा ८।१२)

सारी मनोव्यथा की अभिव्यक्ति तो इतने से ही हो गई :

शिरीपादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
एष क्व च कुकूलान्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ (१६।२८)
तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपद्मजम् ।
अनंगविधुता यावदियं श्वसिति नः सखी ॥ (१६।४६)

इस संदेश के द्वारा पुनः राजा के उत्साह को उद्दीप्त करके चिन्तादि भावों का प्रशमन करा दिया गया है, और राजा से कहलाया गया है :

यथा सखी वः किमपि प्रपन्ना विधुरां दशाम् ।
तथा त्वमपि मामेवं पाटले किं न पश्यसि ॥ (१६।४८)
तद्गच्छ तां शशिमुखीमाश्वासयितुमर्हसि ।
वयमेते च हंमाञ्जमानेतुं प्रयतामहे ॥ (१६।४९)
तथा कार्यं न बन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः ।
वक्तव्या माल्यवत्येवं मद्गिरा वल्गुवादिनि ॥ (१६।५०)

इस प्रकार पुनः राजा एक बार अपनी कातरता को दूर कर वज्रांकुश पर

आक्रमण करने चलता है, और पूर्ण पराक्रम के साथ उसको जीत कर शशि-प्रभा के पिता की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर शशिप्रभा को प्राप्त करता है ।

वीर और अद्भुत रसों का समावेश करने के कारण शृ गार की मली-भांति पुष्टि हुई है । रति को स्थायीभाव का रूप देने के लिये विभिन्न रूपों, भावों का उदय और शान्ति दिखाई गई और पुनः शृ गार की पुष्टि की गई । समस्त काव्य का अध्ययन करने पर पहले यह विदित होता है कि जितने भी भाव रति के पोषक हो सकते हैं, वे पृथक् पृथक् रूप में दिखाये गये हैं । और अन्त में उन सब की समाप्ति से शृ गाररस की पुष्टि की गई है ।

नवसाहस्राक्षचरित के शृ गाररस की पूर्ण पुष्टि के लिये जो कुछ विवेचन किया जाता है, उससे यह मली-भांति विदित हो जाता है कि इस कवि का रस पर पूर्ण अधिकार था । वह स्वयं इस प्रकार के व्यक्तित्व का था, जिसके कारण वह अपनी अभिमत रस निष्पत्ति में सफल हो सका ।

शृ गाररसोपयोगी वर्णन करने में तो इस कवि को पूर्ण दक्षता प्राप्त है । जहाँ पर जिस प्रकार के भावों की स्थिति होती है, वहाँ पर उसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है । आवेश की द्योतना के लिये समस्त शैली और कर्मशवर्णविद्यास भी किया गया है । जिसका उल्लेख हमने शैली विचार में किया है ।

शृ गार के जितने भेदोपभेद हो सकते हैं, उन सबका समावेश इसमें है । विभाव, अनुभाव एवं सचारी भावों का समुचित औचित्य इस काव्य के शृ गाररसवर्णन में किया गया है । इसीलिये “प्रसिद्ध औचित्यवचस्तु रसस्योपनि-षद् परा” की उक्ति इसमें पूर्ण चरितार्थ होती हुई लक्षित होती है । ऐतिहासिक कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण करना भी न्यामिव्यक्ति की पुष्टि करता है । कहीं भी अत्युक्तिवृत्त दोष नहीं आने पाया है । ध्युत्पन्नमति पद्मगुप्त की यह रसयोजना पूर्ण विशुद्ध प्रतीत होती है ।

रसौचित्य के लिए अलंकारों के यथेष्ट और औचित्यपूर्ण प्रयोग पर भी कवि की पूर्ण दृष्टि रही है । इसका विवेचन हम अलंकार-योजना वाले प्रकरण में करेंगे ।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि परिमलपद्मगुप्त रससिद्ध कवि था । उसकी वृत्ति नवसाहस्राक्षचरित रस की सफलामिव्यक्ति है ।

नवसाहस्राक्षचरित की अलंकारयोजना

नवसाहस्राक्षचरित की अलंकारयोजना वस्तुतः महाकवियों की अलंकार-योजना है । महाकवियों की इस प्रकार की योजना की विशेषता एवं विचित्रता

उसकी औचित्यपूर्ण योजना में ही है। इस औचित्य का निर्वाह जो कवि जितनी प्रतिभासम्पन्नता से एवं मार्मिक सूक्ष्म दृष्टि से कर सकता है, उसका काव्य उतना ही महत्त्वपूर्ण, स्पृहणीय और उपादेय होता है। जिस भाँति किसी रमणी का आभूषणविन्यास यदि अस्तव्यस्त हो या उपयुक्त स्थलों पर न हो तो उसके वे आभूषण भी सौन्दर्य के दूषण बन जाते हैं, एवं उसके प्रति जो चित्ताकृष्टि का भाव रहता है, वह भी न्यून हो जाता है, ठीक यही बात कविता के विषय में भी कही जा सकती है। काव्य में कवि यदि अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल पर औचित्यपूर्ण अलंकार-योजना नहीं कर सकता तो उसका काव्य भी मनोहारी नहीं हो सकता। अपने काव्य में औचित्य का विधान करने के लिये कवि को जागरूक रहना पड़ता है। जिस समय वह कविता का निर्माण करता है, उस समय इस बात का ध्यान रखता है कि कविता में किस-किस अलंकार को लाने की चेष्टा कर रहा है। यह तो उसकी प्रतिभा और सूक्ष्मभावाभिनिवेश का फल होता है। और तब वह चारुत्वोत्कर्ष के लिये सबल और आकर्षक उपमानों की चिन्तना भर कर लेता है। क्योंकि काव्यनिर्माण के समय “चिन्तयत्यर्थजातं” पर ही उसका ध्यान रहता है। और जब वह गहन अर्थजात की चिन्ता में मग्न हो जाता है तो उस समय उसका सारा ध्यान काव्य को समुचित ढंग से व्यक्त करने में केन्द्रीभूत हो जाता है। ऐसी स्थिति में काव्य के उपकारक जितने भी उपादेय तत्त्व होते हैं, उनका वह समुचित उपयोग कर लेता है। यह तत्त्व उसकी प्रतिभा में अहम्पूर्विकया अवभासित होने लगते हैं। तब उसका कार्य केवल इतना ही रहता है कि वह अपनी प्रतिभा और सहृदयता के बल पर काव्यात्मा की सौन्दर्याभिव्यक्ति के अंगभूत अनेक उपादानों को उचित रूप में सुनियोजित कर देता है। इस सुयोजना के कारण ही उसकी कृति चित्त-विमोहक बन कर उद्देश्यपूर्ति में पूर्ण सहायक हो जाती है।

कवि के औचित्य का ध्यान ही महाकाव्य के सफल निर्माण में सहायक होता है। जो कवि जितना ही सरस, सहृदय और चिन्तनशील मस्तिष्क का होता है, वह उतनी ही सफलता के साथ इन सब की योजना को सुगमता से घटित कर सकता है। हम देखते हैं कि परिमल पद्मगुण के पूर्ववर्ती कवियों ने अलंकारयोजना की विशेषता पर जिस प्रकार ध्यान रखा है, यहाँ कवि ने भी उसका सर्वत्र निर्वाह किया। कवि की स्पष्ट उक्ति है :

न चिराद्भ्रतुविविज्ञेपविद्विस्वयुऽतिपेशलाः ।

लक्ष्यनवनवरसाः शुचयः कविपुद्गवोक्तय इवाङ्गना वसुः ॥

वस्तुतः वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों की कृतियों में यह विशेषता पूर्ण रूप से पाई जाती है। इन कवियों ने श्रौचित्य पर सदैव पूर्ण दृष्टि रखी है। काव्य में अलंकार भी एक उपादेय तत्त्व है। उसका प्रयोग इन कवियों ने किस प्रकार किया, इसका निदर्शन उनका श्रौचित्य-चिन्तन है।

मा निपाद् प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।

यत्कौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

इस स्थल पर विद्याद और कौञ्चमिथुन में जो सौन्दर्य का औचित्य है, वह तो है ही, पर इस से भी अधिक औचित्य अलंकार की विशेषता का है। जिसके द्वारा यह ध्वनिकाव्य माना जाता है। महर्षि वाल्मीकि महाकवि माने जाते हैं। अलंकार की समुचित योजना महाकवि वाल्मीकि के शरद्वर्णन में देखिये

तरंगसगान्चपलै पलाशै वृत्ता श्रिय सातिशया दधन्ति ।

सधूमवीप्ताग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलपद्पदानि ॥

श्रीर

निशातुपारिर्नयनाम्बुक्लपै पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दु ।

उपारुरोहेव नदत्पनङ्गै कुमुद्वतीवीरतरदिनादौ ॥

इन श्लोकों में उत्प्रेक्षागत जो सौन्दर्य है, वह अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक, और जीवन्त है। कुमुद्वती के मुरझाने पर तीरतक का आँसू बहाकर रोना प्रकृति की प्राणवती के रूप में उपस्थित करना ही है।

इसी भाँति कालिदास ने भी अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। उसमें रसभावाँ की सफल योजना हुई है। विशेषकर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो कहना ही क्या है

ता जानीथा परिमितकथाजीवित मे द्वितीयम् ।

दूरीभूते मम सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्

गाढोत्कण्ठा गुरुपु दिवसेष्वेषु गच्छतसु धाला

जाता मये शिरिरमयिता पद्मिनी वान्यरूपाम् ॥

हे मेघ, विरहचिन्ता के कारण मौन धारण करनेवाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही समझो, जो मुझसे बिछुड़ कर अपने सहचर से बिछुड़ी चक्रवी की भाँति विरह की मूक वेदना सह रही होगी। वियोग के इन लम्बे लम्बे प्रतीत होने वाले दिनों में उसकी उत्पत्ता बढ़ रही होगी। जैसे जैसे दिन बीत रहे हैं, वैसे ही वैसे उसकी दशा उस कमलिनी के समान हो गई होगी, जो पाला पड़ने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।

इस स्थल पर कालिदास ने उपमा अलंकार की सफल योजना की है, विरहवियुक्त चक्रवाकी की दशा की अनुभूति बड़ी ही तीव्र वेदनामय अनुभूति है। चक्रवी (उपमान) की सभी दशाओं का यत्किणी (उपमेय) में समावेश करके विरह की उत्कंठा और असहनीयता वी सूचना कवि ने दी है। इस प्रकार की उचित योजनाओं पर ही कालिदास के लिये कहा गया है : “उपमा कालिदासस्य”, इतना ही नहीं, यहाँ पर एक सबसे बड़ी विशेषता जो है, वह अलंकार की नातिनिर्वहणीयता अर्थात् अलंकार-विस्तार का त्याग और नवीन अलंकार का ग्रहण। पूर्व की पंक्तियों में चक्रवा को कहकर भी कवि ने उपमालंकार की शान्ति कर दी और पुनः “जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्” में उत्प्रेक्षा दिखा कर शिशिरमथिता कमलिनी के रूप में वियोग की असहनीयता का पूर्ण परिचय दे दिया है। विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति सुन्दर रूप से निखर पड़ी है।

नवसाहस्राङ्कचरित में विभिन्न अलंकारों की समुचित योजना उपलब्ध है, जो रस के चारुत्वोत्कर्ष के लिये ही पर्याप्त है, उसमें से कतिपय अलंकारों का दिग्दर्शन यहाँ कराते हैं।

नवसाहस्राङ्कचरित में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, संदेह, प्रतीप आदि अलंकारों की योजना अत्यन्त औचित्यपूर्ण ढंग से की गई है। और प्रबन्धकाव्य की सफलता को दृष्टि में रखते हुए इन्हीं अलंकारों को अधिक रूप में ब्राह्मण समझकर उनका औचित्यपूर्ण निर्वाह भी किया गया है।

अपाङ्गसंवर्धितशोणाकान्तिना सुकृष्णतारेण तुपारपाण्डुना ।

इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिमित्तेनेव चकास्ति चक्षुषा ॥

(७।१६)

प्रखत छंद में कवि ने नेत्रों में श्याम, श्वेत और रक्त वर्ण की जो कल्पना की है, वह रसाविर्भाव की अभिव्यक्ति के लिये अति उपयुक्त है, और विचारों की पुष्टि के लिये उसकी समुचित योजना हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह योजना चित्रण में मनोहारिता उत्पन्न करके सौन्दर्योत्तिशय की वृद्धि के साथ-साथ शृंगारप्रियता की द्योतिका भी हो गई है। पद्मगुप्त कवि की अलंकार-योजना उत्कृष्ट है, जो अपना स्वतन्त्र अलग अस्तित्व रखते हुए भी रसपोषक है। वातावरण के चित्रण द्वारा चित्त को रस की ओर आकृष्ट करने के लिये उत्प्रेक्षा का सहारा लिया गया है :

तदीयनामाङ्गलिपि शनैः शनैः सलीलमावर्तयितुं प्रचक्रमे ।

परिम्फुरत्पल्लवपाटलाधरो रहस्यचिद्यामिव मन्मथस्य सः ॥

(४।५)

“धीरे धीरे वह राजा ‘शशिप्रभा’ इस नाम की अक्षरपक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह पढ़कते हुए अक्षरपल्लवों से काम की उपनिषद् का अभ्यास कर रहा हो।” यहाँ पर नामाकलिपि रूप उपमान का काम की रहस्यविद्या रूप उपमेय के उरुष्ट रूप में ग्रहण कर अभिलाषाहेतुजन्य विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्याक्त की गई है। शशिप्रभा को देखकर राजा कामासक्त हो गया और कामास्थान में जितनी चिन्तनपरम्परायें चलती हैं, उन सब ने राजा को घेर लिया। ये भाव काम की उपनिषद् शब्द के अध्ययन द्वारा ही व्यक्त होते हैं। तत्त्वज्ञ सद्दय इस बात को शीघ्र ज्ञान लेते हैं। यह उत्प्रेक्षा की श्रौचित्ययोजना का ही प्रभाव है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिहलथेयं कवरी नियम्यते ।

उदस्तभाम्बत्करका तथा श्रिया दिनस्य ताराशजलेव शर्वरी ॥

(४१२)

अपने सुन्दर हाथों को ऊपर उठाकर पाटला अपनी पुष्पमण्डित केशराशि को इस भाँति सँभाल रही है, मानो दिनश्री सन्ध्या अपने प्रभावपूर्ण ऊपर उठे हुए किरण कर से ताराशकल रात्रिरूपी केशराशि को सजा रही हो। यहाँ रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षा का समुचित समावेश विशिष्ट सौन्दर्य का द्योतक बन गया है, और उस सौन्दर्य के कारण राजा की शृंगारिक चेतना भी अतिनिपुणता से निर्माई गई है। इसमें भी उपमान और उपमेय के एक दूसरे के सौन्दर्य से एक दूसरे की चारुता की वृद्धि की गई है।

पुन पुन पट्पदराजिमेचका तदिन्द्रनीलाक्षरपक्तिमैक्षत ।

स तन्क्षणा मन्मथजातवेदस तनीयसी धूमलतामिवोद्गताम् ॥

(४१३)

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा के द्वारा जो चमत्कार आया है, वह सहज सौन्दर्य से युक्त है, और उत्प्रेक्षा के द्वारा ही कामभावना की उद्दीप्ति से, जिसमें धूमलता सी उद्गत आशा की धुधली रेखा भी उदित हो रही है, अनुराग की पुष्टि का द्योतन किया गया है। यह पुष्टि पूर्वानुरागजन्य कामासक्ति की पूर्वाशा है। यहाँ पर अलंकार की उचित, सफल योजना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

विलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्नेदलवाङ्कितस्तनी ।

तत सुजातस्तत्रकास्तमौक्तिका लतेव मा हेममयी व्यकम्पत ॥

(७१७)

रसनिबन्ध में अत्यन्त तत्पर पद्मगुप्त ने यहाँ पर स्वेद, रोमाञ्च, रतम्म

आदि संचारी भावों की सूचना देकर उत्प्रेक्षा के द्वारा उसे रसपरक बना दिया है। जातस्तवका हेमलता का स्वेदलवाङ्कितस्तनी के साथ जो साम्य किया गया है, उसमें कवि की उत्प्रेक्षा की योजना श्रौचित्यपूर्ण हुई है।

विलोकयास्याः चित्तिपाल विभ्रतीं प्रदीपशोभां कवरीं निशामुखे ।

अभी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेर्मरीचयः ॥

(७१४)

यहाँ पर भी उत्प्रेक्षा के औचित्य से उद्भूत नायिका का सौन्दर्य निशा-सौन्दर्य के साथ उत्तमता से संयुक्त किया गया है। इस प्रकार एक-दो नहीं, पर्याप्त उदाहरण उत्प्रेक्षा के ऐसे हैं, जिनके औचित्य का निर्वाह सूक्ष्म बुद्धि के आधार पर किया गया है। इसी श्रौचित्यसन्निवेश के कारण इस महाकवि के काव्य में मधुरता और रोचकता आ गई है। रसभावौचित्य के दृष्टिकोण से उत्प्रेक्षाओं का सफल प्रयोग पद्मगुप्त ने किया है, जिसके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि “उत्प्रेक्षा पद्मगुप्तस्य सर्वभावेन राजते।”

इस कवि की अलंकारयोजना में यह बात भी वीक्षण्य है कि शाश्वत काव्य-निर्माण-चिन्तनशील इस कवि के नवसाहस्राङ्कचरित में आलंकारिक क्लेशसाध्यता का सर्वथा अभाव है। अलंकारयोजना की दूसरी विशेषता अक्लेशसाध्यता पद्मगुप्त की अलंकार-योजना के प्रति सहसा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। सर्वत्र अक्लेशसाध्यता अलंकारों में देखी जाती है।

निचुलवनमतीत्य वर्ततेऽयं पुरत इमामयमञ्जिनीमुपेतः ।

नवजलधरशङ्खयेव शङ्के तरुणतमालवनादितो निवृत्तः ॥ (३१३)

वन में जब हंस चल रहा है, तब रमांगद राजा से कहता है—‘यह हंस चेतस वन को पार करके सामने वाली कमलिनी के पास पहुँच गया है, मैं सोचता हूँ, इसने नयी तमालवीथि को इसलिये छोड़ दिया कि मानो वह नवजलधरमाला हो।’ यहाँ पर तमालवीथि को नवजलधरमाला समझकर हंस का उधर से भाग जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि वर्षों में हंस मानसरो-वर चले जाते हैं। यह स्वाभाविकता केवल उत्प्रेक्षा के द्वारा ही यहाँ पर आई है। परन्तु इसके लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा, और न क्लिष्ट कल्पना ही हुई। दूसरी बात, यहाँ पर तरुणतमाल को नवजलधर समझने में भ्रान्ति भी है। पर वह उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत उस प्रकार समा गई है कि उसका पता विलम्ब से चलता है। यह उत्प्रेक्षा की अक्लेशसाध्यता का ही फल है, जिसने भ्रान्ति के सौन्दर्य की भी रक्षा की और स्वयं के महत्त्व को भी बढ़ा दिया।

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लोनभ्रमरोदराणि ।
विद्याधरीभिन्नमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥

(१४/३५)

यहाँ पर विकसित सभ्रमर पुष्पों में जो विशाल नेत्रों की उत्प्रेक्षा की गई है, वह भी सरल, स्वामाविक रूप से की गई है ।

सत्पुष्करोत्थोत्तरङ्गशोभिन्वयमन्दमारब्धमृदगवाद्ये ।

उद्यानवापीपयसीव यस्याम् एषीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१५/४)

मृगलोचनाएँ नाट्यगृहों में मानो उसी भाँति रमण कर रही हैं, जैसे उद्यानवापीपय में—इतना कहकर उपमान-उपमेय के धर्मों की कल्पना साधारण रूप पर स्वामाविक ढंग से की गई है ।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त ने अपने काव्य में अक्षिप्तसाध्य अलंकार-योजना की है । इस प्रकार क उदाहरणों से यह ग्रथ भरा पड़ा है । तीसरी विशेषता इसकी अलंकार-योजना की नाति निर्वहणैषिता है । इस कवि ने स्वतन्त्र होकर नातिनिर्वहणैषिता का पूर्ण ध्यान रखा है, जिसके कारण इस काव्य में अलंकारयोजना उत्तम कोटि की हो गई है और रसपोषक रूप में उसकी उत्कर्षकता बढ़ गई है ।

मनोदरे कामिजनस्य यम्या नीरन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धे ।

सचन्दने काञ्चनकेलिशैले कुचैरिवोद्यानमुषो विभान्ति ॥

(१५/१)

इस छन्द के प्रारम्भ में उत्प्रेक्षा के आधार पर उत्प्रेक्षिनी की उद्यान-भूमियों का सौन्दर्य-वर्णन और चित्ताकर्षकता दिव्याद गई है, और फिर उसकी पुष्टि के लिये उपमा का आश्रय लिया गया है । क्योंकि उन्नत पयोधरों का कथन करके ही उन्नत काटि क शैलों के साथ सम्बन्ध बैठ सकता था और 'सचन्दने' कहकर तद्रूपता का निर्वाह भी किया गया है । यदि यहाँ पर आदि से अन्त तक उत्प्रेक्षा का ही निर्वाह किया होता तो उपमा द्वारा जो विशिष्ट सौन्दर्य भलक रहा है और उससे जो चमत्कार आया है, वह न आने पाता ।

दोश्चन्दनानोकहमाप्य यम्य समुल्लसत्सा-द्रयशी प्रसूना ।

गताविवृद्धि लवलीलतेव निघट्टमूला परमारलक्ष्मी ॥ (१७/७)

इस स्थान पर रूपक और उपमा दो अलंकार हैं । यश प्रसूना में रूपक है, निघट्टमूला लवलीलतेव में उपमा है, और दोश्चन्दनानोकह में भी रूपक है । किन्तु यहाँ पर जोर लक्ष्मी और लवलीलता की बद्धमूलता पर ही

देना था, अतः रूपक की अपेक्षा उपमा पर विशेष ध्यान दिया गया । यदि यहाँ पर रूपक का चमत्कार प्रदर्शित कराया गया होता तो उसके चमत्कार में हम परमारलक्ष्मी को भूल जाते और कवि के उद्देश्य की सफल सिद्धि न हो पाती, पर यह अलंकारों की नातिनिर्वहणैषिता के ही निर्वाह का फल है, जिसके कारण स्वाभिप्राय की अभिव्यक्ति में कवि को सफलता मिली है । नातिनिर्वहणैषिता के सिद्धांत का भी इस काव्य में पालन हुआ है, जो पद्मगुप्त की चातुरी का द्योतक है । अपनी इस चातुरी का परिचय कवि ने ग्रन्थारम्भ में ही दिया है :

अव्यान् स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिष्यस्मरचापलीलाम् ।

जटापिनद्धोरगराजरदनमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः ॥ (१११)

यहाँ पर उरगराजरत्न में अनुप्रास की छटा देखने को मिलती है, जिसे देखने पर यह आभास होता है कि आगे भी कुछ इसी प्रकार की रचना होगी, पर सहसा इस धारणा को हम बदलते पाते हैं । मरीचिलीढोभयकोटि कहकर कवि ने अनुप्रासात्मकता को त्याग दिया । विषय की बलवती धारणा के कारण ऐसा हुआ ।

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।

श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे वाणमयूरयोः ॥ (२१६)

यहाँ पर भी दो अलंकार—उपमा और श्लेष हैं । इनमें से यदि एक पर ही ध्यान रहता या एक का त्याग कर दिया गया होता तो अभिप्राय-कथन का उद्देश्य पूर्ण न हो पाता । चित्रवर्णविच्छित्तिहारी वाण और मयूर कवि तथा वाण और मोर में श्लेष करना था तो फिर जब तक राजा को श्रीहर्ष के समान प्रतिपादित न किया जाता, तब तक अर्थ की स्फुटता न हो पाती और वाण-मयूर की भाँति वाण-मयूर का संगठन किया गया है, यह बात स्पष्ट ही न हो पाती । अतः श्लेषार्थ की सुन्दरता के लिए उपमा का आश्रय लिया गया है, जिसके ग्रहण से भाव में उत्कर्ष आ गया है, और वह सर्वबोधगम्य हो गया है ।

“उस राजा ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी, वाणपक्ष में अचूक होने वाली और प्राणहरण में समर्थ, मयूरपक्ष में रंग-विरंगे पक्षों वाले और मनोहर—वाण और मोर का ऐसा सुन्दर अद्भुत संयोग उपस्थित कर डाला, जैसा कि श्रीहर्षवर्द्धन ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी—हारी अर्थात् वर्ण-सौन्दर्य से पूर्ण रसकाव्यनिर्माता महाकवि वाण और मयूर (कवि) का अपनी सभा में संयोग उपस्थित किया था ।” यह अर्थ उपमा के बल पर ही निकलता है ।

यह है कवि की नीतिनिर्वहणैषिता ।

जिन तीन विशेषताओं के सम्बन्ध में हमने अब तक चर्चा की, वे केवल उत्प्रेक्षा में दिखाई गई हैं । अब उपमादि में भी उनका औचित्य देखिये ।

यद्यपि लोग उपमा कालिदासस्य कहते हैं और बात ठीक भी है, तथापि परिमलपद्मगुप्त की उपमाएँ भी औचित्य की विविध दृष्टियों से देखी जा सकती हैं ।

रूपमान्वाद्यामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरीवारविन्दस्य मुधासहचरं मधु ॥ (६३४)

चित्रलिखित उस राजा की रूपमुधा का पान यह शशिप्रभा उसी मूर्ति करने लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृतोपम मधु का पान करती है ।

भ्रमरी का मधुप्रिय होना प्रसिद्ध ही है और उसी के साथ शशिप्रभा को भी उपमित किया गया है । शशिप्रभा को भ्रमरी और रूपमुधा को मधु कहकर कवि ने उपमान और उपमेय में एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया । इस आकर्षण के द्वारा पूर्वानुराग की पुष्टि की गई है । औचित्यविधान का यह फल है । रसानुस्पता का त्याग कहीं नहीं होने पाया है ।

अरालकेशीयमनेन भाति ते

शरेण कार्तस्यरपुद्गशोभिना ।

निसर्गगौरेण नरेन्द्ररश्मिना

सकञ्जला दीपशिखेव शार्बरी ॥ (७१६)

इस श्लोक में अरालकेशी के साथ सकञ्जला और इक्षु के साथ शार्बरी दीपशिखा का औचित्य सौ-दर्पातिशय को द्योतित करके दीपशिखा की उद्योगिता और शशिप्रभा के व्यक्तित्व का आभास दिलाकर अनुराग की पुष्टि में सहायक हो रहा है । “निसर्गगौरेण” में वास्तविक नैसर्गिकता देखने को मिलती है ।

यथा शिखेय दीपस्य मुग्धा दग्धदशाभ्रया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपते ॥ (१६३७)

कामवायु ने चञ्जला शशिप्रभा का जलती हुई चर्तिका वाली दीपशिखा के चाञ्चल्य के साथ साम्य अधिक चित्ताकर्षक हो गया है । दोनों की दशाओं की अभिव्यञ्जना औचित्य के द्वारा ही हो सकती है । यह उदाहरण लोकानुभूति के आधार पर दिया गया है, जिसमें स्वाभाविकता का पुट विद्यमान है ।

कारितासनपरिमहे पुरो भूपतामपचितिं विनाय सा ।

आस्त मौक्तिकशिलातले ततश्चेतसीव मुकुवे सरस्वती ॥ (८१७६)

और

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहत् ।

स्वाद्गुनिर्मलरसोमिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ (८१४)

इन स्थलों पर समस्त रूप से उपमा का जो औचित्य एवं निर्वाह है, वह कवि की अलंकार-योजना का उत्कृष्ट परिचायक है। यह महाकवि की मसृण भारती का ही प्रसाद है।

ततः स चेतस्यवनीपतेर्दधे

शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।

उपोढरागामुद्धिस्तटोदरे

नवोद्गतां विद्रुमकन्दलीमिव ॥ (४११)

इत्यादि स्थलों पर भी उपमा का सहजात सौन्दर्य उसके औचित्य के सन्निवेश के कारण ही उत्तम वर्णित किया गया है। इस प्रकार की उपमाओं के लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा। क्योंकि अपनी नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति के बल पर ही कवि अवलेशसाध्यता के रूप में उपमा के प्रभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा वस्तुसौन्दर्य का प्रतिपादन कर सका है। १३० ऐसी उपमायें नवसाहस्राब्दचरित में हैं, जो अलंकार-योजना की दृष्टि से औचित्यसमन्वित हैं।

इसी भाँति रूपक अलंकार की योजना में भी औचित्य, अवलेशसाध्यता और नातिनिर्वहणैषिता का समावेश युक्तियुक्त विदित होता है। “रूपकादिः समीक्ष्य विनिवेशितः” की बात पूर्ण रूप से घटित हो जाती है।

तदीयमुद्गामरसोमिनिर्भरम्

स राजहंसोऽपि विवेश मानसम् ।

कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिन्नम्

मनाद्मृणालीमिव धीरतामतः ॥ (७४२)

यहाँ रूपक अलंकार है। इस अलंकार की स्वाभाविकता प्रयास-निमित्त नहीं है। मनरुपी मानस में नृपरुपी हंस ने प्रवेश करके धैर्यरुपी मृणालिनी की तोड़ना प्रारम्भ किया। इस रूपक के द्वारा शशिप्रभा का राजा के प्रति मिलनोत्कण्ठा की तीव्रता और काम की प्रवलावस्था का द्योतन होता है।

उत्पद्मणा निरुपमोल्लसितप्रमोद-
विस्तारलङ्घितविलाससरोरुहेण ।

साद्रस्मरवरपिपासितया तयापि

दूरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्र ॥ (१८१८)

यह रूपक अलंकार हृदयस्पर्शी बन गया है। इसमें आसक्ति का भाव जिस स्वामाविक रूप में चित्रित हुआ है, वह अतिचातुरी और सहृदयता का फल है।

रूपक की समुचित योजना के द्वारा ही शशिप्रभा के अनुराग की उत्कण्ठता की अभिव्यक्ति की गई है।

रूपक और उपमा का सुन्दर समावेश कराने में भी पद्मशुभ पर्याप्त मात्रा में सफल रहा है।

एषा शिरोऽ दीपस्य मुग्धा दग्धदशाधया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपथे ॥ (१६१७)

दग्धवर्तिका वाली दीपशिला के प्रक्रमन से स्मररूपी अनिल के झोंके पर ही इधर-उधर काँपती हुई शशिप्रभा का साम्य रूपक और उपमा की अन्वेषसाध्यता एवं नातिनिर्वहणैषिता के फल पर ही हुआ है। प्रयासजन्य भाव यदि यहाँ पर होता तो आलंकारिक चमत्कार तो आ जाता, परन्तु जीवन की व्यावहारिक अनुभूति के चमत्कार का निर्वाह न हो पाता। अतः कवि ने अलंकार योजना में सूक्ष्म चातुरी का परिचय देकर अपने अलंकारशास्त्रीय ज्ञान को भी व्यक्त कर दिया।

इन सब बातों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विभिन्न अलंकार इस काव्य में हैं। उनमें से कुछ कथानक को रोचकतामात्र के लिये भी हैं। कहीं-कहीं पर उनकी योजनायें श्रुतिपूर्ण भी विदित होती हैं, फिर भी

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमग्नतीन्ने किरणेष्विवाङ्क ।

के अनुसार वह अपने अस्तित्व को गुणों में ही लीन कर लेती हैं। श्लेष, दीपक, सदेह, अनुप्रास, अर्थान्तरयास आदि अलंकारों की योजना भी नवसाहस्राञ्चरित में है।

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धि नगेद्रकन्येव सनीलकण्ठा ।

या लग्नकाञ्चीप्रियेण कान्ति सिंहासनेनावितरा विभति ॥

(११४३)

उज्जयिनी नगरी पार्वती की भाँति सनीलकण्ठा है, (पार्वती पद में शिव और नगरी पद में नीलकण्ठ पत्नी) और सिंहासन (दुर्गा पद में सिंह रूपी

आसन और नगरी पद में राजप्रासाद स्थित सिंहासन) से सुशोभित है । यह दुर्गा के समान है (दुर्गा अर्थात् पार्वती अथवा शत्रुओं से अगम्य, नगरी पद में दुर्गा अर्थात् किलों वाली और अगम्य) । दुर्गा नगेन्द्र (हिमालय) से उत्पन्न है, तो यह भी नगों (इन्द्रनीलादि मणियों) के द्वारा निर्मित की गई है ।

यहाँ श्लेषालंकार है, जो उपमा की भित्ति पर ही निर्मित है । पर यहाँ अर्थदुर्बोधता आ गई है । सम्भवतः इसी अर्थदुर्बोधता एवं रसानुभूति में बाधा को दृष्टि में रखकर ही इसका क्वाचित्क प्रयोग किया है, और वह भी वाह्य चित्रण में । इससे यह भी विदित होता है कि कवि रसनिर्भर है, और जागरूक भी । रसपरतन्त्र होने के कारण ही वह अलंकार की प्रमादजन्य योजना से बच गया है ।

गुणोत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिये कहीं-कहीं पर दीपकालंकार को भी लिया गया है । उसमें भी स्वाभाविक सरसता के दर्शन होते हैं ।

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च ।

अध्यासते यस्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च सरस्वतो च (११६४)

तथा

प्रसाधिता येन च बाल्य एव चतुर्भिस्सुसाहवता चतस्रः ।

श्रुतेन बुद्धिः प्रभुता नयेन त्यागेन लक्ष्मीर्वसुधा बलेन ॥ (११६६)

विरोधाभास का भी उत्तम निदर्शन हमें मिलता है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ (११६२)

इस श्लोक को काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भी उदाहरण के रूप में लिया है । इसीसे इसकी विशिष्टता स्पष्ट है ।

अर्थान्तरन्यास में भी व्यर्थ की तोड़मरोड़ नहीं की गई है । वह भी स्वाभाविक गति से आया है । पद्मगुप्त के व्यक्तित्व में इतनी सरलता और सरसता थी, जिसके कारण वह अपने काव्य को भी इस प्रकार सरल और सरस बना सका ।

“चकार च पदं चित्रः स मृगस्तस्य चेतसि ।”

“लग्नं हि किमपि क्वापि कृच्छ्रादाकृष्यते मनः”

“हरति न कं नववस्तुसम्प्रयोगः ।”

“विलङ्घयत्यलङ्घ्यानि स्मरदुर्ललितानि कः ॥”

इस प्रकार की योजना से विषयवर्णन के औचित्य में पूर्ण सहायता मिली है ।

जिन अलंकारों की उपयोगिता शैली की विशेषता में है, उनके विषय में शैली वाले प्रकरण में कहा गया है ।

इस समस्त अलंकार-योजना के विवेचन से अन्त में यह धारणा उलकी हो जाती है कि कवि पर कालिदास की अलंकार योजना का प्रभाव अवश्य पड़ा है । कालिदास का नाम तो कवि ने अनेक स्थलों पर अति आदर के साथ लिया है ।

प्रसादद्वयालंकारैस्तेन मूर्तिरभूष्यते ।

अत्युच्चैस्त्वस्त्रीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ॥

कालिदास^१ के शाकुन्तल को भी कवि भूला न होगा । यह कहने में भी इसलिये सकोच नहीं होता कि यह कवि भी कालिदास की ही भाँति अपने कार्य में सफल रहा । निष्कर्ष रूप में पद्मगुप्त की अलंकार-योजना के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त की अलंकार-योजना प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त, परिष्कृत है । उसकी सफलता औचित्य, अक्लेश साध्यता और नातिनिर्वहणैयिता की सफल योजना पर ही निर्भर रही है । यह कवि की सूक्ष्म बुद्धि का ही परिचय है ।

नरसाहसाङ्कचरित का प्रकृति-चित्रण

सौन्दर्य की अनुभूति जितनी अधिक कविहृदय करता है उतनी और कोइ नहीं । क्योंकि उसमें कलात्मक दृष्टि होती है । सौन्दर्य जब कवि की अनुभूति का विषय हो जाता है, तो वह स्वानुभूति का रूप धारण करके श्लोकविध हो जाता है और ऐसी स्थिति में जब कवि प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति कर लेता है, तब वह उसके जीवन के साथ घुल मिल सी जाती है । प्रकृति में ही मानव हुआ है, पला है और वही उसकी क्रीडा स्थली रही है । प्रकृति के साथ उसके क्षमजात संस्कार संबद्ध होते हैं । इन्हीं संस्कारों से कवि प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो उठता है । उसकी सवेदनशील चेतना प्रकृति के कोने कोने में झाँकने लगती है । वनस्पति और पशुपक्षी जगत्—सभी में उसे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । ऐसी स्थिति में कमी कमी तो कवि अपने काव्य के पात्रों के साथ सौन्दर्यानुभूति करने लगता है और कमी कमी प्राकृतिक सौन्दर्य की भावना उसके वस्तुचित्र और भाव चित्र को मनोहारी बना देती है ।

१ स्थिरा भव नृपेण त्वमिह सयोगमाप्स्यसि ।

यथा कल्प्याश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥ (६।६४)

संस्कृत साहित्य के प्रकृति-चित्रण की परम्परा ने प्रकृति-सौन्दर्य की विमुग्ध भावना को सदैव ही मान्यता दी है। वाल्मीकिरामायण के प्रकृति-चित्रण में हम एक विचित्र प्रकृतिगत सौन्दर्य पाते हैं। वहाँ प्रकृति मानवसम्पदा बनकर ही अपना प्रभाव नहीं डालती, अपितु उसके निरपेक्ष सुन्दर रूप भी हमारे चित्त पर प्रभाव डालते हैं। महाभारत में भी इसका अभाव नहीं है।

कालिदास तो प्रकृति के पुजारी ही कहे जाते हैं। उनके सजीव एवं विशद प्रकृति-वर्णन के दृश्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रतीक हैं। रूपयोजनात्मक प्रकृति-चित्रण में कालिदास तो सिद्धहस्त थे ही, परन्तु जब हम परिमल पद्मगुप्त की कृति नवसाहस्राङ्कचरित के प्रकृति-चित्रण पर विचार करने लगते हैं तो प्रतीत होता है कि इस कवि के प्रकृतिचित्रण में सौन्दर्यानुभूति की भावना, वर्य विषयों में नवीनता, सहृदयता तथा सूक्ष्म निरीक्षण का पूर्ण सामञ्जस्य है। पर जिस भाँति कविवर भवभूति ने प्रकृति के मनोरम और भीम दोनों पक्षों को देखा, उस भाँति पद्मगुप्त ने नहीं देखा। उसने प्रकृति के भव्य मनोरम और मधुर रूप को ही देखा और उसी की अभिव्यञ्जना अपने काव्य में की, जिससे प्रकृति के प्रति उसके गाढानुराग का परिचय मिलता है। प्रकृति के दृश्यरूप उद्दीपन के रूप में अधिक लिये गये हैं। कालिदास की भाँति इस कवि ने भी प्रकृति में मानवीय प्रेम का समुचित सम्बन्ध स्थापित किया है। वहाँ कहीं भी प्रकृति का मनोज्ञ चित्रण हुआ है, वहाँ उसमें सजीवता आई है और मार्मिकता भी। मानव और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना प्रकृति-चित्रण की एक विशेषता होती है, जिसे पद्मगुप्त ने पूर्ण रूप से निभाया है। शिप्रा के तटवर्ती उद्यान-लताशृङ्खों के वर्णन के अवसर पर कवि का एक मनोरम चित्रण देखिये :

यस्यां विसूत्रोऽङ्घ्रितमेखलानि तथा शुकावतित्तसीत्कृतानि ।

शंसन्ति संकेतमुपःसु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ (१।५०)

मनोहरैः कामिजनस्य यस्यां नीरन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः ।

सचन्दनैः काञ्चनकेलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ (१।५१)

यहाँ पर प्रकृति का और मानवीय स्थितियों का समान चित्रण किया गया है। रूपचित्रण के साथ भावचित्रण के लिए आलंकारिक योजना की सहायता ली गई है। इसीलिए मानवीय रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना चित्ताकर्षक हो गई है। इस प्रकार के चित्रण आदर्शात्मक होते हैं। काव्य-कल्पना में प्रकृति-सौन्दर्य की उद्भावना सजीव चित्रण द्वारा ही की जा सकती है। उद्यान-भूमियों के कैशिशैलों को कुचरूप में कल्पित करके वर्णित करना मानवीय जीवन का प्रकृति के साथ सामञ्जस्य दिखाना ही है। इसी प्रकार की प्रेरणा

स्वर्ग में नन्दन वन की कल्पना करना है, क्योंकि वहाँ भी आदर्शमय प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना है, जिसको कवियों ने परम्परा से अपनी कृतियों में स्थान दिया है, और सम्भवतः यही भावना उत्तरोत्तर प्रकृति चित्रण में काम करती रही है। पद्मगुप्त ने भी इसी प्रकार प्रकृति के एक आदर्शमय सौन्दर्य का हृदयगत चित्रण किया है, जिसमें रूप, रग, आकार का पृथक् अस्तित्व भी चित्रित किया गया है और कभी कभी सब को समष्टि का रूप देकर उसमें एकरूपता भी दिखलाई गई है।

अर्काशुग्लपितैरेभिरतोऽप्यालिखितैरिव ।

राजजम्बूनिवृज्जेषु पश्य पु स्कोकिलैः स्थितम् ॥ (२६१)

अपि स्वच्छजला देव कलहसाङ्कसैकता ।

वराहोत्प्रातमृत्स्नेयं पुर पुष्करिणी तत्र ॥ (२६२)

इस स्थल पर एक चित्र तो जम्बू निवृज्जों में धूप के कारण धरा कर बैठने वाले कोकिलों का है और दूसरा स्वच्छ जलवाली, इसी से युक्त और सुअरी से जिसके तटों को खोदा गया है इसलिये जिसकी क्षीमल मिट्टी इधर-उधर फैली है ऐसी पुष्करिणी का दृश्य है। यहाँ पर दोनों दृश्यों में रूपागत, रगगत और आकारगत सौन्दर्य तो है, पर उसका अपना पृथक् पृथक् ही महत्त्व है। क्योंकि यह दोनों चित्र सूक्ष्म दृष्टि से देखे गए हैं और उनके प्रभाव का पृथक् चित्रण किया गया है। परन्तु जहाँ पर सौन्दर्य की समष्टि का चित्रण है, वहाँ पर कुछ विचित्र ही बात दृष्टिगोचर होती है।

आसा लताप्रस्तवकोत्थितानि शिप्यण्डरत्नद्युतिचुम्बितानि ।

पश्योपरिष्ठादल्लिमण्डलानि नीलातपत्रध्रममारभन्ते ॥ (१४४०)

यहाँ पर रूप, रग और आकार चित्रण की समष्टि से प्रकृतिगत सौन्दर्य की एक अद्भुत दृश्य देखने को मिलती है। चित्रण की यह कलात्मकता पद्मगुप्त के प्रकृति चित्रण में सर्वत्र पाई जाती है।

अमूनि पुष्याणि महीरुहाणाम् आभान्ति लीनध्रमरोदराणि ।

विद्याधरीविभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ (१४३५)

मन्दानिलान्दोलितपल्लवाप्रा समग्रपुष्पाहरणोद्यताभ्य ।

इतो लताः पाथिय सरभत्ते लावण्यमादातुमिवागनाभ्य ॥ (१४३४)

अमरों को अपने अन्दर समाये हुए पुष्पों में वृक्षों के तैशों की कल्पना एक नवीन उत्प्रेक्षागत उद्भावना है। यहाँ मानवीय रूप देकर पुष्पों और उनमें लीन अमरों को नैसर्गिक सौन्दर्य के कारण वृक्षों की मनोहरता का द्योतक बना दिया गया है। इसी भाँति मन्द अनिल से आन्दोलित पल्लवा-मल्लताओं को लावण्य का आदान करने वाली बताकर उनमें मानवीय

सजीव सौन्दर्य को अति सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित किया गया है। इससे कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण के महजात अनुराग एवं सूक्ष्म निरीक्षण का आभास मिल जाता है।

जिस भाँति कालिदास ने अपने मेघदूत में यज्ञ की प्रियतमा के अंगों का साम्य प्रकृति के अंगों में देखा है और जिस भाँति विक्रमोर्वशी में 'श्यामास्वंगम् चकितहरिणीप्रेक्षणै हृष्टिपातम्' में उसे एक भी साम्य नहीं मिला, तथापि वह प्रकृति और मानव के सौन्दर्यसाम्य की कल्पना करता रहता है, उसी भाँति पद्मगुप्त भी प्रकृति के अंगों और मानवीय अंगोपांगों का साम्य करके एक ऐसी संतुलित रेखा खींच देता है, जो दोनों के समानानुभूति के छोरों को मिला देती है।

वलितं न विभाति पृष्ठतः कवरीकान्तमिदं तवाननम् ।

अयि नीलपयोदलेखया सपरिष्वङ्गमिवेन्दुमण्डलम् ॥ (१२।१६)

यहाँ पर अर्धश्लोक में मानवीय और आधे में प्रकृति के सौन्दर्य की उपस्थापना की गई है। यह उपमानों की विशिष्ट योजना का फल है, जिसके कारण प्रकृति मानव-सापेक्ष रूप में हमारे सामने व्यक्त होती है। इस प्रकार के चित्रण में सौन्दर्यभाव की जायति की उत्तमता निहित रहती है। पद्मगुप्त ने ११, १२ और १४वें सर्ग में इसी प्रकार का वर्णन विशेष रूप से किया है, जिससे वह कहा जा सकता है कि प्रकृति-चित्रण की संश्लिष्टता पद्मगुप्त के काव्य में विशेष रूप से पाई जाती है।

सूर्यास्त के समय के सौन्दर्य का जो वर्णन इस कवि ने किया है, वह नितान्त चित्ताकर्षक है। इस वर्णन में कोमल भावों की अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति के साथ हुई है। प्रत्येक वस्तु सजीव होकर अपने सौन्दर्य-प्रभाव को हृदय पर डालती सी प्रतीत होती है।

चलितोऽसि वद क मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा ।

कृतपद्मजकुड्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते ॥ (१२।३२)

यहाँ पर कृतपद्मजकुड्मलाञ्जलिः और याचते पर ध्यान जाता है। दीनता एवं विरहवेदना का कितना असह्य वातावरण सामने आ जाता है, जिसमें कवि ने विवशता का द्योतन अति चातुर्य के साथ किया है।

परिचुम्बति वारुणीं दिशं पुरतो रागहृते विवस्वति ।

दिगिचं शतमन्युलाञ्छिता भवति श्याममुखी मितोदरी ॥ (१२।२६)

अनुपुञ्जितपिद्मदीधितिद्रुतलाक्षारुणदर्पणोपमम् ।

परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्याद्भि पतद्गमण्डलम् ॥ (१२।३३)

इन श्लोको में संध्याकाल का दृष्य बड़े ही मनोहर ढंग से उपस्थित किया गया है। संध्या के गमन और रात्रि के आगमन के समस्त दृष्य को जिस चित्रोपम शैली में वर्णित किया गया है, उससे भी उपमान की सुंदर उद्भावना का ही परिचय मिलता है।

क्षण्टामिमुद्रेण खण्टिता ननु संध्या तमसा मनस्विनी ।

कुपितेष निघर्तते जवान् अतिवाचालविहंगनूपुरम् ॥ (१२/३७)

रात्रि के साथ अभिसार करने के लिए जब तम चला तो संध्यासुन्दरी खण्डिता नायिका सी बड़ी तेजी से वाचाल विहंगनाद रूपी नूपुर भ्रमकाती हुई चली गई।

स्वामाविक्र वात है कि रात्रि के आने पर अन्धकार का प्रसरण होने लगता है और संध्या शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। संध्या की अदृश्यता के समय अपने गीड़ों पर बसेरा करने वाले विहंगों के कोलाहल का होना भी नैसर्गिक ही है और रात्रि में कोलाहल का शान्त होना भी स्वामाविक्र है। इस बात को पद्मगुप्त ने कितने सजीव ढंग से चित्रित किया है। खण्डिता नायिका का समस्त सौन्दर्य, उसकी क्रोध की मुद्रा, नूपुर भ्रमकाकर गुप्से में चला जाना—सभी कुछ आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। “नूपुरम्” इस शब्द से जो ध्वनि निकलती है, उससे ही घारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है, और संध्या का दृश्य प्रत्यक्ष रूप से आँखों के सामने घूमने लगता है। एक दो नहीं, इस प्रकार के चित्र इस काव्य में बहुत हैं, जिनको देख कर यह धारणा बलवती हो जाती है कि इस कवि पर कालिदास का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और कालिदास की भाँति ही पद्मगुप्त ने भी प्रकृति को मूक, चेतनाहीन एवं निष्प्राण नहीं समझा, अपितु मानव जगत की ही भाँति सवेदनशीलता का आभास कवि को सदा और सर्वत्र मिलता रहा है। मनुष्य और प्रकृति का ऐसा तादात्म्य कवि की सौन्दर्यप्रियता का परिचायक बन जाता है और प्रभावोत्पादक भी।

विगलन्तिमिराशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमघोरतारके ।

इह पश्य निशावधूमुरे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ (१२/५३)

यहाँ पर भी चित्रण की सफलता और रात्रि के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण आभासित हो जाता है।

इस कवि ने प्रकृतिसौन्दर्य को तमाशवीन के रूप में नहीं देखा है, अपितु अपने हृदय के गादानुराग के कारण और रसिग्धता के कारण प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य को देखा है।

इदमञ्जननीलमाहृत विहितशं तुहिनाशुना करी ।

अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनकै सकुचितं पुनस्तम ॥ (१२/५५)

जब चन्द्रकिरणों का विस्तार हुआ तो तम संकुचित होकर धीरे-धीरे हिमालय की गुफाओं में जाकर छिप गया। यहाँ पर तम का गुहाश्रयी होना और उसकी अनुभूति करना प्रकृत्यंग के सूक्ष्म निरीक्षण का ही प्रतिफल है।

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपद्मपङ्क्तिना ।

अमुना भवतीव चक्षुषा कुमुदेनेति रुचं कुमुद्वती ॥ (१२।४४)

तिमिराञ्जन के धवलिमा के साथ मिश्रित होने की अनुभूति कवित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिः की याद दिला देती है, और इसी प्रकार 'श्यामश्वेत' के मिश्रित रूप का चित्रण पद्मगुप्त ने यहाँ पर भी किया है :

शवलं शशलाञ्छनत्विषा सतमः पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम् ।

अचलेन्द्रसुतास्मितच्छविच्छुरितं कण्ठमुभापतेरिव ॥ (१२।४५)

चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित तम उसी भाँति दिखाई दे रहा है, जैसे उमा की हँसी से युक्त नीलकण्ठ का कण्ठ। अपनी प्रतिभा के बल से कवि ने यहाँ पर भी वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा प्रकृति की परिस्थितियों को मानव-साहचर्य की स्मृति के रूप में चित्रित कर दिया है। चित्रण की यह उपमानजन्य सफलता पद्मगुप्त की चित्रणशैली का सौन्दर्यमय पक्ष है।

यहाँ पद्मगुप्त प्रकृति के मधुर और शान्त रूप को देख कर अधिक मुग्ध हुआ है, वहाँ उसके रूपचित्रण की शैली भी कुछ अन्य ही हो गई है। पद्मगुप्त ने भावप्रवणता के कारण प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से विमुग्ध होकर उसके उन्मुक्त सौन्दर्य को भलीभाँति देखा है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस वर्णन में कवि की और कवि के नायक की मनःस्थिति का रूप भी मिलता हुआ दिखाई देता है।

अयमिन्दुमुखि त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जनः ।

अनयं च समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्छनः । (१२।६१)

मरुता सुहृदेव बीजितं कुमुदामोदमुचा शनैरितः ।

स्वपिति प्रणयार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः ॥ (१२।६४)

इस स्थल पर भावनाओं का चित्रण मानवप्रकृति का प्रतीक सा हो गया है। पद्मगुप्त के इस प्रकार के वर्णन कथाविस्तार में सहायक होते हैं। हंस का दर्शन और वर्णन, मृग का दर्शन, विष्वभूमियों का सहजात सौन्दर्य, दंष्ट्रुनि के आधम के समीपवर्ती वन का और श्रुतुओं का वर्णन, सायं-प्रातः का वर्णन—ये सब कथाविस्तार में उत्तरोत्तर सहायक होते गये हैं, और नायक के मनोभावों को उद्गीत करने में सहायक होते रहे हैं। इन वर्णनों में छिपे हुए उल्लास की द्योतना का भाव पाया जाता है।

कभी कभी प्रकृति के एक सुन्दर चित्र को उपस्थित करने के लिये अपर दृश्य का आश्रय लेकर पद्मगुप्त ने अपने चित्रणों को अतिसौन्दर्यमय बना दिया है।

उडुभि खमितस्तव क्षणात् उदितैर्मङ्गरकेशि भात्यद् ।

अतिगाढदिनोष्णानमभि परित स्वेदलनैरिवाङ्कितम् । (१२।४६)

तदनु त्रयया पराङ्मुखी पुलकालङ्कितपीरस्तनीम् ।

स किलाञ्चितचाटुरानेयत् सुमुखी तामनुकूलवृत्तिताम् ॥ (१२।६८)

यह अलंकार द्वारा उपस्थापित चित्रमय योजना है, जिसमें सुन्दरता चित्ताकर्षक है। सादृश्य के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अति व्यक्ति भी सफल आलंकारिक चित्र-योजना द्वारा ही होती है। इसी सत्य को पद्मगुप्त ने सर्वत्र स्थापन दिया है।

मन स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृति के रूपसौन्दर्य पर पद्मगुप्त की दृष्टि गढ़ है। इसीलिए सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृग् से किया है। ऐसे चित्रण यद्यपि कालिदास के अतिरिक्त कुछ कुछ मारवि में भी मिलने हैं, पर बाद में माघ, अश्वघोष, प्रवरसेन आदि में प्रकृति के सामञ्जस्यपूर्ण सौन्दर्य का समुचित चित्रण नहीं हो सका। किन्तु पद्मगुप्त के काव्य में यह सामञ्जस्यपूर्ण सौन्दर्य पूर्ण रूप से पाया जाता है। इस कवि ने परम्परा का कोरा निर्वाह नहीं किया।

अयमभिनवकणिकारयष्टिं श्रुत्वा घनस्तवकम्तनीमुपैति ।

अयमतिचपलौ निसर्गेत्ता स्थलनलिनीमवधीर्य देव । याव ॥

(३।३५)

यहाँ पर कणिकार और नलिनी के वर्णन में मुग्धा और मध्या नायिकाओं के सौन्दर्य विज्ञान के साम्य के साथ उन पर विशेष अनुरक्ति की इच्छा का न होना शीतल किया गया है। यह प्रकृति का नारी रूप ही है, जो मानवीय मन स्थिति के साथ सामञ्जस्य रखता है। इतना होने पर भी जहाँ कहीं भी कवि ने स्वतंत्र चित्रण किया है, वह भी अद्वितीय है। उस स्वतंत्र चित्रण की महत्ता भी भावात्मक और रूपात्मक सौन्दर्यबोध के द्वारा कथाविस्तार को भाग बढान में ही है।

तटोद्गतप्राशुतमालराजिच्छायाघनश्यामलितार्धभागा ।

मूतिस्तुपाराचलतुल्यकान्तिस्मापतिश्रीवरयोरिधैका ॥ (१४।८३)

तरङ्गभङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुद्धहंमाम्बुसहावपत्रा ।

पुण्या पुरो दूरत पव तंन त्रिमार्गागाऽदृश्यत पाथिवेन ॥ (१४।८५)

इन स्थलों पर गंगा का वर्णन अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है और कालिदास के गंगा-यमुना के चित्रण की भाँति ही इसमें भी मिश्रित सौन्दर्य का दर्शन होता है। इस प्रकार के चित्रण पद्मगुप्त ने कथानक की रोचकता बढ़ाने और उसे गतिशील बनाने के लिये ही किये हैं। सर्वत्र ऐसे चित्रणों में भावग्रहण की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। भावाभिव्यञ्जना एवं प्रकृतिचित्रण में अपने आप ही सामञ्जस्य स्थापित हो गया है। पद्मगुप्त का ध्यान कथावस्तु की रोचकता और विस्तार पर अधिक रहा है। भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेकर विभिन्न कवियों ने अपने अनुभवों के बल पर चित्रण किया, किन्तु कुछ कवियों ने प्रकृति का निरीक्षण गम्भीरता से किया। उनकी अनुभूति की गहराई ने उन्हें प्रकृतिचित्रण करने में इसलिये सफल बनाया कि उनका सूक्ष्म सौन्दर्य-निरीक्षण मानव में और प्रकृति में कोई भेद नहीं रखता है।

पद्मगुप्त के नवसाहस्राब्द के प्रकृतिसम्बन्धी भाव एवं रूप-चित्रणों को देख कर यह कहा जा सकता है कि इस कवि ने प्रकृतिचित्रण में भी मध्यम मार्ग का ही आश्रय लिया है। उसने न तो रुद्धियों और परम्पराओं को ही अपनाया है, न पूर्ण आधुनिकता को ही प्रथम दिया है। दोनों का तत्त्व लेकर ही अपनी चित्रण-शैली को रोचक बनाकर प्रकृतिसौन्दर्य की अनुभूति पाठकों को कराई है। उज्जयिनी का वर्णन और नागराज को नगरी भोगवती का चित्रण बहुत ही भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है। इन वर्णनों को पढ़कर कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण का पूर्ण आभास मिल जाता है। भोगवती का वर्णन तो वस्तुतः कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य से बहुत कुछ साम्य रखता है। नदी, प्रभात, वन, उद्यान, गृहाङ्गण आदि के सरस वर्णनों को पढ़ने में जी रम जाता है।

उज्जयिनी के नाट्यगृह और उद्यान-वापियों के वर्णन का एक म सुर चित्रण देखिये :

सत्पुष्करोद्द्योतिरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये ।

उद्यानवापोपयसीव यस्याम् एणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१।५४)

यहाँ पर नाट्यगृह में होने वाली वाद्य ध्वनि और जलतरंगों द्वारा उठित ध्वनि का तथा प्रमदायों की हाव-भावपूर्ण गति का जञ्जाराओं की गति के साथ साम्य करके जो चित्र उपस्थित किया गया है, वह अपने आप में पूर्ण सफल है।

वृन्ताद्पास्तैर्मृता विक्रीणैः सुगन्धिभिस्तीरतरुप्रसूनैः ।

शिप्रासरिन् कूलतमालनीला विभाति यस्याः कञ्चरीलतेव ॥ (१।४४)

पुष्पो से शोभित प्रमदा की वेणो के साथ शिप्रा का यह साम्य भी अत्यन्त मनोहारी ढंग से किया गया है ।

मुक्ताट्टहास करनेवाली शिप्रा के सौन्दर्य से भी कवि कम प्रभावित नहीं हुआ है ।

गतासु तीरं तिमिरट्टनेन मसभ्रमं पौरविलासिनीषु ।

यत्रोस्लसन्फेनततिञ्जलेन मुक्ताट्टहासेन विभाति शिप्रा ॥ (१५२)

विध्याटवी का सौन्दर्य भी एक ही श्लोक में देखिए

अथ स चतुलपट्टपद्मोपगीतं वनगजदानमुगन्धिगन्धवाहम् ।

परिसरमभिनृतनोलङ्घ्यं न्यविशत विन्ध्यनगेन्द्रकन्दरस्य ॥

(३१३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य के विविध दृश्य मानव हृदय को विभिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से उल्लसित करते रहते हैं । आनन्द और वाह्य प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की योजना करके कवि ने अपने वर्णनों को हृदयगम बना दिया है । प्रकृति चित्रण में सहयोग और सहानुभूति की भावना का चित्रण भी पद्मगुप्त के प्रकृति-चित्रण की अपनी विशेषता है । यहाँ तक कि वन लतायें भी, मानो मानव के साथ हास परिहास करती दिवाइ देती हैं ।

चतुरङ्गतकचमह स गच्छन् नवलतया परिहासलोलयेन ।

नरपतिरवश कृत स काम वियति मुये दुमुदञ्जयाञ्चकार ॥ (३१४)

नमद्वनिपति पति प्रजानाम् अयि । चपले नु विट्टप्यते कचेपु ।

विरम मुहुरितीय मञ्जुमुत्तध्वनिभिरसारलिमिलताऽभ्यधायि ॥

(३१५)

इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति और मानव के हास परिहास द्वारा चित्ताकर्षकता उत्पन्न की गई है । इस भाँति हम देखते हैं कि पद्मगुप्त का प्रकृति चित्रण सरस, सुन्दर और सद्मानुभूतिपरक है, जिसमें प्रकृति के हृदय की सात्वता और उल्लास एवं रूपानुकृति के विशिष्ट प्रभावमय सौन्दर्य चित्र उपस्थित किये गये हैं । ये समस्त चित्र एक समष्टि रूप के कथाप्रवाह के विस्तार में सहायक होकर पाठकों के अन्तःकरण में एक रागारमकता की छाया सी छोड़ देते हैं । पद्मगुप्त का प्रकृति-पर्यवेक्षण सद्म प्रेरणापरक है । प्रकृति की रहस्यमयी सौन्दर्यानुभूति का चित्रण करने में पद्मगुप्त सफल रहा है ।

नरसाहसाङ्कचरित की शैली

शैली का कवि के व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । शैली के

आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कालिदास का व्यक्तित्व सुकुमार प्रतीत होता है। दायम्बट्ट के व्यक्तित्व में वैचित्र्य का पर्याप्त पुट है, और परिमलपद्मगुप्त में न तो एकान्त वैचित्र्य ही देखा जाता है और न नितान्त सौकुमार्य। इस कवि का व्यक्तित्व मध्यममार्गी है, जिसमें सौकुमार्य और वैचित्र्य का सम्मिश्रण हुआ है। जो व्यक्ति जैसी प्रवृत्ति का होगा, उसके बोलने और लिखने का ढंग भी उसी प्रकार का होगा। क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति कुछ क्रकश और उद्वेजक बात कहेगा, पर मधुर प्रकृति का उदार व्यक्ति यदि सौन्दर्यप्रिय और अधिक भावुक होगा तो वह सरस और सुन्दर बात कहेगा और कभी-कभी भावों की गूढ़ता के लिये ऐसी बात कहेगा कि सुनते ही जिसका प्रभाव हृदय पर पड़े बिना न रहेगा। इन प्रवृत्तियों का पता माधव या लेखन की शैली पर से ही लगता है।

पद्मगुप्त की कृति के अध्ययन से हम इस तत्त्व पर पहुँचते हैं कि पद्मगुप्त की शैली सुकुमारता तथा वैचित्र्य के अनोखे सम्मिश्रण से संवलित है। कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उसकी शैली पर पूर्ण रूप से पड़ा दिखाई देता है। कलात्मक प्रतिभा पद्मगुप्त की शैली का आदर्शमय पक्ष है। भावों और अलंकारों की नवीनता उसके आन्तर और बाह्यपक्ष का सामञ्जस्य है। इसकी पुष्टि नवसाहस्राब्दचरित के कतिपय उदाहरणों से हो जाती है, जिनके विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कवि ने अपने काव्य को विशिष्ट शैली में समलङ्कित किया है।

निवद्धभीमभृकुटिविलोकयन् दृशा तदोल्काकपिशोप्रतारया ।
स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदन् वचो ममाक्षिप्य कृतानतेरिति ॥

(१३।५४)

इस स्थल पर क्रोध की मुद्रा की सूचना है, शब्दविन्यास से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इस वर्णविन्यास में निवद्ध शब्द में ध्वनि मन्द है। भीम में कुछ बढ़ी हुई है। “भृकुटिविलोकयन्” में उसकी गति और तीव्र रूप धारण कर लेती है। कपिशोप्रतारया में आगे बढ़ती हुई एवं तीव्र होती हुई कृतानतेरिति में पुनः एक सम पर आकर स्थित हो जाती है। ध्वनिक्रम की यह विशेषता वर्णविन्यास के विशेष चातुर्य का ही फल है। ठीक उसी भाँति कालिदास की “हिमालयो नाम नगाधिराजः” में भी ध्वनि का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते देता है। जिसने नगाधिराज की उच्चारण का बोध शीघ्र ही हो जाता है। इस प्रकार के वर्णविन्यास ने दम्बु का प्रभाव पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है।

पद्मगुप्त की शैली परिष्कृत, प्रसाधनयी एवं लालित्व आदि गुणों से युक्त है, जिसका परिचय उसके इस श्लोक से भी मिलता है :

अभिनवल्लिखितामिव प्रशस्ति मदनमदानृते स पार्थिवेन्द्र ।
इति निमिडकुन्दहलाकुनस्ता ललितनदाभरणामराचयच्छ ॥ (३।६६)

न चिरादलङ्कृतिविशेषविदितरुचयोऽतिपेशला ।
लक्ष्यनवनवरसा शुचयः कविपुङ्गवोक्ष्य इगङ्गना वसु ॥ (१५।३७)

इन स्थलों पर "ललितपदाभरणा" और "अतिपेशला", "लक्ष्यनवनवरसा", "कविपुङ्गवोक्ष्य" ये शब्द ही कवि की शैली का महत्त्व घोषित करते हैं। इस प्रकार के शब्दों पर विचार करने से कवि की सुकुमार और व्यंग्यात्मक प्रगति का आभास सहज रूप से ही मिल जाता है। क्योंकि किसी भी भाव का चित्रण करते समय पद्मगुप्त ने एक अनूठा ही ढंग अपनाया है, जिसमें कहीं पर सौकुमार्य और कहीं पर वैचित्र्य का पुट मिलता रहता है।

धवलाभ्रच्छ्रुरितमित्तिलिखितललिताङ्गनालिपिम् ।
अप्सु कुशलवदशा प्रतिमा सितरत्नदर्पणनिमासु लेभिरे ॥ (१५।७)

उदितसु काञ्चिगुणमध्यमरक्तमरीचिसूचिषु ।
व्यक्तिमलमत न रोमलता स्मरदीपकञ्जलशिषा मृगीदृशाम् ॥
(१५।४४)

जल्क्रीडा की यह जो विशेषताएँ हैं, वे स्वतः अभिचित्रित हो जाती हैं। मधुर और सघोष शब्दों के प्रयोग से इनमें भी ध्वनिसौन्दर्य का अन्ना एक स्थान लक्षित होता है। जलक्रीडा में जिस माँति इतस्ततः परिचलन होता है, उसी तरह शब्दों में भी ध्वनि इधर उधर दौड़ती सी प्रतीत होती है।

इस तरह का सुकुमार व्यक्तित्व इस कवि की रचनाओं से व्यक्त होता हुआ शैली की उत्कृष्टता का द्योतक बन जाता है।

त्रिगलत्तिमिराशुकेशनै स्पृशति व्यक्तिमवीरतारके ।
दृढपश्य निशाधधूमुरे स्फुरति श्रेतमरीचिदुण्डलम् ॥

चन्द्रादन के समय के वस्तुगत चित्रण को शैली से हो यह अवदित होता है कि इस कवि को कोमल भावनाओं का चित्र अचित्र करना अधिक प्रिय रहा है। इस स्थल पर आन्तरिक स्नेह और लज्जात्मक भावना की अभिव्यञ्जना बड़ी ही विदग्धता से की गई है।

इति सद्ब्रह्मस सौमि मसृणोत्कम्पितस्वनी ।
व्याजसाचीवृत्तमुखे निशरवास शशिप्रभा ॥ (६।२२)

इसमें शशिप्रभा की मानसिक दशा का चित्रण केवल ईह मोड़ कर दीर्घ श्वास लेने ने ही व्यक्त किया गया है। इस श्लोक में कवि कोई ऐसा कलाकारी अलंकार भी नहीं है, फिर भी मानसिक दशा का चित्रण जिस मधुर व्यङ्गनात्मक शैली में हुआ है, वह ठीक कालिदास के

एवंवाद्दिनि देवर्षीं पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयानास पार्वती ॥

इस श्लोक की भाँति ही है। कालिदास ने भी कमलपत्र की गिनती से पार्वती के लज्जास्वयं संचारी भाव को व्यक्त कर दिया। यह शैली का ही फल है, जिसके कारण अतिवित्तिार न होकर भी किसी भाव की अभिव्यक्ति कुछ निर्धारित शब्द से ही हो जाती है। इस प्रकार के सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति पद्मगुप्त का विशेषी गुण है। भावाभिव्यक्ति के लिए वाक्यविन्यास का श्रोत्रिय, छन्दोज्ञान एवं अलंकार के सफल प्रयोग का सम्मिश्रण उपयोगी है। इसलिए सौन्दर्य प्रियता का परिचय कवि की वाणी सर्वत्र ही देती रहती है। जिससे यह भली भाँति विदित हो जाता है कि कवि ने सौन्दर्य की अनुभूति खुली आँखों से की है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिश्लथेयं क्वरी नियन्थते ।

उदस्तभास्वत्करकान्तया श्रिया दिनस्य ताराश्वलेव शर्वरी ॥ (४।१२)

यहाँ पर सजे हुए शिथिल केशावलाप वाली पाटला का सान्य "ताराश्वला शर्वरी" के साथ करके कवि ने मानवसापेक्ष प्रकृति का चित्रण अति मधुर भाव से किया है। इस प्रकार के सुन्दर चित्रण और उन चित्रणों में विगुह्द शृंगारी भावना का पुट देना कवि की मधुर प्रकृति और सुन्दर वर्ण-विन्यास की शैलीगत चातुर्य का ही फल है। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुप्रास की छटा भी पद्मगुप्त की शैली में भावाभिव्यक्ति के लिए अनायास ही कारण बन गई है। कहीं पर भी केवल भर्त्ता के लिए शब्द नहीं रखे गये हैं।

अयं स न स्यान्नवसाहसाङ्क इत्यनङ्गलीलासुकृती भुवः पतिः ।

स येन मुक्त्वो निजनामलाच्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥ (४।३४)

अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्विपि ।

इतः किमेतस्य न सैकते स किं सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ (४।३५)

इन श्लोकों में वर्णविन्यास देखने योग्य है। क्विती स्वाभाविकता के साथ दो समान वर्णों के बीच एक अन्य वर्ण रख कर फिर उसकी भी अन्यजातीय वर्ण के साथ कैसी संगति की गई है। इसी संगति के कारण कौतूहल की जाग्रति एवं संशय की वृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। यह वर्ण-विन्यास अपनी विशेषता रखता है।

विधातुमेनामद्मेय वा क्षमा मितोदरोमङ्कतलेऽन्य को विधि-
ममेदृशे यद्विषय विमत्सरा स्तुवन्ति सरयो मसृणोक्तिसौष्ठवम्

यहाँ पर पूर्णरूप से कवि के व्यक्तित्व की झलक मिलती है और शैली में मसृणोक्तिसौष्ठवम् का भी परिचय मिलता है। इसी मसृणोक्तिसौष्ठवम् का कारण ही सम्भवतः तत्कालीन कवि इस कवि से प्रभावित रहे हैं और विमत्सर भी, जिसका सूचना काव्य ने दी है। इस श्लोक में 'म' की सगति आदि से अतः तक अपना एक अद्भुत सौष्ठव रखती है।

ननाम मानिन्यवशा त्रिशा पतिम् में भी यही गाल पाई जाती है। इस प्रकार की रचना चापुरी को देतकर और उसकी प्रभावशाली भावामिव्यक्ति का देतकर यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि पद्मगुप्त की शैली में प्रवाद गुण का सहजात सौन्दर्य, माधुर्य का यथोचित न्यास, भावों की समझता और अलंकारों की समुचित योजना पाई जाती है।

अल्प शब्दों में निपुलार्थ की योजना यद्यपि भारवि की भाँति पद्मगुप्त से नहीं बन पड़ी है, पर इसका अधिकतर समावेश उसने अरुनी गेती में किया है। क्विप्ति और परिष्कृत पदावली का सर्वथ आघार लिया गया है। अक्सर के अनुरूप भाषा का सदैव प्रयोग किया गया है। भाषा पर इस कवि का असामान्य अधिकार है। वह उसकी वशवर्तिनी होकर ही चलती है। भाव और भाषा का सामञ्जस्य पद्मगुप्त की शैली में सदैव ही रहा है। जहाँ शृंगार की अभिव्यक्ति करनी हुई, वहाँ सरल सरस और असमाप्त पदावली का प्रयोग किया गया है, किन्तु एक ओर इस प्रकार की सुकुमार योजना करने पर भी जहाँ युद्ध का वर्णन आया है, वहाँ समस्तपदावलि और कर्कश शब्दों की योजना पर भी कवि का ध्यान गया है। एक ओर माधुर्य और दूसरी ओर शोक का समावेश असरोचित रूप से किया गया है।

भटास्त्रपूर्णं परितो गजाना स्वदानवद्वोपचितं पदाङ्कै ।

भयङ्कराऽभूत्तरुणाः कनिग्वसहस्रकीर्णैश्च रणाङ्गणोर्षी ॥ (१७१८)

स्फुरत्फणाच्छत्रमणिप्रतानतेजश्छटाजर्जरिताधकार ।

अफलगुरीर्यं फणभृत्कुमारोऽप्यमेऽभवत्तम्य च रत्नचूड ॥ (१७१९)

यहाँ पर कठोर वर्ण की शक्ति से ही उरसाह का संचार होने लगता है और ध्वनि के क्षमिक विकास से घोरत्व का संचार होता हुआ प्रतीत होता है।

जहाँ अतर्भावनाओं को छुकर उई तीर्थी बनाकर जब रामारिम्का प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करनी होती है, तब पद्मगुप्त सरल सुगम शैली का प्रयोग करता है।

सनसा किमालिखति कि समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्ति सा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्त्या हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥ (१०६१)

पर जब इन्हीं मनोरागों की तीव्रता और असह्य प्रभाव को दिखाना होता है तो पद्मगुप्त उस समय एक उल्लेखना लाने के लिये समस्तपदावली वाली शैली का भी आश्रय लेता है ।

शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरम्

कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रवशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।

मम हारयष्टिरपि सा सखीव कि

मदनाभितापमपट्ट करोति ते ! (१०६३)

यहाँ पर यद्यपि समासों का प्रयोग किया गया है, परन्तु उनका प्रयोग रसानुगुण्य की दृष्टि से ही है । क्योंकि जब भावातिरेक होता है, तब या तो शब्दों की अति मन्द गति हो जाती है, या अव्यधिक सम्बद्ध गति । पद्मगुप्त ने इसी सत्य को यहाँ पर व्यक्त किया है । शैली का रस से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और इसीलिये काव्य में शैली के औचित्य पर भी पूर्ण ध्यान देना पड़ता है, यह औचित्य पद्मगुप्त की शैली में आद्योपान्त देखा जाता है । वार्तालाप के ढंग में कवि ने कितनी स्वाभाविकता दिखाई है :

विलोकितं चित्रमलीकभापिणी भवत्सखीयम् प्रतिभासते मम ।

उदीरितैवं किल पाथिवेन सा भृशं ललज्जे निभृतं जहास च ॥ (७१७७)

तुम्हारी सखी मुझे बड़ी भूठी मालूम होती है । राजा के इतना कहने पर शशि-प्रभा शरमाई भी और हँसी भी । इन गूढ़ भावों की सरलाभिव्यञ्जना को सर्व-साधारण के बोधगम्य बनाकर पद्मगुप्त ने अपनी शैली में परिहासप्रियता का परिचय दिया है ।

इदं वदाशिक्षितकैतवं कृतं तद्यैप मुग्धे सरलाङ्गुलिः करः ।

सहैतदालिख्य शिलातले शनैरनेन लीलाकमलं यदुज्झितम् ॥ (७५२२)

हे मुग्धे ! यह तो बताओ कि तुम्हारे इस सीधी अंगुलियों वाले हाथ ने इतना टगपन कहाँ से सीखा कि स्वयं शिलातल पर चित्र बनाया और फिर शीघ्र ही उसे कर्णकमल से ढँक दिया, जिससे और कोई उसे न देख सके ! यह कैसी चातुरी है !

इस प्रसंग को देखकर यह कहा जा सकता है कि परिहासप्रियता भी पद्मगुप्त की शैली का एक तत्त्व है और उसको कवि बड़ी सफलता के साथ निभाता है ।

अपहतुमगास्त्वमेव हारं किमितः कल्पितराजहंसरूपः ।

विदितोऽसि घना तघोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता । (५१६६)

परवञ्जनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा न-द्र
इदमाभरणं हरस्यरण्ये हरहासैकसित शशिप्रभायाः ॥ (५।७०)

जब पाटला राजा के समीप भाइ और राजा के पास उसने इस द्वारा अपद्वत शशिप्रभा के हार को देखा तो वह बोली, “हे नरेन्द्र ! यह तो बताओ कि यह हार तुम्हारे पास कैसे आया ? क्या कल्पित राजहंस का रूप धारण करके तुम ही तो हार चुराने नहीं गये ? क्योंकि नागलोक में तुम्हारे बहुरूपी होने को नाना कथाएँ सुनी जाती हैं । यदि ऐसी बात न होती और तुम दूसरे को घोखा देने में निपुण न होते तो यह हार तुम्हारे पास कैसे आता ?” फिर उसने कहा कि “मैं तो समझती थी कि तुम पृथ्वी का शासन करते हुए अपने राज्य में अग्निवय को लेशमात्र भी न सहते होगे । तब यह मताश्री कि तुम स्वयं ही इस प्रकार चोरी का सा इत्थं क्यों करने लगे ? महाराज ! यह मजाक ठीक नहीं । आप हमारा हार दे दीजिये । न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरों का द्रव्य हरण करने में क्या लज्जित नहीं होते ?” पाटला की यह व्यंग्योक्तियाँ वस्तुतः अति स्वामार्मिक हैं और व्यावहारिक भी । इनमें वाक्पटुता का पूर्ण परिचय मिलता है । इस शैली से परिमल पद्मगुप्त को भावाभिव्यक्ति में निखार आ गया है ।

इन सर विवेचनों के द्वारा हम यह कह सकते हैं कि पद्मगुप्त कवि की शैली में मुकुमारता के साथ अभिव्यञ्जनात्मकता अधिक पाई जाती है, और ओज का भी पुट उसमें मिलता है । लालित्य तो इस कवि की शैली का प्रधान गुण है ही । भाषा की दुरुद्धता से पद्मगुप्त की शैली दूर ही है । इस कवि की शैली में सरिल्लिप्त एव चित्रोपम प्रकृति चित्रण का भी प्रमुख स्थान है । इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है ।

नरसाहसाकचरित की छन्दोयोजना^१

काव्य में छन्दोयोजना का महत्त्व यद्यपि भावाभिव्यक्ति के लिए ही होता है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि औचित्य की दृष्टि में रसकर ही छन्दों का प्रयोग करना, उनके उत्कर्ष को बढ़ाना होता है । इस विषय में आचार्य जेमेन्द्र ने लिखा है ।

काव्ये रसानुसारेण वर्णनागुणेन च ।

बुद्धीत सर्ववृत्तानां विनियोग विभागवित् ॥

१ विशेष जागरूकी के लिए देखें पुस्तक ‘पद्मगुप्त और छन्दोयोजना’ ।

काव्य में रसौचित्य की दृष्टि से और वर्ण्य विषय की मनोहारिता की दृष्टि से छन्दों के विभाग को जानने वाले कवि को चाहिये कि वह छन्दोयोजना करे ।

वस्तुतः यह बात सत्य भी है कि छन्दोयोजना की सफलता पर भी काव्यसौन्दर्य की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है । इसलिये महाकवियों ने विविध भावों, रसों और विषयों के वर्णन के लिये विविध प्रकार के छन्द अपनाये हैं । कवि का छन्द पर इतना अधिकार होना चाहिये कि चाहे वह कैसा भी छन्द क्यों न हो, यदि उसे वह उचित स्थान पर स्थित कर दे तो वह अयोग्य वृत्त भी सुयोग्य जान पड़ने लगे और उद्देश्यपूर्ति में सहायक भी सिद्ध हो । वाल्मीकि और व्यासादि कवियों ने इसी प्रकार साधारण-साधारण छन्दों को लेकर उन्हें ऐसा चित्ताकर्षक बना दिया कि उनके उद्देश्य की उनसे पूर्ति हो गई । प्रारब्ध-पूरण की सिद्धि इसीलिये वे कर सके । कविशासन के कारण ही छन्दों की सफल योजना होती है । कवेः श्रुतस्य शासनान्— छन्दोपयोगिता प्रौढ शासन वाले कवि के शासन से ही उत्कर्षजनक होती है ।

कालिदास आदि महाकवियों को इसीलिये अपने काव्यों में उचित छन्दो-योजना का ध्यान रखना पड़ा होगा । उन्होंने जहाँ भी जिस छन्द को वर्णन का माध्यम बनाया, वहाँ उसमें चमत्कार उत्पन्न कर दिया । इसीलिये तो महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में काव्यविप्लेशक आचार्य ने यहाँ तक कह दिया :

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवर्गति ।

सदृश्वदमकस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना ॥

अर्थात् कालिदास की मन्दाक्रान्ता (छन्द) कालिदास के वशीभूत है, और मन्द एवं त्वरित क्रान्ति से उसी भाँति अपनी गति दिखाया करती है, जिस प्रकार प्रथम श्रेणी के बुड़सवार (अश्वारोही) के वश में भाई हुई काबुली घोड़ी उसके दशारे पर अपनी चाल चला करती है । इस तथ्य में कवि की और अश्वारोही की शासनशक्ति से उद्भूत द्वन्द्व और तुरगाङ्गना की सुवश्यता पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे सुविदित हो जाता है कि वृत्तयोजना पर कवि का पूर्ण अधिकार होना चाहिये ।

परिमलपद्मगुप्त ने भी छन्दोयोजना पर पूर्ण ध्यान रखा । उसका छन्द पर पूर्ण अधिकार भी था । यद्यपि उसे वाल्मीकि एवं व्यासादि महा-कवियों जैसा प्रारब्धपूर्ण यश न मिल सका, और न कालिदास की भाँति उसके लिए ऐसी कोई प्रशान्ति ही कही गई, तथापि यह कहा जा सकता है कि परिमलपद्मगुप्त का भी छन्दोयोजना पर पूरा ध्यान था और उसने भी छन्दोयोजना में पूर्ण सफलता प्राप्त की । इसकी पुष्टि क्षेमेन्द्र के कथन से हो जाती है । क्षेमेन्द्र ने वृत्तविवेचन के अन्त पर लिखा है :

आकारेऽपि कृते पूं बन्धेऽल्पपदपेशले ।
यस ततिलक घत्ते निर्गन्धिय रमणीयताम् ॥

जिस में आकार की सुसंगठितता हो और उसका बंध में ऐसा सन्निवेश किया गया हो, जिस से उसमें अल्पपद हो, पर सुसुबुर हो और जो निर्गन्धिय अर्थात् दीर्घ समासाध्य से मुक्त हो ऐसी वसन्ततिलका (छन्द) अत्यन्त रमणीय लगती है । यह वसन्ततिलका की विशेषता ज्ञेमेन्द्र ने बताई है, और उदाहरण में कहा है—यथा परिमलपद्मगुप्तस्य “अच्छासु हस” इत्यादि ।

वसन्ततिलका की विशेषता को प्रदर्शित करने के लिये ज्ञेमेन्द्र ने पद्मगुप्त के ही छन्द को लिया । इससे विदित होता है कि पद्मगुप्त की छन्दोयोजना ज्ञेमेन्द्र का प्रिय पथ निर्दोष ज्ञान पड़ी, तभी तो उसने कालिदासादि कवियों की वसन्ततिलका को उ लेकर पद्मगुप्त की वसन्ततिलका को उदाहरण रूप में दिया, और देगा काय तो बात उचित ही जान पड़ती है । पद्मगुप्त ने वसन्ततिलका का प्रयोग उचित रूप से किया है ।

श्रान्तासि कौतुकहृतेन वदथितासि प्रदनैरनेन विहितो न तपोपचार
आतिथ्यमेप कुरुते परमङ्गलोत्पासवाहनैश्चतुरो निचुलानिलमन्ते ॥

(६४६०)

इस छन्द में स्वयं ही पदपेशलता और निर्गन्धियता देखी जाती है । आठवर्ग के अन्त में भी इसी छन्द की योजना का गढ़ है । दूसरे वर्ग के उपान्त में

म्रम कियन्थ पथञ्चन कालमल्पम् अत्रात्रपत्रनयने नयने निमील्य ।
हेमाञ्जुर्ज तरुणि उत्तरसाऽपहृद्य देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥

(१०६६)

इसमें ऐसी योजना छन्द में की गई है, जिसमें मृदु और अस्मत्प्रता का कारण वास्तविक रमणीयता प्रतीत होती है, और भावीचिन्त्य की सृष्टि महुँ है । निराशा और आश्वासन का भाव किस माति छन्द की उपयोगिता से प्रकट हो जाता है, यह सहृदय स्वयं देख लें । ११ वें तथा १३-१८ वर्गों में भी इसी प्रकार वसन्ततिलका का औद्भय देखने को मिलता है । वसन्ततिलका की इसी रमणीयता पर मुग्ध होकर ज्ञेमेन्द्र ने उक्त बात लिखी होगी ।

इसके अतिरिक्त और छन्दों के विषय में भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त के सभी छन्दों में औचित्य का पूर्ण समावेश है ।

सुखार्द्रिप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेशनाम् ।

रत्नानामिव घृत्ताना भवत्यभ्यधिका रुचि ॥

इस श्लोक पर विचार करते समय यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जो कवि वृत्त (छन्द) का निवेश यथास्थान करते हैं, उनके वृत्तों में वही उपयोगिता मनोहारिता एवं आकर्षकता आ जाती है, जो उपयोगी और महार्घ रत्नों में होती है, प्रबन्ध काव्य के लिये यह भी महत्त्व की बात होती है कि ऐसे काव्य का निर्माण करनेवाले कवि को सुन्दर सन्निवेश वाली वृत्तयोजना को अपनाना चाहिये। पद्मगुप्त ने छन्दों का यथास्थान निवेश किया है, और प्रतिभादारिद्र्य व्यक्त न हो, इसलिये विविध छन्दों की योजना भी की है। कवि ने मालिनी, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, रथोद्धता, उद्गता, पुष्पिताम्रा, शिखरणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, प्रहर्षिणी आदि विविध छन्दों का प्रयोग अपने महाकाव्य नवसाहस्राक्षरित में किया है। अष्टम सर्ग में रथोद्धता की उपयोगिता का उचित सन्निवेश और सौन्दर्य देखिये :

लज्जया वलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम् ।

तस्य वर्तितमिवाभवत्तदा तत् प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥

(८२२)

लज्जा के भाव में मुख मोड़ना आदि की चेष्टा का द्योतन उसी प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे इस छन्द की गति। वस्तुतः यहाँ पर रथोद्धता ही प्रयुक्त होने योग्य है। उसकी गति में लज्जाजन्य चेष्टा विवर्तित होती दिखाई देती है। इस प्रसंग में सिन्धुराज की भी उन चेष्टाओं का वर्णन है, जो उसने शशिप्रभा की प्राप्ति के लिये की हैं। उसके लिये उसे यत्र तत्र गमन भी करना पड़ा और नाना आश्चर्य उसके सामने आये। इन लघु या बृहत् घटनाओं में जो कुछ भाव व्यक्त होना था या जो वर्णन की रोचकता लानी थी, वह रथोद्धता के द्वारा समुचित रूप में लाई जा सकी है।

रथोद्धता विभावेपु भव्या चन्द्रोदयादिपु—यह बात भी पद्मगुप्त की छन्दोयोजना में घटित हो जाती है। यथा—ग्लानिमाप स तथा विना नृपः ।

प्रस्थितस्तदनु सोद्यमं पुरः सोऽथ साहसवतां पुरःसरः ।

निर्मितं मणिमयूखपल्लवैर्वालमातपमिव व्यलोकयत् ॥ (८६०)

इसमें भी साहस की उद्गता एवं संयमित भावना का दर्शन छन्दोयोजना की विशेषता के कारण ही होता है।

बाह्य चित्रण की विशदता के लिये इस कवि ने उपजाति और वंशस्थ का विशेष उपयोग किया है। किन्तु जहाँ संकोच और विस्तार की भावना को व्यक्त करना हुआ, वहाँ पुष्पिताम्रा को भी विशेष रूप से ग्रहण किया है। हंस की गति का वर्णन करने में इस छन्द का उपयोग करके अन्त में वसन्ततिलका ।

से उसे और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। यह पद्मगुप्त की विशेषता ही है। वह छन्दों के सुसन्निवेश में अतिदक्ष है।

शृ गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादितदद्गञ्च सच्छायमुपचातिभि ॥

कवि को इसका भी ध्यान रखना पड़ता है, और पद्मगुप्त के काव्य में हम इस बात को पूर्णतः पाते हैं। श्रुतवर्णन में उसी उपजाति छन्द की ही लिया है। भारवी ने उद्गता का प्रयोग किरातार्जुनीयम् में अज्ञा की तपस्या के प्रसंग में किया है। उसने अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके उसे वहाँ उचित रूप में रच दिया, पर पद्मगुप्त ने उसी छन्द का सुन्दर सन्निवेश जलक्रीडा के प्रसंग में किया है, और अपने छन्दसुवशता के बल पर उसको सफल भी बना दिया। त्रिपदागत उपयोगिता के कारण पद्मगुप्त की छन्दोयोजना उत्तम कोटि की है।

इसके अतिरिक्त यह भी माय शास्त्रीय पक्ष है कि यदि किसी सर्ग का अन्त वसन्ततिलका अथवा मालिनी अथवा पुष्पिताम्रा से किया जाता है, तो वह कवि की छन्दोयोजना-चातुरी की विशिष्टता ही होती है।

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में इसका यथावत् पालन किया गया है। परिमल पद्मगुप्त के काव्य में भी यही बात है। प्रथम और चतुर्थ सर्ग का अन्त वसन्ततिलका से हुआ है। पंचम सर्ग का अन्त मालिनी से हुआ है। षष्ठ सर्ग का प्रहर्षिणी से और आठवें सर्ग का अन्त भी वसन्ततिलका से किया गया है। नवम सर्ग का अन्त पुष्पिताम्रा से हुआ है। अन्य कवियों की मूर्ति ही पद्मगुप्त ने इस परिपाटी को अपनाया है।

पद्मगुप्त का वृत्तवैचित्र्य उसकी प्रतिभासम्पन्नता को द्योतित करता है। उसके छन्दों के उपनिवेश के कारण ही रत्नानामिव वृत्तानाम् भ्रजस्यभ्यधिका रुचि की भाँति उसके प्रति चरितार्थ हो जाती है।

अन्त में हम यह कहेंगे कि जिस प्रकार कालिदास की मन्दाकाता की विशेषता सस्मृत साहित्य में अपना स्थान रखती है, उसी भाँति पद्मगुप्त की वसन्ततिलका और पुष्पिताम्रा का भी स्थान साहित्य में छन्दोयोजना की दृष्टि से उत्तम कोटि का है। इसीलिये पद्मगुप्त के लिये कहा जा सकता है

वसन्ततिलका वाणी पुष्पिताम्रा सुगुम्फिता ।
काव्ये परिमलापूर्णा पद्मगुप्तस्य शोभते ॥

उपसंहार

परिमल पद्मगुप्त और नवसाहसांकचरित के सम्बन्ध में इस प्रस्तावना में जो कुछ भी विचार व्यक्त किये गये हैं, उन सब के निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त का व्यक्तित्व जिस रूप में उपस्थित हुआ है, वह कविप्रतिभा का सुन्दरतम निदर्शन है।

पद्मगुप्त ने नवसाहसांकचरित लिखकर संस्कृतसाहित्य को एक अमूल्य देन दी है। नवसाहसांकचरित की सौन्दर्य और शृंगारप्रियता को आदर्शोन्मुख बनाकर पद्मगुप्त ने परम पुरुषार्थ काम की सफलता को जनता के सामने रखा। गीता के “कामोऽस्मि सर्वेषाम्” के व्यापक रूप और व्यापक प्रभाव को नवसाहसांकचरित पूर्ण रूप से चरितार्थ कर देता है। इसके मूल में जीवन की सार्थकता का पुट है। उसी सार्थकता को पद्मगुप्त ने व्यावहारिक रूप देकर स्पष्टहणीय बना दिया है।

इतना महाकाव्य लिखने पर भी पद्मगुप्त अपने विषय में मौन ही रहा। यह भी उसकी संस्कृतसाहित्य के सर्वसाधारण कवियों की ही भाँति निःस्पृह भाव की ही स्थिति रही है।



कथासार

जब प्रशस्त अत करण की पृत भावनायें व्यापक होने लगती हैं, तब किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए उनको एक साथ सीमित वातावरण में अपने तक ही रखना कठिन हो जाता है। उदात्त पावस-नदी की भाँति जब भावनाओं का प्रवाह वह निकलता है, तब उसमें लुप्त नदियों की भाँति कई लघु भावनाएँ भी मिलकर एकाकार होकर उसे बजवती बना देती हैं। यहाँ से भावनाएँ एक धारारूप में उद्भूत होकर मनोहारिणी होती हुई अनेक अत करणों की उदात्त वृत्ति की उद्बोधिका हो जाती हैं।

साहित्य की सृष्टि यहाँ उदात्त, प्रशस्त और मंगलमयी भावना की आधार भूमि पर होती है, तभी विचारशील सद्दय कुलु लिखने के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं। उनकी ये भावनाएँ लेखनरूप में आकर अधिक प्रभावोत्पादिका हो जाती हैं, और तब वे यश, अर्थ, व्यवहारशास्त्र और मंगलमय प्रसन्नो की प्रस्तुतिका बनायास ही हो जाती हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त कविवृत्ति का यत्न भारी ध्येय इन (आनन्द)तरंगों में मानव की आत्मविम्बुति करा देना होता है। यही सफल कवि की वृत्ति का उद्देश्यजय प्रभाव होता है। इसलिए आज हम देखते हैं कि यह सृष्टि उही यशस्वी व्यक्तियों पर चरितार्थ सी जान पड़ती है

जयन्ति ते सुकृतिनः रसमिद्धा कवीश्वरा ।

नास्ति येषा यश काये जरामरणजं भयम् ॥

यही जीवन की सार्थकता भी है। आज कालिदास, भवभूति, वाण, दण्डी, माघ, भारवि आदि सरस्वती के वरदपुत्र इसीलिए स्तुतय हैं, इसीलिए उनकी कीर्ति गीय है, क्योंकि उन्होंने मानव के अत करण की उदात्त भावनाओं को साधत करने के लिए, उसे मंगलमय पय दिखाने के लिये, उसक मान सोल्लास के लिये अग्रणी वह अमर मुधास्यदिनी वाणी दी है, जिसका भवण, मनन एव अध्ययन करके हम अपने को धन्य समझते हैं।

इस सन्दर्भ में हम परिमलपद्मगुप्त को भी भूल नहीं सकते। परिमल पद्मगुप्त ने अपने समय में जिस प्रकार की साधना में लगकर हमें नवसाहस्राब्द चरित जैसा महाकाव्य दिया, वह सदैव स्मरणीय रहेगी। यहा पर हम उस कथा से पाठकों को परिचित करा देना चाहते हैं, जो पद्मगुप्त ने नवसाहस्राब्दचरित में निबद्ध की है।

नवसाहसार्कचरित की कथावस्तु का सार

उज्जयिनी में वाक्पतिराजदेव नाम के महीपति महाकवि हुए हैं। उन्हीं के छोटे भाई सिन्धुराज नवसाहसार्क बड़े वीर, साहसी, काव्यकला-मर्मज्ञ, विद्वत्प्रेमी और आनन्दी राजा थे, जो समस्त कार्यभार का संचालन यशोभट उपनामक मंत्री रमांगद की सहायता से करते थे। रमांगद भी अति विचक्षण बुद्धि का कार्यकुशल व्यक्ति था।

एक दिन सिन्धुराज की इच्छा आखेट करने की हुई। रमाङ्गद को साथ लेकर वह विन्ध्याचल की वनभूमि में शिकार खेलने गया। इधर-उधर भ्रमण करते हुए उसने एक इन्द्रधनुषी आकृति के विचित्र मृग को देखा, जिसके गले पर सोने की शृंखला बंधी थी। राजा का चित्त उस मृग की ओर आकृष्ट हुआ। वह मृग के पीछे चला। मृग उसे घनघोर, वीहड़ वन के बीच ले गया। राजा ने उस पर अपना नामांकित शर चलाया। मृग वाण से विद्ध होकर भागा। राजा उसे हूँदते नर्मदा के किनारे की ओर बढ़ने लगा। इसी बीच एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। एक राजहंस विचित्र मोतियों का हार लेकर सामने आता हुआ दिखाई दिया। वह चोच में हार को बांधे राजा की ओर आया। राजा उस हार को ग्रहण करने के लिये चला। बहुत दूर तक घने जंगल में मार्गक्रमण करने से राजा, रमांगद और हंस—तीनों ही थक गये। पुनः हंस एक स्वच्छ सररोवर के पास उस हार को छोड़कर पानी में कूद पड़ा। राजा ने हार को उठा लिया। पास में ही अशोक वृक्ष के नीचे पल्लवों का आसन रमांगद ने लगा दिया और राजा उस पर लेटकर हार की सुन्दरता को देख कर मुग्ध होने लगा। फिर हारमध्यमणि पर सुन्नर लिपि में “नागराजकथा शशिप्रभा” लिखा हुआ देखा। उसको पढ़ते ही राजा शशिप्रभा के बारे में सोचने लगा और कामासक्त हो गया। रमांगद ने राजा को बहुत कुछ समझाया, पर राजा का मन शान्त न हो सका।

उधर शशिप्रभा का मृग घायल होकर उसके पास पहुँचा। शशिप्रभा ने अपने हाथ से उस वाण को निकाला। उसने वाण को ध्या से देखा तो उस पर “सिन्धुराजनवसाहसार्क” लिखा था। वह भी राजा के नाम को पढ़कर राजा से मिलने के लिए उत्सुक हो गई, क्योंकि वह भी पातलोक में उसकी महिमा को सुन चुकी थी। दोनों ओर दोनों की विचित्र दशा थी।

जब राजा को रमांगद समझा रहा था, उसी समय दूर से एक सुन्दरी स्त्री हाथ में चर लेकर आती हुई दिखाई दी। राजा और रमांगद उसको इस विजय वन में एकाकिनी घूमती हुई देखकर आश्चर्य कने लगे। जब

वह पास पहुँच गई, तब उसने अपना परिचय राजा से कराया। फिर रमागद ने उसके साथ राजा का परिचय कराया। उसने अपने निर्जन बन में घूमने का कारण यह बताया कि हमारी राजकुमारी पाताललोक से घरती पर घूमने आई थी। वह नर्मदा के तट पर जब कुछ दिशाम करने लगी तो एक हंस मृगालतप्तु के धोखे में उसके हार को लेकर न जाने कहाँ चला गया। उसी को ढूँढने के लिए हम लोग इधर-उधर भटक रहे हैं। मैं नागराजपुत्री की चवरधारिणी पाटला हूँ। यदि आप लोगों ने उस हंस को कहीं देखा हो तो कृपया बता दीजिए।

कुछ देर बाद वह बोली—“हे राजन्! आपकी घरती पर आकर हम लोग इस भाँति एक पत्नी के द्वारा लुट जायँ और आप उसका कोई भी प्रातकार न करें, यह कैसा न्याय है!” राजा ने कहा—“सुन्दर! हम तुम्हारे हार को ढूँढने की चेष्टा करेंगे, तब तक तुम मेरे इस हार को अपनी राजकुमारी को दे दो।” पाटला ने राजा के हाथ में बाणों को देकर यह अनुमान किया कि मृग को भी इसी तरह का बाण लगा है, तो इसी राजा ने उस पर बाण चलाया होगा। फिर पाटला बोली, “हे मृग! आपका बाण हमारे मृग के शरीर पर लगा है। आप चाहें तो चलकर अपना बाण लें। नर्मदा के तट पर हमारी सखी बठी हुई आपके नामाक्षरों को पढ़कर ध्याकुल सी हो रही है। यदि छत्र न हो तो मेरे साथ आप वहाँ तक चलें।”

रमागद की सलाह लेकर राजा वहाँ चलने के लिए प्रस्तुत हो गया। आगे-आगे पाटला चल रही थी और उसके पीछे ये राजा और रमागद। वहाँ पहुँचने पर पाटला ने राजा से राजकुमारी का परिचय कराया। दोनों एक दूसरे को देखकर मुग्ध हो गये। पास की एक शिला पर शशिप्रभा क मनोविनोद के लिए उसकी सखी शनगवती ने राजा का चित्र बना रखा था। वह एक बार महाकालेश्वर की पूजा के लिए उज्जयिनी आई थी और उसने नृपति को देख रखा था। शशिप्रभा ने उस चित्र को अपने हाथ क कमल से रक दिया। राजा ने उससे कहा कि यह कौन पुण्यात्मा है या तुम्हारी किस प्रिय सहेली का यह चित्र है, जिसे तुम इतना धिमाकर रखना चाहती हो। इस बात को सुनकर उसकी सहेलिया भी मजाक करन लगी। वहा पर उस समय एक आनन्दमय वातावरण उपस्थित हो गया था। सदसा आकाश में काले मेघ छा गये। चारों ओर स आधा चन्दा लगी। मेघार्चना सुनकर शशिप्रभा भयभीत हान लगी। राजा ने कहा—‘नागराजकन्ये [डरो मत, मेरे पास चली आओ]’ वह जैसे ही राजा के

पास आने लगी कि एकाएक आकाशवाणी सुनाई दी—“राजन् ! व्यथ की मृगतृष्णा न करो, तुम शशिप्रभा को नहीं पा सकते हो, हे शशिप्रभे ! तुम वापस लौटकर अपने पिता के पास चली जाओ ।” आकाशवाणी को सुनते ही शशिप्रभा आकाश की ओर उड़ती हुई दिखाई दी । पर वह राजा के प्रति आसक्त होने के कारण दुखी थी । शशिप्रभा के अदृश्य हो जाने पर राजा अत्यन्त दुखी हुआ । आकाशवाणी गूँजती हुई पुनः राजा को सुनाई दी कि “जो इसकी प्राप्ति के लिए साहस करेगा, उसी को यह मिल सकेगी । देखो, यह तुम्हारे सामने से ही विलीन हो रही है, तुम जो कुछ कर सकते हो करो ।” कुछ समय पश्चात् सारा वातावरण शान्त हो गया, मेघमाला नष्ट हो गयी । वायु अपनी गति पर चलने लगी । नर्मदा भी यथावत् शान्त रूप से बहने लगी । राजा को अपने बल तथा पुरुषार्थ पर लज्जा आने लगी कि मेरे देखते-देखते ही वह लुप्त हो गई और मैं कुछ भी न कर सका !

इसके पश्चात् सारसों की ध्वनि में मानो रेवा की वाणी राजा को सुनाई दी कि “नृप ! दुःख मत करो, तुम्हारी प्रिया इसी रास्ते से गई है, यह उसके पदचिह्न बने हैं, यहाँ पर एक बड़ा भारी विल है, उसी मार्ग से वह रसातल चली गई है । राजा धनुष-बाण सजाकर रमांगद के साथ नर्मदा के तीर पर आया और नर्मदा के जल में कूद पड़ा । रमांगद भी उसी के साथ नदी में कूद गया । नर्मदा ने राजा को धन्यवाद दिया और उस विल को उसे दिखा दिया, जिसमें से होकर शशिप्रभा गई थी । राजा और रमांगद उस विल में प्रविष्ट हो गये । उस अन्धकारपूर्ण विल में राजा ने एक भयानक सिंह को देखा । सिंह राजा की ओर भ्रमपटा । राजा ने उस पर बाण छाड़ा । फिर वहाँ राजा ने एक क्रुन्द के पेड़ को देखा । इसके बाद जब कुछ और आगे बढ़ा तो एक भयानक मदोन्मत्त हाथी उसे रास्ते में मिला । राजा ने जब उसे मारने के लिए बाण उठाया तो वह अदृश्य हो गया ।

राजा अपने साहस से इन भयानक दृश्यों का सामना करके उन पर विजय पाता गया । इसी भाँति नदी को पार कर वह अन्धकारपूर्ण विलमार्ग से नागराज की राजधानी भोगवती नगरी में पहुँचा । उस नगर की शोभा भी अनिर्वचनीय ही थी । उसके भवन इन्द्रनील मणियों से सजे थे, स्फटिक-शिला के आँगन बने थे । स्वर्ण के द्वारों से वह सुशोभित थी । सभी भवनों के कपाट स्वर्णमण्डित थे । आश्चर्य के साथ उस नगरी को देखता हुआ राजा सिंहद्वार को पार कर अन्दर गया । उसने देखा कि वहाँ के भवनों के गवाक्ष मूंगों से जड़े हैं, उनकी लालिमा को देखकर प्रतीत होता था, मानो संघ्या यहीं वास किया करती है । एक स्थान पर

पद्मराग मणियों के बने हुए चबूतरे के बीचोबीच स्वर्णकान्ति की माधवी लता लगी हुई थी। अपनी थकान को मिटाने के लिए जब सिन्धुराज उस लता के समीप जाने लगा, तब उसने बिल के गर्भ से निकलने वाली भी की भाँति स्वर्णपृष्ठ से निकलती हुई एक स्त्री को देखा। वह अद्भुत कान्ति से विराजित थी। नीले कपड़ों को पहन कर वह जमुना नदी की भाँति दिखाई दे रही थी। उसका मुख चन्द्रकान्ति को भी जीतने वाला था। वह एक हाथ में अक्षत, दधि, दूर्वा आदि सामग्री से पूर्ण पात्र लिए थी और दूसरे हाथ में स्वर्ण कमल लिए थी। पास में ही आस की शाखा पर लटकते हुए पिंजरे में एक तोता था। उसने देखा कि राजा उस स्त्री को देखकर निम्मित सा हो रहा है, तब उसने मनुज वाणी में यों कहा, “हे नृपते ! यह नर्मदा है, तुम्हारे अतिथि सत्कार के लिए आ रही है। आप जैसे लोग सभी के पूज्य होते हैं। हे नृप, यहाँ की नागवधुयें अपने प्रियों के साथ केलिमवनो में आप के यश को वीणा के स्वरों पर गाया करती हैं। अभी अभी शशिप्रभा अन्यमनस्का सी इसी रास्ते से गई है। उसके मुँह से मैंने भी तुम्हारे यहाँ आगमन की चर्चा सुनी है।” राजा ने तोते की बात ध्यान से सुनी और नर्मदा को प्रणाम किया। नर्मदा ने विधि विधान से राजा का सत्कार किया, और प्रश्न किया कि आपने किस प्रयोजन से इस भूमि को अलङ्कृत किया है। राजा ने मृगया-विहार से लेकर यहाँ आने तक का सारा वृत्तांत उसे कह सुनाया।

नर्मदा ने राजा से कहा—“ठीक है, यद्यपि आपने शशिप्रभा के कारण ही यहाँ तक की यात्रा की, पर मेरा भी पुण्योदय था, जो आप जैसे अतिथि को मैंने पाया। धन्य हैं वे माता पिता, जिनके आप जैसे साहसी गल होते हैं। आप शशिप्रभा के प्रति इतने दुःखी न हों, वह त्रिलोक-ललाम-भूता नागराजपुत्री आपको अवश्य मिलेगी। क्योंकि वह भी आपने वियोग में उमनी सी बनी हुई है। भला आप जैसी का वियोग किसे दुःख न देगा। चिन्ता की बात नहीं, आपको अवश्य मिद्धि मिलेगी।”

राजा ने नर्मदा की प्रशंसा करते हुये उससे कहा—“माता ! मुझे और किसी बात का दुःख नहीं, खेद इस बात का है कि मेरे देखते-देखते शशिप्रभा का हरण हो गया और मैं कुछ भी न कर सका, वह कहाँ गई, ऐसा क्यों हुआ, क्या इस विषय में आप मेरी उत्सुकता को मन्द कर सकेंगी !”

नर्मदा बोली—“हे नृप ! एक बार शशिप्रभा के पिता ने सुर, सिद्ध, उरग—सबके समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी कि जो वज्राकुश राजस के लीलायुद्ध की बावड़ी में लगे हुए स्वर्णकमल को लाकर मेरी पुत्री के कान का आभूषण बनायेगा, वही इसका पति होगा। यह सुनकर सब स्तब्ध रह गये।

मन्दोन्मत्त वन्यगज के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के समान इस कठिन कार्य को कौन करता ? आप इस कार्य को पूर्ण करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। आप इस कार्य की सिद्धि के लिए प्रस्थान करें। यहाँ से कुछ दूर पर रत्नपुरी नगरी है, जिसे मयदानव ने इन्द्रपुरी के समान ही बनाया है। वही वज्रांकुश की राजधानी है। वह राक्षस देव, उरग, मानुष सभी को व्याकुल एवं पीड़ित किए हुए है। आप भी देवांश हैं, अतः रावण-विनाश के लिए राम जैसे आप भी इसके विनाश के लिए समर्थ होंगे, और उसके यहाँ से स्वर्णकमल लाकर अश्वश शशिप्रभा का कर्णाभूषण बना कर उसे प्राप्त करेंगे। रास्ते में वंङ्कुमुनि का आश्रम पड़ेगा, उनको प्रणाम कीजिएगा। वे आपकी कार्यसिद्धि के साधक होंगे।” ऐसा कहकर नर्मदा ने अपने हाथ से एक कंकण निकालकर राजा को दिया। राजा ने उसे अपने हाथ में पहना और नर्मदा अन्तर्धान हो गई। उसके चले जाने पर राजा ने अपने मंत्री रमांगद से नर्मदा ने जो कुछ कहा, उसके विषय में पूछा कि तुम क्या कहते हो ? रमांगद ने वज्रांकुश पर विजय प्राप्त करने का प्रस्ताव रखकर राजा को प्रोत्साहित किया और कहा कि आप अवश्य जयी होंगे, अब विलम्ब न कर शीघ्र अभियान कर देना चाहिए। जब आप इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो जाएंगे तो फिर नागसेना, देवसेना और गन्धर्वसेना भी वज्रांकुश के विरोध में आपकी सहायिका हो जाएँगी।

राजा ने रमांगद की बात मान ली। उसने वज्रांकुश की राजधानी की ओर रमांगद के साथ चलने का निश्चय किया। इतने में वह पिंजरे में बन्द तोता राजा से बोला—“श्रीमन् ! मैं शंखचूड़ के वंश से उत्पन्न होनेवाला रत्नचूड़ नाम का नाग हूँ। कश्यपमुनि के शाप से मैं तोता बन गया हूँ। मुनि ने कहा था कि जब नवसाहस्राब्द शशिप्रभा के पास जायेगा और तुम उसका संदेश राजकुमारी को सुनाओगे, तब अपने वास्तविक रूप में आ जाओगे। अतः अब से आपके कारण मैं शापमुक्त हो जाऊँगा। आप संकोच न करें। शशिप्रभा को जो सन्देश कहना हो, कहिये, मैं उस शशिप्रभा तक पहुँचाऊँगा।” राजा ने उसके कथनानुकूल शशिप्रभा को सन्देश भेजा। उसने अपनी मानसिक दशा का पूर्ण चित्रण किया। तोता रत्नचूड़ उस सन्देश को लेकर शशिप्रभा के पास पहुँच गया और राजा वज्रांकुश की राजधानी की ओर चल पड़ा।

शत्रुजयार्थ प्रस्थान करने पर वह वंङ्कुमुनि के आश्रम पहुँचा। आश्रम के सौन्दर्य से राजा को बड़ा आनन्द मिला। वहाँ महातपस्वी सिद्ध वंङ्कुमुनि को राजा ने प्रणाम किया। मुनि ने राजा से उसका सारा वृत्तान्त पूछा। रमांगद ने राजा का परिचय देकर शशिप्रभा का वृत्तान्त भी कह सुनाया।

फिर मुनि ने कहा, “घन्य है तुम्हारा साहस । शीघ्र ही शशिप्रभा तुम्हारी रानी बनेगी, तुम चिन्ता न करो । कुछ दिन यहाँ आश्रम में रह कर आराम कर लो, बाद में चले जाना ।” राजा ने कहा, “प्रभो ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है” और राजा कुछ दिन वहीं रुक गया ।

एक दिन स्वप्न में राजा ने शशिप्रभा को देखा । उस स्वप्न ने राजा को धैर्यहीन कर दिया । शशिप्रभा से मिलनोत्सुकता ने उसे व्याकुल कर दिया । वह शशिप्रभामिलन की कल्पना में मग्न था, इसी बीच उसकी दक्षिण भुजा विशेष रूप से पटकने लगी । वह विचारमग्न ही था कि इतने में उसे ब्रह्मुनि आये दिखाई पड़े । समीप आने पर मुनि ने राजा से प्रश्न किया—“आपकी पकान दूर हो गई ?” राजा ने उत्तर दिया—महाराज, आपके चरण के रज कणों के स्पर्श से ही मेरी यकान दूर हो गई थी । चन्द्रकिरणों का दर्शन पाने पर मला कुमुदिनी कभी कान्तिहीन हो सकती है ! महाराज ! मैं आपके दर्शन से ही अपने को घन्य समझता हूँ ।”

दृढ़ता बातें हो ही रही थी कि राजा ने सहसा आश्रम के एक दाहिम वृक्ष पर फल ग्रहण करते हुए एक कपि को देखा । वह कपि उस दाहिम वृक्ष को त्याग कर शीघ्र ही राजा और मुनि के मध्य में आकर खड़ा हो गया । उस बादर ने राजा को एक अनार दिया । राजा को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सीतान्वेषण का सहायक यह हनुमान ही आया है, और उसे भेंट अर्पित कर रहा है । राजा नार-नार उस फल को देख रहा था, उसकी लालिमा को देख कर उसे शशिप्रभा के अचरों का स्मरण ही आया । राजा का हाथ कम्पायमान हुआ और वह फल धरती पर गिर कर फूट गया । उससे एक लालमा वहाँ पर फैल गई, मानो शिव के तृतीय नेत्र की झाला फैली हो । राजा ने सहसा नर्मदा के दिये कर्कण को कपि के हाथ में पहना दिया । कर्कण पहनते ही वह कपि एक श्यामाकृति का पुरुष बन गया । उसने विस्मित मुनि, राजा और रमाकन्द को प्रणाम किया । मुनि ने उससे पूछा, “इस आश्चर्य का कारण क्या है ? तुम कौन हो ? कैसे तुम कपि बने हुए थे ?” उसने कहा—“महाराज, मैं शिखण्डकेतु का पुत्र हूँ, मेरा नाम शशिखण्ड है । मेरे पिता विद्याधरराज हैं । मैं शशिकान्त पर्वत का निवासी हूँ । एक बार मैं मण्डीप में वहाँ की सर्वसुन्दरी मालती को देखने गया । उसे मैंने देखा और वह मुझ पर आसक्त हो गई । मैं उसे लेकर आकाशमार्ग से चलने लगा । कुछ देर बाद हम समुद्र के ऊपर उड़ने लगे । इतने में मालती का सीमन्त चूडामणि गिर पड़ा । मैं उसे पकड़ने की चेष्टा करता रहा, पर वह समुद्र में गिर ही गया । मैं उसकी प्राप्ति के लिए समुद्र में प्रविष्ट

हुआ। मैंने देखा कि उस मणि को हाथ में लेकर एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या ममता की मूर्ति जैसी एक आश्रम में जा रही है। मैंने उससे बार-बार अपनी प्रिया का सीमन्त-चूड़ामणि माँगा। बारबार माँगने पर भी जब उसने वह नहीं दिया, तब मैंने उसकी मकराकृति पादुकाएँ हरण कर लीं। उसने हल्ला मचाया कि क्या यह आश्रम निर्जन हो गया, जो कोई भी मेरी सहायता नहीं कर रहा है? इस दुष्ट ने मुझे लूट लिया। ऐसा कह कर वह जोर-जोर से रोने लगी। उसकी क्रंदन-ध्वनि को सुनकर रत्नशिलाग्रह में एक महातपस्वी मुनि बाहर आया। उस लड़की ने उनसे कहा, “महाराज! आपके आश्रम में इस दुष्ट नीच ने मेरी रत्नजटित पादुकायें छीन ली हैं।” जब तक मैं भी कुछ कहने ही वाला था कि उस मुनि ने भृकुटि चढ़ाकर आँखें लाल कर कहना आरम्भ किया—“दुष्ट, तुझे ज्ञात नहीं कि मेरे आश्रम में बिना मेरी आज्ञा के पवन भी एक तिनका हरण नहीं कर सकता? और तू अत्रला के आभूषण का अपहरण करना चाहता है? जा, इस महापराध के कारण तू कपि वन जा।” इस प्रकार उसने मुझे शाप दे दिया।

मुनि का क्रोध शान्त हो जाने पर मैंने प्रार्थना की—“भगवन्, मेरी भवितव्यता ही ऐसी थी, पर अब यह बतायें कि मेरे इस शापका अन्त कब होगा?” उसने कहा, “जब वंकुमुनि के आश्रम में आकर सीयकराजपुत्र सिन्धुराज नर्मदा के दिए हुए कंकण को तेरे हाथ में डालेगा, तब तू शाप से मुक्त हो जायगा। इसी प्रतीक्षा में मैं आपके आश्रम में रहता था। आज इस नृप ने मुझे शापमुक्त कर दिया। महाराज, अब मैं यदि अपने शरीर को देकर भी इस नृपति का प्रत्युपकार कर सकूँगा तो मैं अपने को धन्य समझूँगा। मुझे कोई काम बतायें जिससे मैं इस नृपति से उन्मृण हो सकूँ।”

राजा ने भी शशिखण्ड से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विद्याधर-पुत्र भी अपने घर न जाकर राजा के कार्य की सिद्ध करने के लिए सचेष्ट हो गया। उसने कहा, “महाराज, आप वज्राकुश राक्षस पर आक्रमण करें। विद्याधरों की समस्त सेना आपके साथ होगी। इतना कह कर वह राजा के लिए एक रथ लाया। राजा, रमांगद और शशिखण्ड तीनों वंकुमुनि के निर्देशानुसार वज्राकुश पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़े। आश्रम से चल कर आकाशमार्ग से उनका रथ चलने लगा। उसकी गति को विद्याधर, गन्धर्व, नाग सभी देखने लगे। आकाश-मार्ग से दर्शनीय नाना प्रकार के दृश्यों को देखते हुए वे वज्राकुश के निवास से थोड़ी ही दूर पर पातालगंगा-तट पर उतरे। वहाँ विद्याधरों द्वारा निर्मित निवासस्थान पर पहुँच कर राजा ने विभ्राम किया। गंगा में स्नान कर पथजन्य परिश्रान्ति को दूर किया।

इसी बीच वहाँ पाटला भी आकाशमार्ग से आ गई। द्वार पर उसे रमागद मिला। रमागद के साथ वार्तालाप होने पर वह राजा के पास गई। उसने राजा को प्रणाम करके रमागद को पत्र दिया और संकेत दिया कि वे उसे राजा को पढ़कर सुनायें। पुन वह राजा के समीप ही बैठ गई। फिर राजा की कुशल पूछी और कहा कि “आप इस मयानक भूम में कैसे आ गये। अहो, आप बेचारी शशिप्रभा के लिए कितनी आपत्ति सह रहे हैं।”

राजा ने कहा, “पाटले ! क्या शशिप्रभा कभी हमारा स्मरण भी करती है ? अनगवती, मालती क्या कहती हैं ? नागलोक में हमारे विषय की कोई चर्चा होती है क्या ? मैंने रत्नचूड़ को अपना सन्देश देकर शशिप्रभा के पास भेजा था, क्या उसे सन्देश मिला ? तुम यहा कैसे आई हो ? तुम कुछ उदास सी दीख रही हो, बताओ तो बात क्या है ?” पाटला ने कहा, “इस पत्र में सब कुछ लिखा है। पहिले आप इसे पढ लें। रमागद ने राजा को पत्र दिया, राजा ने उसे पढना प्रारम्भ किया। उसमें लिखा था—“भीमन्, आपका कल्याण हो। मैं माल्यवती अपनी सखी शशिप्रभा के कदने से लिख रही हूँ कि जब से शशिप्रभा आप से विरुक्त हुई है, उसकी दशा चिन्ताजनक है। आपका प्रेम उसके लिए निष हो गया है। वह न विनोद करती है न शयन और न भोजन, हम गृह्त समझाती हैं, पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी मरणासन्न दशा हो रही है। दीपशिखा की भाँति वह प्रतिपल आपके स्नेह के बल पर जल रही है। अतः आप शीघ्र ही हेमपकज को लेकर आयें और शशिप्रभा के प्राण की रक्षा करें।”

पत्र पढने के पश्चात् राजा ने पाटला से कहा—“पाटला, जो दशा तुम्हारी सखी की है, क्या तुम वही दशा मेरी नहीं देख रही हो ? तुम शीघ्र जाओ और शशिप्रभा को आश्वासन दो कि मैं हेमपकज लेकर शीघ्र ही आ रहा हूँ, धैर्य धारण करो। यह न हो कि मेरा मनोरथ व्यर्थ जाय। प्राणधारण क्ये रहना।”

सन्देश पाकर पाटला चली गई।

राजा ने रत्नपुरी क प्रति गमन की इच्छा की। इसी बीच फणिकुमार रत्नचूड़ भी लौटकर वहा आ गया। वह अपनी सेना के सहित राजा के साथ चल पड़ा। विद्याधरों और नामों की सभी सेनायें सिंधुराज के साथ हो गईं।

तब सिंधुराज ने वज्राकुश के पास रमागद को दूतरूप में भेजा और सन्देश दिया कि तुम शान्तिपूर्वक हमें स्वर्णकमल दे दो। रमागद रत्नपुरी पहुँचा। वहा वज्राकुश से भेंट होने पर उसने रमागद से पूछा, “आपका यहा कैसे आना हुआ ? आप तो भव्याकृति के व्यक्ति है, आपको देखकर

प्रीतिमाव उत्पन्न होता है। मालूम होता है, आप विन्धुराज के दूत हैं। हमने आपके स्वामी के सेना सहित आगमन का समाचार पा लिया है। आपका स्वामी क्या चाहता है ? मैं याचक की प्रार्थना को कभी विफल नहीं करता हूँ, निःसंकोच कहिये, क्या चाहता है आपका स्वामी ?”

रमांगद ने कहा, “तुम वास्तव में प्रीति के पात्र हो, जो इस प्रकार स्वागत करना जानते हो। तुम नवसाहस्रों के विषय में भी सब कुछ जानते ही होगे। वे पाण्डुराजपुत्री शशिप्रभा ने पाणिग्रहण करना चाहते हैं। परन्तु उसका शुल्क तुम्हारी वावड़ी में उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकमल को देना होगा। इसलिए यह अच्छा होगा कि तुम भी उस स्वर्णकमल को देकर नवसाहस्रों के मित्र बनो, कमल देकर तुम राजा का आतिथ्य करो। तुमने स्वयं ही कहा है कि मैं अर्थियों को विमुख नहीं जाने देता।”

इतनी बात सुनकर वज्राकुश कुछ क्रुद्ध हो उठा, और व्यंग्यमयी हँसी हँसकर बोला, “तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख मालूम होते हो। कहाँ तुम घरती के प्राणी और कहाँ शशिप्रभा। ऐसी मित्रियाँ जो रत्नोपमा हैं, सदा मेरी ही गोद को अलंङ्कृत करती हैं। वह मेरी हो कर रहेगी। उसके योग्य पात्र मैं ही हूँ। मैं इन्द्रादि को भी पराजित करने वाला हूँ। तुम्हारे स्वामी की इस घृष्टता को मैं सहन नहीं कर सकता। तुम्हारा स्वामी विषघर सर्प की मणि को छूने की अनधिकार चेष्टा क्यों कर रहा है ? तुम लोग क्या अपने आपको बैठे-बैठे संकट में डालना चाहते हो ! जाओ, इस अनधिकार चेष्टा करने से अपने स्वामी को रोको। उसे समझाओ कि वह मौत के मुँह में क्यों जाता है, और यदि उसमें शक्ति है तो वह स्वयं आकर मेरी वावड़ी से स्वर्णकमल ले जाय, वह मेरी तलवार का अतिथि तो बने।”

रमांगद ने उत्तर में कहा—“मालूम होता है तुम्हारे आखिरी दिन भी समीप ही आ गये हैं। तुम नवसाहस्रों को केवल मनुष्य समझते हो, यह तुम्हारी मूर्खता है। वह भगवान विष्णु का अंश है। यदि तुम हेम-कमल न दोगे तो समझ लो, तुमने अपनी आपत्तियों के लिए द्वार खोल दिया। हम चाहते हैं, तुम्हारी रत्नपुरी में शोक-साम्राज्य न छा जाय। यदि नहीं मानते तो रण के निमित्त प्रस्तुत रहो। तुम्हारे शिरश्च्छेद के साथ ही हमारे स्वामी स्वर्णकमल भी स्वयं ही ग्रहण कर लेंगे।” इतना कह कर रमांगद वापस आ गया। जब रमांगद ने आकर राजा को सब बात सुनाई तो राजा की भ्रुकुटि तन गई। उसने आक्रमण कर दिया। विद्याधर और नागराज सेना ने चारों ओर से रत्नपुरी को घेर लिया।

इसके पश्चात् वज्राकुश की सेना के साथ विद्याधर और नागराज का

भयकर युद्ध हुआ। राम-रावण के युद्ध के समान ही यह युद्ध भी आश्चर्य-का था। दोनों शक्तियाँ पूर्ण बल के साथ लड़ रही थीं। ऐश्वर्यल ने रक्तवाहिनी का रूप धारण कर लिया। रुएड-मुएड ने समरोगण पट गया।

रमागद राजा की रक्षा में लगा या राजा मृद काल सा लड़ रहा था। वज्राकुश ने राजा पर रथचक्र का आघात किया। रमागद ने उसे रोक लिया। अन्त में भयानक युद्ध के पश्चात् राजा ने वज्राकुश का सिर काट लिया, स्वर्ग में पुष्पवृष्टि होने लगी, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

पुन राजा ने रत्नवती पुरी में प्रविष्ट होकर वहाँ रत्नचूड़ का अभियेक कर उसे वहाँ का राजा बना दिया। वज्राकुश की बावडी से स्वर्णकमल लेकर उत्सुकता के साथ वह नागपुरी भोगवती की ओर चल पड़ा। यह समाचार नागपुरी में पहुँचा और शशिप्रभा के पिता ने राजा के स्वागत की तैयारी की। राजा जब वहाँ आया तो नागराज ने उन्हें अर्घ्य दिया और अपने साथ पुरप्रवेश कराया। उस समय रमागद, विद्याधरपति शशिशरपट्ट, नागपुत्र रत्नचूड़ और अन्य प्रमुख सैनिक भी राजा के साथ थे। नागपुरी की स्त्रियाँ इस भौतूहल को अपने-अपने गवाहों से देखने लगीं। राजा के रूप को देखकर सब मुग्ध हो गईं, और दर्पण में अपनी अपनी सूरतें देखने लगीं कि हम इसके योग्य हैं कि नहीं।

जब राजा नागराजपट्ट में आया, तब बन्दिनों ने उसका यशोगान करना प्रारम्भ कर दिया। राजा की अद्भुत शक्ति का प्रभाव देख कर सब उसे भद्रा से देखने लगे और नागराज भी कह रहा था कि धन्य है यह नृपति, इसने वज्राकुश जैसे असुर को मार कर हमारी प्रतिष्ठा पूर्ण की। अब यह स्वर्णकमल शीघ्र ही शशिप्रभा को पहना कर उसे राजा के अधीन कर दिया जाय।

उस उपलक्ष्य में पहले राजा को हाटकेश्वर महादेव का दर्शन कराया गया। राजा ने हाटकेश्वर की पूजा की। पुन वह लौटकर राजपट्ट में आया। समस्त पुरवासियों ने राजा का स्वागत किया।

प्रथम ही निर्मित मण्डप के नीचे विद्याधरपुत्र और रमागद को आसन देकर एक पण्डितकुमार ने बैठा दिया। पुन राजा भी वहाँ आकर स्वर्णसन पर बैठ गया। फिर वहाँ की सुवतिया मगन्गीत गाने लगीं। राजा की दृष्टि सहसा उसी मृग पर जा पड़ी, जो उसने त्रिध्वाचन में देखा था। और उसी के साथ आती हुई शशिप्रभा पर भी रमागद और राजा की दृष्टि एक ही साथ पड़ी। वह अत्यन्त सुन्दर वेश भूषा धारण किये हुए थी। सखियाँ उसके साथ में थीं और वह लजाती हुई धीरे धीरे चञ्ची आ रही थी। सहसा नायक ने नायिका को और नायिका ने नायक को देखा।

उस समय उनकी गति अनिर्वचनीय थी। शशिप्रभा की सहेली माल्यवती ने राजा से कहा—“धीमन्, अब विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? अपने भुजबल से उपाजित इस स्वर्णकमल से इसके कान को अलंकृत करें, और नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा करें।” राजा ने जैसे ही उसके कर्ण को अलंकृत करने के लिए हाथ बढ़ाया, वैसे ही वह इन्द्रधनुषी आकृति वाला मृग मृगरूप को त्यागकर पुरुष रूप में परिणत हो गया। राजा को आश्चर्य हुआ। नृपति ने उससे पूछा—“तुम कौन हो ? तुम कैसे मृग हो गये थे ?” वह सतृष्ण नेत्र से राजा को देखकर बोला—“मैं हर्षदेव नृपति का प्रतिहार था। एक बार कैलास पर्वत से आया हुआ मुनि कश्यप राजदरवार में प्रविष्ट होना चाहता था। मैंने उसे रोका। उसने क्रोध में आकर मुझे शाप दे दिया कि जा, तू मृगयोनि में विचरण कर और जब नवसाहसार्द्ध कण्णिराजपुत्री शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल पहनायेगा, तब तेरे शापकी मुक्ति होगी”, इतना कह कर वह पुरुष राजा के ऊपर पुष्प चढ़ाकर आकाशमार्ग से चला गया और कह गया कि मैं सर्वत्र तुम्हारे यश का विस्तार करूँगा।

इसके पश्चात् नागपुरी में नागराज के घर पर विवाह-मंगलविधि पूर्ण की गई। पुत्री को समर्पित करते हुए नागराज ने नृपति से कहा—“भापकी क्या दिया जाय ! आपके योग्य हमारे यहाँ कोई भी वस्तु नहीं है। यहाँ को सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति यह एक स्फटिकनिर्मित शिवलिङ्ग है। यह अर्धनारीश्वर के आकार का है। इसके दर्शन करने पर देखने वाला साक्षात् शिव को इसी में देख लेता है।” इतना कहकर उसने राजा को शिवलिंग दिया और राजा ने उसे अपने यश के रूप में ग्रहण किया। राजा के स्वागत में वहाँ नाना प्रकार की वाद्यध्वनि की गई और पूर्ण रूप से उसका स्वागत किया गया।

विवाहोत्सव की समाप्ति पर कुछ दिन वहाँ रह कर राजा अपनी राजधानी धारानगरी जाने के लिए उत्सुक हो गया। वहाँ से विदा होकर जब सिन्धुराज अपनी नगरी में आया तो पुरवासियों ने महोत्सव मनाया। राजा और पुष्पाञ्जलियों की वर्षा की गई। जिस प्रकार राम लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या आये थे, राजा भी रमाद्भद और शशिप्रभा के साथ वैसे ही घर आए। घर आकर वे महाकालेश्वर का दर्शन करने गये। पुनः राजकुल में प्रविष्ट हुए। उज्जयिनी में कुछ दिन व्यतीत करके पुनः वे धारा नगरी गये। राजा के वहाँ जाने पर धारा नगरी माना प्राणवती सी हो गई।

वहाँ की शोभा वर्णनातीत हो गई। वहाँ राजा ने फिर नागराज के दिये हुए शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। उत्सव के अन्त में अपने साथ आए

हुए श्रुतियों का हृदय से स्वागत करके उनको आलिंगन करके राजा ने शशिखण्ड और रत्नचूड़ दोनों को विदा किया । वे लोग अपने अपने देशों को गये ।

कुछ दिन बाद शशिप्रभा की सखियाँ भी उसे प्रक्षेप देकर अपने-अपने घरों को विदा हुईं । कुछ दिन बाद फिर राजा ने राज्यभार ग्रहण किया । इस प्रकार सिन्धुराज शशिप्रभा और राज्यलक्ष्मी को पाकर आनन्द स रमांगद-की सहायता से राज्यशासन करने लगा ।

प्रमाण ग्रंथ

प्रस्तावना लिखने के कार्य में अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। उन ग्रन्थों के लेखकों का मैं आभारी हूँ। जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उनकी सूची नीचे दे दी गयी है।

१. काव्यप्रकाश
 २. धम्मपालोक्त
 ३. साहित्यदर्पण
 ४. संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री पं० बलदेव उपाध्याय
 ५. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : श्री पं० चन्द्रशेखर शास्त्री
 ६. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल लिटरेचर : श्री वृष्णमाचारी
 ७. सरस्वतीकण्ठामरण
 ८. मुद्राराक्षस की आलोचना
 ९. शकुन्तला नाटक
 १०. किरादारुनीय
 ११. शिशुमालवव
 १२. मेघदूत
 १३. राजा मोक्ष : श्री वि० ना० रेव
 १४. हिन्दू राक्षस १, २ : ज्ञानसवाल
 १५. हिन्दू राक्षस : लक्ष्मीधर वाजपेयी
-

भूमिका-सूची

विषय	पृष्ठ
संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक परम्परा	१
नवसाहस्राब्दचरित का स्थान	५
—विरोधताएँ	७
—मूलवृत्त	११
—इतिवृत्तियोजना	१२
—स्वरित्र चित्रण	१३
—रसयोजना	१६
—अलंकारयोजना	२५
—प्रकृति चित्रण	३७
—शैली	४५
—छन्दोयोजना	५१
—उपसंहार	५६
—कथासार	५७
प्रमाण ग्रन्थ	७०

ग्रन्थ-सूची

	...	पृष्ठ
प्रथमः सर्गः	...	१
द्वितीयः सर्गः	...	१८
तृतीयः सर्गः	...	३४
चतुर्थः सर्गः	...	५१
पंचमः सर्गः	६५
षष्ठः सर्गः	८०
सप्तमः सर्गः	...	१००
अष्टमः सर्गः	...	११६
नवमः सर्गः	...	१३२
दशमः सर्गः	...	१४४
एकादशः सर्गः	...	१६०
द्वादशः सर्गः	१८१
त्रयोदशः सर्गः	...	१९६
चतुर्दशः सर्गः	२१०
पञ्चदशः सर्गः	...	२२६
षोडशः सर्गः	२४०
सप्तदशः सर्गः	२६०
अष्टादशः सर्गः	२७४

मङ्गल-नवपदी

पद्मगुप्त कवि ! अमर ! अमर हँ दिव्य तुम्हारी बाणी ।
सद्दय जन मन मुग्ध कर रही जो मुग्धदा कल्याणी ॥

(२)

सिन्धुराज नवसाहस्राङ्क को, तुमने अमर बनाया ।
नहीं आज तक कुटिल काल ने जिसके यश को खाया ॥

(३)

देख तुम्हारी सुधोपमाकृति, भाव हृदय में आया ।
हिन्दी प्रेमी पढ़े इसलिये यह अनुवाद बनाया ॥

(४)

गुस्वर श्री अय्यरजी ने यह मुझको मार्ग दिखाया ।
उनकी ही आक्षा से मैंने आगे पैर बढ़ाया ॥

(५)

पढ़े सभी इस भव्य ग्रन्थ को काव्यामृत रस पायें ।
परिमल पद्मगुप्त की वाणी का मन से गुण गायें ॥

(६)

जिन गुरु-चरणों की अनुकम्पा से बल मुझमें आया ।
उन चरणों पर भक्तिभाव से हूँ मैं सीस नवाता ॥

(७)

सिंह सदृश 'सत्यव्रत' पालक गुरु पथ-दर्शक पाये ।
बैठ उन्हें के चरणों में कुछ भाव नवीन सजाये ॥

(८)

गुरु श्री सत्यव्रत सिंह जी का मिला सहारा भारी ।
तभी काव्य के भाषान्तर का हुआ सफल अधिकारी ॥

(९)

उनके ही चरणों पर ये मृदु श्रद्धा सुमन चढ़ेगे ।
होगा सफल यत्न मेरा, यदि पाठक इसे पढ़ेगे ॥



• विराजता सा जननो सरस्वतो •

परिमलापगनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतिः—

नवसाहस्राङ्कचरितम् ।

अव्यात्स बो यस्य निसर्गत्रकं स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम् ।
जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दु ॥ १ ॥

शिव (देवाधिदेव) के शिर पर स्थित वह स्वभावतः टेढ़ा चन्द्रमापाठक एव भ्राता की रक्षा करे जिसके दोनों लार शिवशिर स्थित सर्प की मणिकिरणों का स्पर्श पा रहे ह और जो कामदेव के धनुष के समान है ॥ १ ॥

जटाद्विरत्नगुतिपाटलोऽयात् म व शशी शङ्करमीलिरत्नम् ।
श्रुताग्रशोकाङ्कुरकौतुबेन य कतुमिच्छत्यचलेन्द्रकन्या ॥ २ ॥

शिवशिर का आभूषण बना वह चन्द्रमा श्रोता एव पाठकों की रक्षा करे, 71 शिव का जटाओं में स्थित सर्पगज की मणिकिरणों से लाल वर्ण का बना हुआ है, और जिसे जगाक का अकुर समझ कर पार्वती अपना कणाभरण बनाना चाहती है ॥ २ ॥

कुम्भस्थली रक्षतु नो त्रिकीर्णसिन्दूररगुद्विरदाननस्य ।

प्रशान्तये विप्रतमन्त्रटान्ता निष्ठयूतवालातपपल्लवेन ॥ ३ ॥

गजानन गणना के गण्टस्थल आपकी रक्षा करें, जिन पर सिन्दूर सुशोभित हो रहा है । मन्ता वह विप्ररूपो तमस्ताम का नाश करने व अन्ये बालरूपों की भाँति चमक रहा है ॥ ३ ॥

चक्षुस्तदुन्मेपि सदा मुग्धे व सारस्वत शाश्वतभाविस्तु ।

पग्यन्ति येनावहिता कवीन्द्रास्त्रिविष्टपाभ्यन्तरवति वस्तु ॥ ४ ॥

जिससे समाहित चित्तवाले कवि त्याग तीनों लोकों में स्थित वस्तु को देखने में समर्थ होते ह, वह शाश्वत देदीप्यमान (सारस्वत चक्षु) प्रतिष्ठा प्राप्त (सामाजिकों) की वाणी से आविर्भूत होती रहे ॥ ४ ॥

प्राचीनकविवर्णनम् ।

तत्त्वस्पृशन्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्डप्रमुखा जयन्ति ।

निर्दिशद्वागसद्गुणेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥ ५ ॥

प्राचीन कवियों का वर्णन ।

(अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति प्रदाजाल) तत्त्ववेदी उन भर्तृमण्ड आदि कवियों का जय हो (वे सर्वांपरि गेहे) जिनकी कविता उम वैदर्भ मार्ग पर चलती रही, जिन पर चल्ना चल्न पर चल्ने के समान हैं ॥ ५ ॥

पूर्णेन्दुविन्वाद्यपि सुन्दराणि तेषामपूरे (मदूरे) पुरतो यथांसि ।

ये भर्तृमण्डादिकवीन्द्रसूक्तिव्यक्तोपदिष्टेन यथा प्रयान्ति ॥ ६ ॥

जा कवि लोग भर्तृमण्ड आदि कवियों के काव्यपर चल्ने हैं, उन्हीं का पूर्णचन्द्र से भी अधिक सुन्दर यज्ञ सर्वत्र पेटता है ॥ ६ ॥

सरस्वतीकल्पलोककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम् ।

यस्य प्रसादाद्दृश्यमानन्यकवीन्द्रचीर्णं पश्चि संचरामः ॥ ७ ॥

सरस्वतीन्या कल्पलोक के कन्दभूत उम वाक्पतिराजदेव को मैं (पद्मगुत) प्रणाम करता हूँ, जिसकी कृपा से मैं भी कवियों के अस्त एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग पर चल रहा हूँ ॥ ७ ॥

दिव यियामुर्मम वाचि मुद्राम् अदत्त यो वाक्पतिराजदेवः ।

तस्यानुजन्मा कविवान्धवस्य भिनन्ति नाम सम्प्रति सिन्धुराजः ॥ ८ ॥

(अ) जिस वाक्पतिराजदेव के मर जाने पर मेरी वाणी मुद्रित (मान) हो गई थी, आज उन मान वाणी का उनका लघु भ्राता कवियों का बन्धु, सिन्धुराज काव्य-निर्माण के लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ८ ॥

कवेः शालीनतादि ।

नैते कवीन्द्राः कति काव्यवन्धे तदेष राजा किमहं नियुक्तः ।

किं बालुकापर्वतके धरेयम् आगोप्यते सत्सु कुलाचलेषु ॥ ९ ॥

कवि का विनय-प्रदर्शन ।

क्या काव्य निर्माण के लिए मुझने अच्छे ओर कवि नहीं थे जो सिन्धुराज ने मुझे ही नवसाहस्रकचरित - निर्माण के लिए नियुक्त किया । भला

(अ) तंजौर से मिली नवसाहस्रकचरित की एक हस्तलिखित पुस्तक से इस कवि का दूसरा नाम कालीदाम होना पाया जाता है । यद्यपि इस कवि ने अपने आश्रयदाता मुझ के मरने पर कविता करना छोड़ दिया था, तथापि अन्त में मुझ के छोटे भ्राता (भोज के पिता) सिन्धुराज के कहने से नवसाहस्रकचरित नामक १८ सर्गों के काव्य की रचना करने की (इस श्लोक में यही घटना लिखी है) राजा भोज ३ पृ० (वि० नाथ रंघ)

धनेक गतिगाली जुगल (परंतों) पर स्थिर रहने वाली यह पृथ्वी गालू के पत्र पर टिक सरेगी ? (अर्थात् मैं नगण्य व्यक्ति मत्वा इस काम को पूर्ण कर सकूंगा ?) ॥ ० ॥

प्रहो महत्साहसमेतदेव यद्वर्णनीयो नवसाहसाङ्ग ।
दर पग्निद्रेदकवाः हि सत्य एतद्गुणानामुत्थेरेषा च ॥ १० ॥

नवसाहसाह च गिरि का उगल करना उठे साहस का काम है। सास्त्र में यह उतना ही कठिन कार्य है, जितना समुद्र का चरुणों का पग्निद्रेद करना ॥ १० ॥

भक्त्याथ वास्येव मम प्रवृत्ते सूक्ष्मोऽयमुन्मीलति शक्तिलेश ।
उल्लसितो यन् कपिना पयोधि सेवानुभाय म रघूद्वह्म्य ॥ ११ ॥

इस प्रकार काय के निमाण में मरी कपि प्रतिभा का जो कुछ भी सूक्ष्मा उन्मीलित हुआ है वह दुर्जी (मिथुगत) का रूप का तथा मात का फल है। क्याक (उच्चो च जागताद से वा कार्य सिद्ध ह्यत ह) हनुमान् च समुद्र पार करने में रामचंद्र की सेवा का ही प्रभाव था ॥ ११ ॥

ममत्सरचेनसि दुर्जनात् न तानुचिन् सूक्तिगुणो गुणाय ।
निसर्गदृष्टाणेन्द्रवपूत्रपोऽ निरर्थक तुङ्गमपत्रभङ्ग ॥ १२ ॥

स्वभाव से ही दृष्टान्त का उद्भव (श्यामाराम) का कपाल पर जिस भाँति तुङ्गम से चित्र बनाना व्यर्थ है उभा भात उह से युक्त दुर्जनों के चित्त में काय गुण भा निरर्थक हो जाता है ॥ १२ ॥

किमन्यदस्याश्चरितैर्नृपस्य मुक्तावदात् कृतमष्टनाया ।
मदायसूस्तेर्मुदुरीभवन्तु स्वभाजशुद्धानि सता मनासि ॥ १३ ॥

जो क्या कह, मातिया का भाँति इस रात्ता का उगल चारनों से साल-कृत मेरी यह राणी, स्वभाव से ही निर्मल सज्जनों का मन में दपण की भाँति प्रतिबिम्बित होती रहे ॥ १३ ॥

नमोऽस्तु माहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्त पृपताऽपि यस्य ।
सुवर्णता वक्त्रमुपैति साधोर् दुर्वर्णता याति च दुर्जनस्य ॥ १४ ॥

उस साहित्य रस को मैं नमस्कार करता हूँ, जिसका एक पत्र भी जन्त-करण का छुकर (जन्त करण में व्याप्त होकर) सहृदयों के मुख का सुवर्णता (भावपूर्ण जनसह) प्रदान करता है और दुर्जन के मुख का विवर्ण (सित) किना मलिन बना देता है ॥ १४ ॥

श्रीसाहस्राङ्गो ज्ज्वलकीर्तिगर्भा ममाथ वा कं न हरन्ति वाचः ।

कस्यात्र लोभाय न शुक्तयस्ता मुक्ता हि यासामुदरे स्फुरन्ति ॥ १५ ॥

श्रीसाहस्राङ्ग की उज्ज्वल कीर्ति से मण्डित मर्ग वाणी भल्या किमके मन को न मुग्ध कर देगी, जिन सीपियों के गर्भ में मोती रहते हैं उन्हें देवकर किमका मन नहीं ललच उठता ? ॥ १५ ॥

प्रतिज्ञा ।

एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि ।

सम्प्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥ १६ ॥

प्रतिज्ञा ।

अब मैं अवन्तिनाथरूपी पारिजात से उत्पन्न, चन्द्र के समान उज्ज्वल यशरूप पुष्पों की माला बनाकर सबके सामने ही दिग्वधुओं का कर्णाभरण बनाना चाहता हूँ । (अर्थात् अपने काव्यग्रन्थद्वारा उनका यश सर्वत्र फैलाना चाहता हूँ) ॥ १६ ॥

अथ उज्जयिनीवर्णनम् ।

अस्ति क्षितावृज्जयिर्नाति नाम्ना पुरा विहायस्यमरावतीव ।

वचन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः ॥ १७ ॥

नवसाहस्राङ्ग की राजधानी उज्जयिनी का वर्णन ।

स्वर्ग में अमरावती की भाँति इस धरती पर उज्जयिनी नाम की नगरी थी, और इन्द्र के ही समान विक्रमादित्य नाम का (नवसाहस्राङ्ग) राजा वहाँ राज्य करता था ॥ १७ ॥

आमञ्जुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिविक्रम्वराम्भोजरजःपिण्डाङ्गा ।

आभाति यस्याः परिखा नितम्बे सशब्दजान्मृनदमेखलेव ॥ १८ ॥

यही थी वह उज्जयिनी जिनके परिखा (खाई) रूपी नितम्ब भाग पर स्थित विकसित कमलों के पराग से पीली बनी हुई और गुञ्जार कर्ती हुई कलहंसों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती थी मानो शब्द करने वाली सोने की कश्चनी हों ॥ १८ ॥

प्राकारवप्रच्छलतः शरीरम् आवर्त्य लीलाशयनं मुरारिः ।

यत्रान्तरस्थायिनिधानरक्षां विधातुमुन्मग्न इवोरगेन्द्रः ॥ १९ ॥

जिसके बड़े-बड़े प्राकार (परकोट) ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों विष्णु का लीलाशयन शेषनाग अपने शरीर को कुण्डलाकार करके स्थित हो गया हों, और समुद्र के रत्नों की रक्षा की भाँति यहाँ भी वह सजग होकर उज्जयिनी की सम्पत्ति की रक्षा कर रहा हों ॥ १९ ॥

पदे पदे मान्द्रसुधोज्ज्वलानि गृहाणि या नात्रसदा विभक्ति ।

अभ्युदगतानात्र फणीन्द्रलोकम् आपूर्य तद्भूमिभृता यशामि ॥२० ॥

जिसमें जरा जरा दूर पर मुग के समान श्वेत भजन ह, जिनके कारण वह देवताओं की पुरी सी उम रही है । जिसके भजन पाताल लोक में अपने नृपतियों का यश पैदा कर जन मानो स्वर्ग की ओर (यशप्रचार के हेतु) बढ़ रहे हैं ॥ २० ॥

हिमच्छटाहारिभिर्गुजालै प्रालम्बिमुक्ताफलजालकानि ।

विलासिनीविभ्रममन्दिराणि यस्या हसन्तीव परस्परस्य ॥ २१ ॥

जिसमें तुपार के समान धवल मणिकिरण कान्ति से परिपूर्ण, एउ उड़ी बड़ी लटफती हुई मोतियों की मात्राओं से सजे हुए विलामिनिया के केलि (रात्रिक्रीडा) भजन ऐसे जान पड़ते ह, म ना एक दूसरे का आभा देखकर आपस में हँस रहे हों ॥ २१ ॥

गृहाणि यस्यां सचराङ्गनानि चराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गना ।

रूप ममुन्मीलितसद्विलासमस्त्र विलासा कुसुमायुवस्य ॥ २२ ॥

जिस उजयियां में गृह सुन्दर स्त्रियों से पूण है, चराङ्गनाएँ रूपवती हैं, रूप हाव भाव का प्रकट करने वाग ह, और हाव भाव साक्षात् काम के जख हैं ॥ २२ ॥

यत्राननैरणशामभिल्या मितारमत्रातायनपङ्क्तिरेति ।

अम्भोर्हृद्वज्जलहेमन्लृपैरानाशगङ्गाजलवेणिवेव ॥ २३ ॥

जहाँ सगमरमर व झरार्यों का पत्ति मृगलाचनाओं व मुग्नों से ऐसी सुन्दर जात पड़ती है माना स्वर्णमर्ल से सुशोभित आकाशगगा की चेणी हा ॥ २३ ॥

विधूयमाना परनेन यस्या नीलाशमवेशमारुणवैजयन्त्य ।

भिन्नाञ्जनश्यामचनोद्गताना तटिल्लताना श्रुतिमात्रहति ॥ २४ ॥

हा नात्रकान्त मणियों से रने हुए भजना पर लगी हुई गेरुए रग की ध्वजाय जन वायुवेग से प्रचलित हाती हैं, तत्र ऐसा प्रतीत हाता है, मानो कृष्णवर्ण के मेरों में रिजली चमकती हुई दिखाने दे रही हो ॥ २४ ॥

उदेति कान्तामणिमेखलानां गृहेगृहे यत्र गुरुनिनाद ।

आयाति योऽनङ्गजयद्विपस्य मदानतारोत्तराडिण्डिमत्वम् ॥२५ ॥

जहा प्रत्येक घर की घरदारियों की मणिमेखला का मधुर घनि ऐसी प्रतीत होती है, मानो कामदेव रूपी विजयी गज के (गमन की) प्रथम

मदावतार उत्सव की मधुर घोषणा की जा रही हो (मणिमंगला की ध्वनि के श्रवण मात्र ने ही कामोद्दीपन होने लगता है) ॥ २५ ॥

मुखेन्दुभिः पौरविलासिनीनां कपोलकान्त्या कृतस्त्रविभागः ।

नयाति काश्यं बहुलोऽपि यत्र वातायनासन्नचरः शशाङ्कः ॥ २६ ॥

जहा पौरवधुओं के मुखचन्द्र की कान्ति द्वारा सौन्दर्य युक्त चन्द्रमा जब भवनो की गिडकियों के समीप विचरण करता है तो कृष्ण पक्ष में भी वह क्षीण नहीं होता (अर्थात् मुखचन्द्र की कान्ति पाकर वह पीडश-कला-पूर्ण हो जाता है ।) ॥ २६ ॥

न पक्षपातेन वदामि सत्यमुपस्मृ यस्यां भवनाङ्गणेभ्यः ।

सम्मार्जनीभिः परतः क्रियन्ते विसूत्रितैकावलिमौक्तिकानि ॥ २७ ॥

मैं बिना किसी पक्षपात के सत्य कहता हूँ कि जहा प्रत्येक घर के आगनों से, रात्रि में स्त्रियों द्वारा पहनी हुई मोतियों की मालाओं में (रति-रण में) दूटे हुए मोती प्रातःकाल भाङ्गू लगाकर बटोरे जाते हैं ॥ २७ ॥

यस्यामसंक्षिप्तदृशां स्तनाङ्के वस्तूरिकापत्रलता चकास्ति ।

शरासनाभ्यासविधौ समाप्ते मुक्तेव गोधा मकरध्वजेन ॥ २८ ॥

जहा की दीर्घलोचना नारियोंके कुचाग्रभाग पर कन्तूरी की पत्ररचना शोभा पाती रहती है, जिसे देखकर ऐसा विचार उठता है कि मानो काम-देव ने धनुर्विद्या का अभ्यास करने के पश्चात् (अधिकधिक कटाक्षपात के पश्चात्) अपना अंगुलित्राण (गोधा) यहा पर रख छोड़ा हो ॥ २८ ॥

विलासिनीसद्वलसत्पताकापटाञ्चले काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।

निरन्तरैर्या रणितैरजस्रमाज्ञामिवोद्गोपयति स्मरस्य ॥ २९ ॥

जहा विलासिनी नारियोंके भवनों पर शोभा पाने वाली व्रजाओं के पटाञ्चल पर लगे हुए छोटी छोटी घण्टिकाओं से जो ध्वनि निरन्तर होती रहती है, वह ऐसी प्रतीत होती है मानो कामदेव की रतिरंग आज्ञा घोषित की जा रही हो ॥ २९ ॥

प्रतिक्षणं या गलितांशुकानामनङ्गलीलाकलहोत्सवेषु ।

अनल्पकृष्णागरुधूमभङ्गया वामभ्रवामर्पयतीव वासः ॥ ३० ॥

जो प्रतिक्षण रतिक्रीड़ा महोत्सव में (आनन्द के कारण) अस्त व्यस्त वस्त्र वाली वामलोचनाओं को कृष्ण-अगरु धूप के धुंके के रूप में भीना वस्त्र अर्पण कर दिया करती है ॥ ३० ॥

यत्राष्टमीचन्द्रमुपेयिनासमालम्ब्य सौधेऽसमग्रकान्तिम् ।

केशाहतै केतवर्गभ्रंशैरापूरयन्त्यर्धमरालकेश्य ॥ ३१ ॥

यही वह उजयिनी है जहा के सुमालस प्रासादों पर घुंघराले घालोंगाली रमणियाँ समीप जाए हुए जधूरी कान्ति वाले अष्टमी के चन्द्र को पम्डर अपने केशों पर सजाए गये केरडे के बीच की कोमल पखुड़ियों से परिपूर्ण कर दिया करती हैं ॥ ३१ ॥

लोलकटाक्षे मदिरेक्षणाना सम्मोहनास्त्रस्फुरित निवेश्य ।

रत्या सह क्रीडति पुण्यधन्वा यम्यामशोकुट्टमवाथिकासु ॥ ३२ ॥

जहा कामदेव मदिरेक्षणाना के कटाक्षों में ता अपने मोहनास्त्र की शक्ति को रज देता है और अशाक घोधिकाना म रति के साथ निहार करता रहता है ॥ ३२ ॥

जाने जगन्मोहनकौतुभेन विधाय कूजामिपमन्यपुट्टै ।

अर्हनिश चूतउनेपु यस्यामधीयते मान्मथमस्त्रनन्त्रम् ॥ ३३ ॥

माता जहा आम्रकुंचो म कान्तिार्ये भी ससार के वशाकरण के कौतूहल से कलकूजन के महाने काम की प्राणविद्या का निरंतर अध्ययन करती रहती हैं ॥ ३३ ॥

द्विकचक्रसचारिमरीचिदण्डच्छलेन चामीरतोरणानाम् ।

अपैमि दिक्पालपुरीविजित्य या हेमवत्रग्रहण नियुङ्क्ते ॥ ३४ ॥

स्वर्णरचित तोरणों (द्वारों) के सर्वत्र सचरण करने वाले मरीचिदण्ड (किरण समुदाय) के महाने जा नगरी अमरावती जादि नगरिया को जीत कर उन्हें अपनी प्रतीहारों के रूप म निरन्तर दण्ड ग्रहण करने के काम में नियुक्त करती रहती है ॥ ३४ ॥

उज्जामिपु स्वर्णगनाम्पङ्क्तेर्या रश्मिदण्डपु विघूर्णमानै ।

भान्यप्रवेदिस्रटिकांशुजालैर्दोध्यमानोऽञ्जलचामरम् ॥ ३५ ॥

जो स्वर्णनिर्मित यातायनपत्तियों के, ऊपर उठ रहे किरणदण्डों के चारों ओर घूमते हुए स्फटिकनिर्मित अप्रवेदिकाओं (गनाओं) के किरणजालों से ऐसी जान पड़ती है माना उम पर चर हुलाए आ रहे हो ॥ ३५ ॥

यस्यां गृहप्राङ्गणपद्मारागरश्मिच्छगापटलमन्तरिक्षम् ।

आलिङ्गित किशुकशोणभासा सन्ध्यातपेनेत्र सदा विभाति ॥ ३६ ॥

जहाँ के गृह आगनों म जडे पद्मराग मणियाँ की कान्ति से पाटलवर्ण का हुआ अतरीप सदा किशुक (टाक) के समान रत्नपूर्ण वाली सव्याकालीन धूप से आलिङ्गित-सा शोभित होता रहता है ॥ ३६ ॥

अवाप्य यस्यां गृहदीर्घिकाच्छर्वैर्हृत्यसोपानमयूखसख्यम् ।

हारीतशङ्खां कलहंसशावा वामभ्रुवां प्रत्यहमर्षयन्ति ॥ ३७ ॥

जहाँ दीर्घिकाओं (बावड़ियों) की वैदूर्य रचित सीढ़ियों की किण्वों का सम्पर्क पाकर कलहंस के बच्चे प्रतिदिन नारियों को अपने प्रति हागिल पक्षी का भ्रम उत्पन्न कराते रहते हैं ॥ ३७ ॥

निकाममच्छैः प्रमदाकपोलैर्यत्रेन्दुविम्राकृतिभिः क्रियन्ते ।

स्ववक्त्रसौन्दर्यविलोकनेषु विलासिनो दर्पणानिर्द्वेषज्ञाः ॥ ३८ ॥

जहाँ की नागियाँ ऐसी हैं, जिनके चन्द्रविम्ब ममान कपोलफलक विलासियों को अपने मृगसौन्दर्य के देखने के लिये दर्पण को आवश्यकता को दूर कर देने हैं (अर्थात् नियों के कपोलों पर ही उनके मृगों) का प्रतिविम्ब पड़ जाता है) ॥ ३८ ॥

पराङ्मुखीनामपि रत्नभित्तौ प्रमादयन् तद्वदनं विलोक्य ।

यस्यां युवानो हरिणेशरणानामलीककोपं महत्मा विदन्ति ॥ ३९ ॥

जहाँ बनावटी क्रोध कर प्रिय की आंग पीठ करके खड़ी हुई नियों के प्रसन्न मृग का प्रतिविम्ब जब गृह की रत्नभित्तियों (दीवारों) पर पड़ता है तो युवक उन मृगलोचनाओं के बनावटी क्रोध को जोष्ट भाँप लेते हैं ॥ ३९ ॥

कुर्वन्ति यस्यां कुमुमेपुकेलिश्रमोन्मिपत्स्वेदनवास्नरुण्यः ।

कपोलकालागरुपत्रवल्लीकल्मापमम्भो गृहदीर्घिकासु ॥ ४० ॥

जहाँ की रमणियाँ काम-क्रीड़ा से परिश्रान्त होकर श्वेद ने मने, कालागुरु विभूषित अपने कपोलों को जब गृह-बावड़ियों में जाकर धोती हैं, तो उन बावड़ियों के पानी को भी गँदला बना देती हैं ॥ ४० ॥

यस्यां समुन्मीलति सुन्दरीणां ना कापि सौभाग्यदिशेपलक्ष्मीः ।

विलासमुक्तागुणवचदासां सदा प्रियन्तिष्ठति कण्ठलग्नः ॥ ४१ ॥

जहाँ की नियों में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य शोभा होती है । इस-लिये विलास के समय काण्ठ में लग्न मुक्तामाला की भाँति उनके प्रिय सदैव उनके गले का हार ही बने रहते हैं ॥ ४१ ॥

अर्धमि गीतेन हृते कुरङ्गे पुरन्धिभिः सौधनलस्थिताभिः ।

श्यामासु यस्यां लभते तदच्छकपोलदिम्बानुकृतिं मृगाङ्कः ॥ ४२ ॥

जहाँ गवि में लुत्तां पर बैटों स्त्रियों के गीत सुनने के लिये जब चन्द्रमा की गोद से मृग हट जाता है, मैं समझता हूँ, चन्द्रमा उन रमणियों के स्वच्छ कपोलों की समता तभी प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धिं नगेन्द्रान्यत्र मनोऽकृष्टा ।

या लग्नकाञ्चीप्रियेण शान्तिं मिहासनेनातितरा विभति ॥ ४३ ॥

जो (उज्जयिनी) सर्वत्र इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह दुर्गा (पार्वती) है क्योंकि जैसे पार्वती भगवान् शिव से मयुक्त रहती हैं वैसे ही यह भी महाकालेश्वर के मन्दिर में मयुक्त है जोर जैसे दुर्गा अपने ऽकृतोद्द करधनी में प्रिभूपित अपने आसन (वाहन) सिंह में अधिक शांति पाती है वैसे ही यह भी उपाण की दुर्गा काञ्ची में सज्ज गजविहामन द्वारा जयत्रिंश सुगमिन्त होती है ॥ ४३ ॥

घृन्नादपास्तैमरुता विकार्षे सुगन्धिभिन्नातरप्रसूनं ।

शिप्रामरिन्तु क्रलतमालनाला विभाते यस्या करालतव ॥ ४४ ॥

जहाँ का शिप्रा नदी किनारे पर गतमास (प्रतिभ्रम पड़ने के कारण) नागी नागी दिग्वाइ का दुर्गा, वृत्तों में व्युत्त सुगन्ध युक्त प्रायः द्वारा इधर उधर फैलाए हुए तरुताओं के फल से भरी, पत्ता प्राण हाता है, माना उज्जयिनी की पुष्पाभ्रुवणो हा ॥ ४४ ॥

धुमेन या नैत्ररत्नोद्भूतान मनेऽप्रमाणा पणितश्चक्रास्ति ।

मदात्तरत्नेति समन्मरण कृतोपगारेत्र महार्णवन ॥ ४५ ॥

जनेक वज्रो में उठने वाल धुम से चारा जाग में विरी हुई ता एसा दिग्वाइ द गहा है, माना मंगल चतुर्नाश न डव्यालु हा कर इस घेर शिया हा इसस्थि कि इनने मेरे ग्लों का चुरा शिया है ॥ ४५ ॥

त्रिलङ्घयन्ति ध्रुनित्तर्म यस्या लीचापताना नयनोत्पलानि ।

विभति यस्यामपि त्रिमाणम एतो महाकाजतटावचन्द्र ॥ ४६ ॥

जहाँ का त्रिगामिना श्रिया के नेत्र रम्य श्रुतिमाग (कर्णमाग, उदपथ) की भी उल्लसने करत है जहाँ गंगा (देवापन) रडों दग्ने का मित्रता है ता केने महाकालेश्वर के ऽकृत म स्थित चन्द्र म हा दिग्वाइ देती है ॥ ४६ ॥

ध्रुजाप्रलम्बेन त्रिलम्बना गम जनेऽरत्नाशुक्तम्बरेन ।

यस्या म चण्डापतिमण्डपोऽपि विभति मायूरमिनातपत्रम् ॥ ४७ ॥

जहाँ का चण्डोपति (शिव) मण्डप ऐसा रणता है, माना अपने पत्र के जगमाग म लगे हुए, नाना गण के रत्ना के जाकाश म फैलने वाल क्रिणकल्प से मारपत्ता का छत्र गरण कर रहा हा ॥ ४७ ॥

पुरा किल ब्रह्मकमण्डलोर्यन् आपूर्णित पुण्यतमाभिरद्भि ।

धत्तेऽत्र या तत त्रिपुरान्तकस्य तडागमादर्शमिनाङ्कदश ॥ ४८ ॥

जो कि अपने अकदेश (गोद) के मध्य भाग में दर्पण की भांति स्वच्छ शिवतड़ाग को धारण कर रही है, जिसका जल पहले कभी ब्रह्मा के कमण्डलु के पावनतम जलकणों द्वारा भर दिया गया था ॥ ४८ ॥

यस्यामनेकामरवेश्मराजिर्मणिध्वजाग्रोच्छलितैर्मयूखैः ।

लिखत्यमर्त्यप्रमदाकुचेपु विचित्रवर्णा इव पत्रलेखाः ॥ ४९ ॥

जहाँ के देवमन्दिरों की अनेकानेक पंक्तियाँ अपनी रत्न-वजाओं के अग्रभाग से निकलनेवाली किशोरों के द्वारा स्वर्ग की अम्बराओं के कुचमण्डलों पर रंग-विरंगी पत्र रचना सी करती हुई दिग्वाट देती हैं ॥ ४९ ॥

यस्यां विसूत्रोज्झितमेखलानि तथा शुकावर्तितसीत्कृतांनि ।

शंसन्ति सङ्केतमुपस्यु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ ५० ॥

जहाँ शिप्रा के तटवर्ती उद्यानों के वे निकुञ्ज जिनमें मणिमंगलार्ण रति-क्रीडा-प्रसंग पर टूटकर उधर उधर पड़ी रहती हैं, और जिनमें शुक नारियों के रति-सात्कार का अनुकरण सा कर रहे हैं, मानों प्रातःकाल प्रेमी युवकों के मिलन स्थान का परिचय देते हैं ॥ ५० ॥

मनोहरैः कामिजनस्य यस्यां नारन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः ।

सचन्दनैः काञ्चनकैलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ ५१ ॥

जहाँ चन्दन के वृक्षों वाले कस्तुरी को गन्ध से भरे काञ्चन कैलिशैलों से सुशोभित उद्यान-भूमियाँ इस भांति प्रतीत होती हैं, मानों कामियों के मन को मुग्ध करनेवाले, निरन्तर निकलते हुए कस्तुरी-सौरभ से भरे और चन्दन से युक्त स्तनों को धारण कर रही हों ॥ ५१ ॥

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ममंभ्रमं पौरविलासिनीषु ।

यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा ॥ ५२ ॥

जहाँ शिप्रा, जब कि उसमें न्दान करने वाली पुत्रनायियाँ मत्स्यों का सम्पर्क पाकर ससम्भ्रम किनारों पर भाग आया करती हैं, तब अपने निकलते हुए फेन के बहाने अट्टहास सी करती प्रतीत होती हैं ॥ ५२ ॥

नंसर्गमासाद्य विलासिनीनां विलासवेश्मगरुधूपधूमैः ।

वद्भास्पदाः सौधशिखासु यस्यां सुगन्धि तोयं जलदा वगन्ति ॥ ५३ ॥

जहाँ प्रामादों की चोटियों पर जमे हुए मेघ विलासिनियों के विलास भवनों से निकलने वाले अगुरु धूप के धुएँ का समर्ग पाकर सुगन्ध पूर्ण जल-वरसाते रहते हैं ॥ ५३ ॥

मत्पुष्पगोत्रं प्रोत्तिरङ्गशोभिन्वमन्दमागद्वमृत्तुनाय ।

उद्यानवापीपथमोत्र यस्याम एणादृशो नाद्वगृहे रमन्ते ॥ ५३ ॥

जहाँ की नाग्या उद्यान वापियों में तिनकी गहरिया त्रिकसित कमलों में चमक उठा करती हैं तथा जहाँ निगन्तर बरनाट्यभि उडती रहती है, (उनमें) इस प्रकार विहार करती रहता है माना ऐसे नाट्यगृहा में विहार करती हों जा रगमञ्च पुष्पर गणों का ध्यान से मूजते रहते हैं और जिनमें मृदगों की तुमुय ध्वनि उद्गम होतो रहता है ॥ ५३ ॥

माणिस्यत्रातायनफान्तिजालविलुप्तगध्यातिमिरोत्तरामु ।

श्यामामु यस्या प्रमदा कथंचित् मद्भेतमुत्कम्पितुचा प्रयान्ति ॥ ५४ ॥

जहाँ की प्रमदायें शीघरी रातों में मणिमण्डित गगनात् क किरण समूह में गलियों का अन्धकार दूर हो जाने पर किसी किसी प्रकार जब मद्भेत स्थानों पर जाता करती हैं तो मात्र धरराहट के उन्हे स्तन काँपने लगते हैं ॥ ५४ ॥

नद्याम्पुत्राङ्गप्रनिविस्वयत्या यत्रोच्चहर्म्याम्णरक्षभूर्मा ।

व्यक्ति लभन्ते सुरसुन्दरीणा सालकतना प्रावृषि पात्रमुद्रा ॥ ५५ ॥

जहाँ के पुत्रराज जड भवनों पर जब यथा श्रुतु में नवान पदपदों का प्रतिविम्ब पड़ता है ता उनमें सञ्चरण करने वाला अप्सराओं के लक्षणम् (आगता) युक्त पदचिह्न स्वरूप में स्थित देते हैं ॥ ५५ ॥

कृतायवानातिशयेन मन्ये या वेधमा मध्यमलोकरत्नम् ।

मृशिल्पविज्ञानपरप्रसर्पप्रज्ञाप्रनायात्र विनिर्मितेय ॥ ५६ ॥

माना अपने शिल्पविज्ञान (कलाशौण्ड) की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने के लिये विज्ञान ने अत्यन्त साधन चित्त में प्रथी पर रख की भाँति इस उच्चप्रिनी का निमाण किया है ॥ ५६ ॥

अथ नायकवर्णनम् ।

रानाम्नि तस्या म बुलाचलेन्द्रनिडुङ्गप्रिगन्तयशस्तरङ्ग ।

भास्वान्ग्रहाणामिभ्रपत्नीनाम अवाप्तमरयो धुरि सिन्धुराच ॥ ५७ ॥

नयमाहसाङ्ग का वर्णन ।

इस उच्चप्रिनी का राजा था, जिसकी कीर्तिनदी को लहरिया कुल परंतों के निकुञ्जों तक पहुँचा करती थी, और ग्रहमण्डल में सूर्य की भाँति राजमण्डल में जिसका गणना थी अर्थात् नयमिगुण था ॥ ५७ ॥

निर्व्यूढनानाद्भुनमाहसं च रणे वृत्तं च स्वयमेव लक्ष्म्या ।
नाम्ना यमेके नवसाहसार्द्धं कुमारनागयणमाहुरन्ये ॥ ५९ ॥

यह बड़ी राजा था जिसका रणस्थली में लक्ष्मी स्वयं वर्ण कर चुकी थी, जो नाना माहम के कार्यों को करने में कुशल था, और जिसको कुछ लोग नवमाहमाक नाम से सम्बोधित करने थे तथा कुछ कुमारनागयण भी कहा करते थे ॥ ५९ ॥

सहेलमभ्युद्धरता धरित्रीं मग्नां द्विपद्वारिनिधावगाथे ।
येनात्र नीता पृथुविक्रमेण व्यक्तिं जगत्यादिवराहलीला ॥ ६० ॥

शत्रुर्त्पां अगाध जलधि में मग्न भर्तुः का अति मुगमता ने उद्धार कर
जिम महापराक्रमशाली ने विश्व में आदिवराहलीला का अभिनय किया ॥ ६० ॥

उद्दामदुग्धाब्धितरङ्गभासो यस्यारिकान्ताकुचमण्डलानि ।
हाराः पतत्साञ्जनवाष्पपङ्ककलङ्कभीत्येव परित्यजन्ति ॥ ६१ ॥

दूध की तरंगों वाले उमड़ते हुए समुद्र की उज्ज्वल प्रभा के समान
यशवाले इस राजा की शत्रुनाशियों के हाथ, अञ्जन में मने गिरते हुए
अश्रुओं के संसर्ग से काले बने हुए, शत्रुनाशियों के कुत्तों का इस भयसे मानो
परित्याग कर रहे हैं, कि यह कालिमा उन्हें भी न लग जाय ॥ ६१ ॥

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणेरणे अन्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ ६२ ॥

यह बड़ी विचित्र बात है कि इस राजा के हाथों में आने ही इस की
तलवार यद्यपि तमाल वृक्ष का कान्ति के समान कृपाण वर्ण की है, फिर भी
वह रणस्थल में शरत्कालीन चन्द्रकान्ति के समान उजले ऐसे यश को
उत्पन्न कर रही है, जो तीनों लोकों को अलकृत कर देता है ॥ ६२ ॥

पराङ्मुखेनापि सदा परस्त्रे पत्या भुवः सागरमेखलायाः ।
अहो यशः पूर्वमहीपतीनाम अनाविलं येन बलाद्विलुप्तम् ॥ ६३ ॥

यह भी विचित्र बात है कि दूसरे के धन या यश को ग्रहण करने की
अनिच्छावाले, नागरपर्यन्तमेखला वाला धरा के पति इस राजा ने अपने
पूर्ववर्ती अन्य राजाओं के निर्मल यश को बरबस विलुप्त कर दिया ॥ ६३ ॥

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च ।
अध्यासते यम्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च मरस्वती च ॥ ६४ ॥

इसके चित्त पर प्रसाद (कृपा) और मनस्विता का, भुजा पर प्रताप और वसुधा का, तथा कमल मुग्ध पर सत्य जीर सरस्वती का ही केवल अधिकार है ॥ ६४ ॥

यस्याप्सराभि परिर्गीयमानम् आरुण्यं बाह्योविजयप्रपञ्चम् ।

शर्चाकुचस्पर्शमिवाप्य धत्त रोमोद्गमाध्यासितमङ्गमिन्द्र* ॥ ६५ ॥

अप्सराओं द्वारा गाइ गई निम्न गाना के श्रावण की गथाएँ सुनकर इन्द्र को जग प्रत्यङ्ग उन्नी भाति रामाञ्चित हा उठता है, मानो इन्द्राणी का कुचालिङ्गन पारुण रोमाञ्चित हा उठा हा ॥ ६ ॥

प्रसाधिता येन च वाल्य एव चतुभिस्तमाहवता चतस्र ।

श्रुतेन बुद्धि प्रभुता नयेन त्यागेन लक्ष्मार्चमुधा बलेन ॥ ६६ ॥

उत्साही निम्न राजा ने बाल्यकाल में ही चार वस्तुओं का चार प्रकार से सिद्ध कर लिया था—ज यथन से बुद्धि का, श्रावण प्रभुता का, त्याग स लक्ष्मी का और मुजबल से मुमुधा का ॥ ६६ ॥

रणे रण्ये मुक्तकृप कृपाण य शतवार कृतवान् कृतास्व ।

अनेकराजन्यघटाकिरीटमाणिक्यशाणोपलपट्टिकासु ॥ ६७ ॥

अस्त्र विद्या म निपुण और कठार उन हुए जिस राजा ने प्रत्येक रण म अनेक राजाओं के मुकुटों पर लगे हुए मणिक्या शाण पर धर कर अपनी तलवार का पैना किया । जथान् अनेकानक शत्रुराजाओं का नाश कर दिया ॥ ६७ ॥

भरण भूमे स्फुटमा नमन्त्या पासुच्छटा शेषपणामणीनाम् ।

न्यमीलयन् यद्विजयप्रयाणे नागाङ्गनाना नयनोत्पलानि ॥ ६८ ॥

जिसकी विजययात्रा म सेवा के भार स त्वा त्वा श्रायना का धारण करने वाले शेषनाम की पणाओं का भाषया का गगड स उठा हुई धूट न नाग ललनाओं के नेत्रों में पड़कर उट्टे पट्टे पर रखा ॥ ६८ ॥

अन्योन्यसश्लेषत्रिशीणहारच्युतेन सेनापसर नृपाणाम् ।

कीर्णामु मुक्तानिकरण यस्य कन्यासु वारप्रमदा स्पलन्ति ॥ ६९ ॥

जिसकी छ्वाही पर वारविलसिर्नया जग उठा इसत्रिय निस्तर्ती हुई दिखाइ देती हैं कि सेवा के लिये जाय हुए राजाओं के जग-सर्पण से टूटे हुए हारों के मोती इधर उधर बिखर पड़ रहत ह ॥ ६९ ॥

आक्षिप्य हारान् निजत्रिकमाग्निस्फुलिङ्गशङ्कामनुसन्धन्ति ।

येनारिकान्ताकुचमण्डलेषु गङ्गाफलान्याभरणावृत्तानि ॥ ७० ॥

जिसने जत्रुगणियों के गलों से नारों को दूर करके अपने पराक्रम
रूपी चिनगारी का स्मरण दिवाने वाले धुवची के फलों को उनके उरःस्थलों
का आभूषण बना दिया ॥ ७० ॥

कृपाणपातेर्दलतामरातिकर्णन्द्रकुम्भस्थलमौक्तिकानाम् ।

धूलिच्छटासांसलयन्ति यस्य समुद्रगतान्याजिमुखे यज्ञांसि ॥ ७१ ॥

भयकर युद्ध में जिसका कृपाण धारा की चाटों से पटे हुए शत्रुगजगणों के
गजराजों के गणस्थलों के मातियों का धूल, उड़कर, उसके विन्तृत यज्ञ को
ओर भी विन्तृत कर देती है ॥ ७१ ॥

इन्दुवृत्तिः कुन्दसितान दधाना गुणाननङ्गोत्सववैजयन्ती ।

येन द्विपां दूरमनायि कण्ठान् एकावली वामविलोचना च ॥ ७२ ॥

चन्द्र के समान कान्तिवाली कुन्दपुष्प के समान निर्मल गुणों को धारण
करनेवाली और रतिक्रीडा की वैजयन्ती एकावली ओर रमणी, उन दोनों को
जिसने शत्रुकण्ठों से सदा के लिये दूर कर दिया ॥ ७२ ॥

यस्मिन्वहृत्यस्युधिनेमिमुर्वीम् मौर्वीकिणश्यामलदीर्घदोष्णि ।

विभात्यते पौरवराङ्गनानाम् मध्यं परं धाम दरिद्रतायाः ॥ ७३ ॥

धनुष की टोरी की चोट से चिह्नित लकी भुजा वाले, जिस राजा के समुद्र
पर्यन्त धरती पर आसन करते हुए, वैदिक मुग्ध नगरवासियों के कटिभाग में
ही दरिद्रता या अज्ञानता दिखाई देती है ॥ ७३ ॥

आक्रान्तद्विष्टुमण्डलकुन्तलेन्द्रसान्द्रान्धकारान्तरितं रणे चः ।

स्वराज्यसम्पन्नमण्डलाग्रो गृहीतवादीधितिसानिवाऽहः ॥ ७४ ॥

युद्धभूमि में रक्तरजित स्वप्न धारण किये जिस राजा ने अपने राज्य का,
जिस पर कुन्तलेन्द्र रूपी घनधोर अन्धकार छाया हुआ था उसी भाति वश में
कर लिया जिस भाति रक्तरजित (लालवर्ण) सूर्य अन्धकार को छिन्न-भिन्न
कर दिनको अपने वश में कर लेता है ॥ ७४ ॥

आकस्मितानां मरतेव यय दौष्णाऽऽजिभूमावति दक्षिणेन ।

अजायतारिप्रसदालताना चाप्योदविन्दूकरपुष्पमोक्षः ॥ ७५ ॥

युद्धभूमि में जिसके, अतिदक्षिण वायु तुल्य (दक्षिणी वायु एवं शत्रु-
विनाशी) भुजदण्ड में दिखाई देता है शत्रुनाशरूपी लताएँ और पुष्पों के रूप
में पुष्प वरसाया करती हैं ॥ ७५ ॥

विपक्षहृद्भङ्गकृता नितान्तम् भ्रूलेखयाकुञ्चितयोल्लसन्त्या ।

नाकारमात्रेण परन्तपस्य यस्यान्वकारि क्रिययापि चापम् ॥ ७६ ॥

शत्रुओं को तुम्हो रना देने वाले, निम्न रात्र को शत्रुओं के हृदयों को निराश करनेवाले वर एव प्रभावसम्पन्न भूलेखा ने जाति से ही वनुष का अनुकरण नहा किया अपितु क्रिया से भा अनुकरण किया ॥ ७६ ॥

दाध्रन्दनानोरुहमाय यस्य ममुल्लमत्मान्द्रयश प्रसूना ।

गतातिवृद्धिं लज्जलीलतेषु निरद्वमूला परमारलक्ष्मी ॥ ७७ ॥

निम्न रात्रा के भुवणदृश्या च दनदृश को सहाय लेकर परमारत्र का परमारगत राजलक्ष्मी लज्जा (मायती) रना का भाँति जत्यधिक (बढ़ने लगा) काति सुमना का उत्पन्न करने लगी और तिन प्रतिदिन बढ़ना चला गई ॥ ७७ ॥

कृतानतिभ्य महसा ददाति य माम्परापेक्षभय रिपुभ्य ।

यशश्च गृह्णाति तुषारहारमृणालरूपूरपरागपाण्डु ॥ ७८ ॥

रात्र में जाये हुए शत्रुओं का उद्वन्धन में भा रना रात्रा शत्रु ही जमय दान दे दिया करता था और तुषार, हार मन्वना, रूपूरपराग के समान उनले नगाल उनक रना का ग्रहण कर लेता था ॥ ७८ ॥

प्रकाशिताश पणित प्रजाना प्रन्योदय धामनिधैर्वदन्ति ।

मुक्ताञ्जनध्वान्तपरिग्रहाणि नेत्राणि शत्रुप्रमत्तनम्य ॥ ७९ ॥

निम्न नन्वना के उत्पन्न का प्रकाश के करण के तिन दृश के उत्पन्न के समान रात्र (रात्र) चञ्चल होते थे, और शत्रुनाशियों के रचना प्रकाशित नेत्र निम्नके उत्पन्न (अभ्युत्थान, पाकन) का रचना किया करते थे । अथवा—अञ्जन रानी रन्वकार न गहत शत्रुनाशिका के नत्र हा प्रतापी और नेत्रन्वा तिम (मृषापम) रात्रा के समस्त प्रकाशन के मनारथ का पूर्ण करने वाले अभ्युदय का सूचना दिया करते थे ॥ ७९ ॥

यस्य प्रयाणे पृथनाभरण परिम्पलत्वत्तसमुद्रमुद्रा ।

परस्परत्तोदसमाकुलामु दोलायते भू पणभृत्कणामु ॥ ८० ॥

निम्नका (विजय) रात्रा के समस्त सन्वन्त्र के भार से धरना के सतों समुद्र जन्म व्यस्त हा जाते हैं, और धरा श्रेयनाग को एक दूसरा से (कोक समाह्वे में) गुथी हुई पणाजा पर श्लिती हुलती सी त्रिनाइ दती है ॥ ८० ॥

त्रिभिन्नमान रमलेश्रणाना व्यक्तानुभाय मुनत्रयेऽपि ।

आहूर्तना दीर्गगुणाभिराम यमेरचाप कुमुमायुधम्य ॥ ८१ ॥

तीना भुवनों को अपने प्रताप से व्याप्त करने वाले, रमालाचनाओं के मान का भग करने वाले, सुन्दर गुणों में युक्त त्रिषका लाग काम का एक चाप अथात् अमोघान्त्र नहा करते थे ॥ ८१ ॥

असंशयं प्रागस्त्रजद्विधाता यमेकमेव त्रिजगद्वदान्यम् ।
कल्पद्रुमादीनथ तैस्तदीयनिर्माणशेषैः परमाणुलेशैः ॥ ८२ ॥

निश्चित ही सर्वप्रथम विधाता ने तीनों लोको में गई जाने वाली कीर्ति से युक्त इस दानी राजा का निर्माण किया होगा, पुनः इसके निर्माण से बचे हुए परमाणुओं से कल्पद्रुम आदि वस्तुओं को बनाया होगा ॥ ८२ ॥

अकृत्रिमत्यागसमुद्गतानि विपक्ततालीदलपाण्डुराणि ।
आशालतानां बलयेपु भर्तुर्यशांसि यस्य स्तवकीभवन्ति ॥ ८३ ॥

जिस राजा के स्वाभाविक त्याग से उत्पन्न तथा पके हुए ताड़पत्र के समान पीत वर्ण वाले यश, दिशारूपी लताओं की शाखाओं में ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पुष्पगुच्छ लगे हों ॥ ८३ ॥

यत्र प्रतापोर्जिनराजचक्रकिरीटरत्नश्रुतिचुम्बिताङ्घ्रौ ।
यथार्थतां याति ययातिपाण्डुदिलीपतुल्यौजसि राजशब्दः ॥ ८४ ॥

पराक्रम द्वारा जीते, अनेकानेक राजाओं के मुकुटों में लगे रत्नों की प्रभा जिस राजा के चरणों का चुम्बन करती रहती है, अतः ययाति, पाण्डु और दिलीप के समान तेज वाले जिस राजा के लिये राजशब्द का प्रयोग वस्तुतः सार्थक हो जाता है ॥ ८४ ॥

उच्छिन्दतः दमासरसी विगाह्य धर्मक्रियापङ्कजिनीवनानि ।
स्वैरप्रचारः कलिकुञ्जरस्य येनाङ्कुशेनैव बलान्निरुद्धः ॥ ८५ ॥

पृथ्वी रूपी तालाव का आलोटन (मथन) करके धर्म क्रिया रूपी कमलिनो-वन का नाश करने वाले कलिरूपी हाथी के स्वच्छाविहार (विचरण) का जिस राजा ने मानों जबरदस्त (बलप्रयुक्त) अंकुश से रोक दिया ॥ ८५ ॥

चिरं विभिन्नाः कुमुदेन्दुकुन्दभासः समग्रा अपि यत्र ते ते ।
अन्योन्यमेकत्रनिवाससौख्यकुतूहलेनैव गुणा घटन्ते ॥ ८६ ॥

कुन्द, इन्दु, कुमुद को सी कान्ति वाले समस्त गुण जो अतक यत्र तत्र [पृथक् भाव से रहते थे, वे एक एक करके जिस राजा की शरण में निवास-सुख प्राप्त करने के लिये कौतूहल पूर्वक एकत्र हों गये ॥ ८६ ॥

कान्त्याऽनुलिप्तानि विलोचनानाम् आ पाटलानामतिरोदनेन ।
सकुङ्कुमानीव पुनर्भवन्ति यस्यारिनारीकुचमण्डलानि ॥ ८७ ॥

अत्यधिक रोने के कारण रक्त-वर्णवाले लोचना की कान्ति से प्रतिबिम्बित (युक्त) जिस राजा की शत्रुनारियों के कुचमण्डल आज भी ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों उनमें कुमकुम लगाया गया हो ॥ ८७ ॥

श्रियि प्रतापे यशसि क्षमायां त्यागे विलासे विनये महिम्नि ।

किमन्यदारोहति यस्य साम्यं न रन्तिदेवो न पृथुर्न पार्थ ॥ ८८ ॥

शोभा, प्रताप, यश, क्षमा, त्याग, विलास, विनय और गौरव में जिसकी समता न रन्तिदेव कर सकता है, न राजा पृथु और न युधिष्ठिर ही । और लोगों का तो कहना ही क्या है ॥ ८८ ॥

सचिववर्णनम् ।

साम्राज्यभारोद्बहनप्रगल्भो यशोभटारय सचिवोऽस्ति यस्य ।

स्वसूक्तिचर्यास्त्रपरेण नाम्ना रमाङ्गद य कवयो वदन्ति ॥ ८९ ॥

सिन्धु राजा के मन्त्री का वर्णन ।

साम्राज्य के भार के धारण करने में अति निपुण यशोभट नाम के इसके मन्त्री को कवि लोग अपनी काव्यचर्चा के समय 'रमाङ्गद' इस दूसरे नाम से सम्बोधित किया करते थे ॥ ८९ ॥

कुलराजधानीवर्णनम् ।

विजित्य लङ्कामपि वर्तते या यस्याश्च नायात्यलकापि साम्यम् ।

जेतु पुरी साप्यपरास्ति यस्य धारेति नाम्ना कुलराजधानी ॥ ९० ॥

कुलराजधानी का वर्णन ।

लंका जैसी नगरी को भी (अपने गौरव से) जीतने वाली, अल्कापुरी भी जिसकी समता नहीं कर सकती इस प्रकार की इस विजेता राजा की दूसरी कुल-प्रमाणत राजधानी भी थी, जिसे लोग धारा (उज्जयिनी) कहते थे ॥ ९० ॥

तस्यां स साहसजितायनिपालमौलिरत्नांशुपल्लवितकाश्चनपादपीठ ।

देव क्षमापलयमेतदुदुश्चितैरुलीलातपत्रललिताभरण भुनक्ति ॥ ९१ ॥

इति श्रीमृगाङ्गुत्तूलो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहस्राङ्क-
चरिते महाकाव्ये नगरी नरेन्द्रवर्णनी नाम प्रथम सर्ग ॥ १ ॥

वह राजा उस राजधानी में अपने पराक्रम से जीते हुए राजाओं के मुकुटों के रत्नों की कान्ति से युक्त स्वर्णसिंहासन पर बैठकर ऊपर उठाये हुए लीलातपत्र रूपी मुन्दर जाभरण से सजे इस सम्पूर्ण भूमण्डल का जकेले ही उपभोग किया करता था ॥ ९१ ॥

इति श्रीमृगाङ्गुत्त के पुत्र परिमल उपनाम वाले पद्मगुप्त

रचित नवसाहस्राङ्कचरित महाकाव्य का नगरी नरेन्द्र

वर्णन नामक पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः

कदाचिल्लोचनातिथ्यमाप्तेनालेख्यवेश्मनि ।
स मृगव्याघ्रिनोदेन पस्पृशे पार्थिवो हृदि ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग ।

किसी समय चित्रशाला में मृगया (शिकार) विनोद के लिये बने हुए चित्र का देग्य कर राजा के मन में शिकार खेलने की भावना जाग्रत हुई ॥ १ ॥

उग्रतुरगारूढः स समं राजसूनुभिः ।
गिरंगच्छद्विपिनं विन्ध्यस्यावन्ध्यशासनः ॥ २ ॥

अनितक्रमणीय आज्ञा वाला (सफल आज्ञा वाला) वह राजा अति ऊँचे घोड़े पर चढ़कर अन्य राजपुत्रों के साथ विन्ध्याचल के पहाड़ी बनों में शिकार खेलने गया ॥ २ ॥

हारेणाऽऽमलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः ।
फलीन्द्रवद्वजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटेः ॥ ३ ॥

आवले के समान बड़े बड़े मोतियों के हार से बँधे हुए वालों वाला, वह शेषनाग से युक्त जटाजूट वाले भगवान् शंकर के समान दिग्वाई देने लगा ॥ ३ ॥

देवः स चारवाणेन नलिनीपत्रवन्धुना ।
श्यामजीमूतसन्नद्धः काञ्चनाद्रिरिवाऽऽवर्भौ ॥ ४ ॥

नलिनी के पत्रों के समान कान्ति वाले कवच से वह राजा ऐसी शोभा पा रहा था, जैसे नीले बादलों से युक्त मुमैरुपर्वत शोभा पाता है ॥ ४ ॥

तस्योपरि विभोर्नीलमातपत्रं व्यराजत ।
वारिधेरिव पीताम्भश्श्यामलं मेघमण्डलम् ॥ ५ ॥

उस राजा के सिर के ऊपर नील वर्ण का छत्र ऐसा दिग्वाई दे रहा था, मानो समुद्र के ऊपर नये पानी से भरा श्यामवन हों ॥ ५ ॥

व्याधूतिमुक्तमरुता व्यरुचञ्चामरेण सः ।
वन्दिगृहान्निःश्वसता यशसेवादिभूभुजाम् ॥ ६ ॥

हिल-डुलकर पवन उत्पन्न करते हुए श्वेतचामर द्वारा वह राजा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बन्दीगृह से निकलता हुआ पहले के शत्रु-राजाओं का यश आहें भर रहा हो ॥ ६ ॥

व्यधादिवोद्गतैर्दूरैः स चूडारत्नरश्मिभिः ।

निशाकरकुरङ्गम्यैः पाशमाकाशवर्त्मनि ॥ ७ ॥

अपने मुकुट के मणिरत्नों के दूर तक फैले हुए किरणसमुदाय से वह मानो चन्द्रमा के मृग को पँसाने के लिये जाकाश मार्ग में जाल बिछा रहा था ॥ ७ ॥

तस्यांसयोर्नृसिंहस्य हारकान्तिसटाभर ।

उवाह कण्ठलम्प्रश्रीविलासहसितश्रियम् ॥ ८ ॥

नरसिंहावतार रूप (नरश्रेष्ठ उस राजा) के दानों कन्धों पर लटकने वाला अयालों के समान कान्ति वाला हार एसा लग रहा था, मानो उसके कण्ठ का गाढालिङ्गन करने वाली लक्ष्मी रूपी राजश्री का मन्द हास हो ॥ ८ ॥

पुर पदपदे तस्य नानारत्नाङ्गदत्त्रिप ।

रचयन्ति स्म सञ्चारि चाप प्राचीनार्ह्यप* ॥ ९ ॥

उस राजा के आगे पद पद पर अनेकानेक (रंग विरंगे) रत्नपचित अगद (भुजगन्द) को किरणों फैल रही थीं (तत्र) ऐसा प्रतीत हाता था, जैसे चलता फिरता इन्द्रधनुष हो ॥ ९ ॥

भाति स्म कण्ठाभरणपद्मरागप्रभावृत ।

राजन्याससर स्नात* स भार्गव इनापर ॥ १० ॥

कण्ठहार में जटित पद्मराग-मणियों की किरणों से चारों ओर से घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो ध्रुवश के रक्त म स्नान किये हुए दूसरा भार्गव (परशुराम) हो ॥ १० ॥

रुरुचे स पुरस्त्वङ्गत्सितलत्रपरम्पर ।

बेलानिलसमुद्भूतफेन पतिरिवार्णसाम् ॥ ११ ॥

जब वह चलता था, तत्र उसके आगे श्वेतवर्ण के राजलुनों की पक्षिया ऐसी लगा करती थीं, मानो ऐसा समुद्र हो जिस पर तीर के वायु के थपेड़ों से फेन उतरा गहा हो ॥ ११ ॥

उपायनीकृतोत्रिद्रपद्मकिञ्चलरुसौरभ ।

तमसेवत सम्राज विन्ध्यदूत इनाऽनिल ॥ १२ ॥

त्रिकसित कमल के पराग की गन्धभेंट चढाकर विन्ध्याचल के पवन ने दूतरूप में उस राजा की सेवा की ॥ १२ ॥

तदश्वीयसुरोत्पातैः पासुदूटैरजायत ।

पुन प्रसभवर्धिष्णुविन्ध्यशङ्काकल जगत् ॥ १३ ॥

उसके घोड़ों के खुरों से खोदी हुई विन्ध्यभूमियों से जो धूल ऊपर के उठी, उसे देख कर लोगों को ऐसी शंका हुई, मानो विन्ध्याचल पुनः ऊपर को उठ रहा हो ॥ १३ ॥

सहेमशृङ्खलाः श्वानः श्वेतास्तस्याग्रतो ययुः ।

वहन्तः सतडिदामशारदाम्बुधरश्रियम् ॥ १४ ॥

शरत्कालीन चपला से मुशोभित बादलों के समान न्वर्णजजीरों से बँधे सफेद कुत्ते उस राजा के आगे आगे चलने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तुरगहेपाभिः पत्तिकोलाहलेन च ।

अजायन्त भयोद्भ्रान्तश्वापदा विन्ध्यभूमयः ॥ १५ ॥

तब घोड़ों की हिनहिनाहट से और पदाति सेना के कोलाहल से विन्ध्याचल के हिल जन्तु भय से व्याकुल हो गये ॥ १५ ॥

रभसाकृष्टकोदण्डं कर्णपूरीकृतेक्षणाः ।

तमनङ्गमिवाऽपश्यन् वनान्ते वनदेवताः ॥ १६ ॥

वेग से सहसा धनुष को चढ़ाने वाले उस राजा को, विन्ध्यवासी देवताओं ने अपने कानों तक फैले नेत्रों से काम के समान देखा ॥ १६ ॥

मयि गोप्तरि चोरोऽयमवलालोचनश्रियः ।

इतीव मुमुचे तेन कृष्णसारं शिलीमुखः ॥ १७ ॥

मुझ जैसे रक्षक के होते हुए भी यह अवलाओं की नयनगोभा चुरा लेता है, इसीलिये मानो उस राजा ने (चोर) कृष्णसार मृग पर बाण चलाया ॥ १७ ॥

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।

श्रीहर्ष इव सहृद्वं चक्रे बाण-मयूरयोः ॥ १८ ॥

विभिन्न रंगों की शोभा धारण करनेवाले बाण और मोर का उस पृथ्वीपति ने ऐसा संयोग उपस्थित कर दिया (मोर पर बाण छोड़ा) जैसा श्री महाराज हर्ष ने चित्र विचित्र काव्य-रचनाएँ करनेवाले बाण और मयूर कवि को अपनी सभा में जुटा कर किया था ॥ १८ ॥

चमरीणां शरोत्कृत्तैः स वालधिभिर्ज्ज्वलम ।

परितो व्यधिताऽरण्यं स्वयज्ञःस्तदकैरिव ॥ १९ ॥

उसने अपने बाणों से काटी गई, चमरी गाथों की पंखों से सारे वन को ऐसा उज्ज्वल कर दिया, मानो इस रूप में उसके कीर्तिकुमुम के गुच्छे वहा खिले हों ॥ १९ ॥

आहूत इव साटोपं लाङ्गूलास्फोटनिःस्वनैः ।

अभ्यधावदभिव्यात्रानात्रातः कांतुकेन सः ॥ २० ॥

मृगयाविहार के प्रति उत्सुक वह राजा व्याघ्रों की ओर ऐसे दौड़ पड़ा, मानो पँखों की फटकार और गर्जन तर्जन से उन्होंने ही उसे अहंकार पूर्वक ललकारा हो ॥ २० ॥

त्रिधित्सुरात्मनः शौर्यमसामान्यमिवादेव ।

स शगन् पुण्डरीकेषु पुण्डरीकायतेक्षणः ॥ २१ ॥

कमल के समान दीर्घ नेत्र वाले उस राजा ने अपने पराक्रम का विस्तार करने के लिये पुण्डरीकों (व्याघ्रों) पर प्राण छोड़े ॥ २१ ॥

तैस्तस्य बाहुबोर्येण दृष्टन व्रीडितेरिव ।

तस्यजे विक्रमस्पर्धा पुर पश्चात्तु जीवितम् ॥ २२ ॥

उस राजा के भुजबल का देवकर प्रथम ता उन्होंने मानो लजित हो कर पराक्रम करना छोड़ दिया और बाद में प्राणों का ही त्याग कर दिया ॥ २२ ॥

द्वितेरेकातपत्रायाः स पतिर्मत्सरादिव ।

एतन्पुण्डरीकत्व न सेहे त्रिन्ध्यभूभृत ॥ २३ ॥

समस्त पृथ्वी का एक छत्रपति वह राजा, माना जलन से युक्त हो कर त्रिप्याचल (रूपी राजा) के व्याघ्रों की प्रबलता (श्वेत कमल रूपी छत्रकी उच्चता) सहन न कर सका ॥ २३ ॥

अरण्यमहिपैर्द्वैर तस्मात्सायनवर्षिणः ।

अपसस्त्रे विकीर्णाशोस्तमोभिरिव भास्वत ॥ २४ ॥

जिस भाति दधर उधर पैली हुई चमकती हुई, सूयन्त्रियों के समक्ष अन्धकार टहर नहीं सकने के कारण दूर हट जाना करता है, उसी भाति चाणुपर्षा करने वाले उस राजा के (चमकते हुए) प्राणों के सामने जगली भैसे भी न टहर सके ॥ २४ ॥

महामहिपनिपेपकेलिः पारमगाद्द्वयोः ।

राक्षस्तस्यातिचण्डस्य चण्डिकाचरणस्य च ॥ २५ ॥

अत्यन्त क्रोधी इस राजा और चण्डिका के चरण इन दोनों ने जो भयानक महिप भर्दन लीला की वह पराकाष्ठा को पहुँच गई ॥ २५ ॥

शरदीय प्रसर्पन्त्यां तस्य कोदण्डटाड्यतौ ।

विनिद्रजृम्भितहरिर्विन्ध्योदधिरजायत ॥ २६ ॥

शरत्कालीन लुटा के विस्तार के समान जब उस राजा की घनुप टकार विप्याचल के उन में फैलने लगी, तो विप्याचल रूपी उदधि ऐसा हो गया, मानो उसमें विराजमान हरि (त्रिपु जयरा सिंह) निद्रा त्याग कर उठ सका हुआ हो ॥ २६ ॥

अशोपभुवनख्यातविक्रमेऽव्यक्तविक्रमैः ।

दर्पान्मुमुचिरे तस्मिन् तिर्यक्केसरिभिर्दशः ॥ २७ ॥

छिपे हुए पराक्रम वाले विन्ध्य-वनवासी सिंहों ने समस्त भूमण्डल में विख्यात पराक्रम वाले उस राजा पर सगर्व तिरछी दृष्टि डाली ॥ २७ ॥

स तेषां सहजोद्ग्रशौर्यसञ्चारवीथिषु ।

मत्तेभमौक्तिकोत्तसान्न सेहे नखशुक्तिषु ॥ २८ ॥

सहज ही प्रचण्ड बल का संचार जिनमें ही रहा था, सिंहों की उन नखरूपी सीपियों में सजे मतवाले हाथियों के मस्तक के मोतियों को वह राजा न सह सका ॥ २८ ॥

यूथे महावराहाणां गते तद्वाणगोचरम् ।

चिरात् पल्वलमुस्तानां सन्तानः स्वस्तिमानभूत् ॥ २९ ॥

महावराहों (सूअरों) का समुदाय जब उस राजा के वाणों का लक्ष्य बना तो तालाबों में लगा हुआ नागरमोथा कुशल मनाने लगा (अर्थात् सूअरों के मर जाने पर वह बचा रहा) ॥ २९ ॥

समदक्रोडदंष्ट्राभिः कृत्ताभिः कौतुकेन सः ।

स्थलीर्न्यधित विन्ध्यस्य विकीर्णन्दुकला इव ॥ ३० ॥

उस राजा ने कौतूहल से ही काटी गई मदनमत्त वराहों की दाढ़ोंसे विन्ध्या-चल का भूमि को ऐसे पाट दिया जैसे वह चन्द्रकला से सुशोभित हो ॥ ३० ॥

असैरिभमसारङ्गमवराहमकेसरि ।

क्षणाद्वनमशार्दूलमात्तचापश्चकार सः ॥ ३१ ॥

अपने धनुष पर वाण चढ़ा कर उस राजा ने शीघ्र ही विन्ध्याचल की भूमि को जंगली भैसों, हिरणों, सूअरों, सिंहों और वाणों से रहित कर दिया ॥ ३१ ॥

अलं प्रहृत्य भूपाल सत्त्वेष्वनपराधिषु ।

इतीव स खगारावेर्न्यपेधि वनराजिभिः ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! निरपराध प्राणियों पर इस प्रकार वाण का प्रहार मत करो, इस भाँति वनसमुदाय ने खगकोलाहल की वाणी द्वारा मानो उसे रोका ॥ ३२ ॥

असेवन्त समीरास्तमनस्तमृगयाश्रमम् ।

सुरतश्रान्तशवरीकवरीमाल्यचुम्बिनः ॥ ३३ ॥

सुरतक्रीड़ा करके थकी हुई भीलनियों के जूड़ों पर सजी मालाओं का चुम्बन (स्पर्श) करने वाली वायु ने शिकार खेलने से थके हुए उस राजा की सेवा की (इस प्रकार की वायु के लगने से उसकी थकान दूर हो गई) ॥ ३३ ॥

कुरङ्गदर्शनम् ।

अथेन्द्रचापललित सञ्चरन्तमितस्तत* ।

अमन्दमृगयासङ्गः स कुरङ्गमलोकृत ॥ ३४ ॥

मृगदर्शन ।

इसके पश्चात् मृगया के उत्साह से सम्पन्न सिन्धुराज ने इन्द्रधनुष की कान्ति वाले चञ्चल (विचित्र बरस के) एक मृग को द्धर उधर विचरण करते देखा ॥ ३४ ॥

सोऽपि त वलितग्रीव क्षण स्थित्वा ददर्श च ।

निरन्तरलतापुञ्ज विन्ध्यकुञ्ज निवेश च ॥ ३५ ॥

उस मृग ने भी गर्दन घुमा कर थोड़ी देर खड़े रह कर उस राजा को देखा और शीघ्र ही वह विन्ध्यके सगन वृताकुञ्ज में धुस गया ॥ ३५ ॥

ततस्तुरगमुत्सृज्य विसृज्यानुप्लवानपि ।

तमन्वियाय सारङ्ग सारङ्गायतलोचन ॥ ३६ ॥

मृग के समान पिशाल लोचना वाला वह राजा अपने घोड़े और अनुचरों को वहीं पर छोड़ कर उस मृग के पीछे चल पड़ा ॥ ३६ ॥

देवो रमाङ्गदेनाय स श्रियेवान्वगम्यत ।

छाया निवर्तते जातु नतु तस्यैप भूपते ॥ ३७ ॥

सिन्धुराज के मंत्री रमाङ्गदे ने राजकुमारी के समान सदैव इसका अनुगमन किया । राजा को छाया चाहे राजा से पृथक् हो जाय किन्तु यह मंत्री उनसे अलग नहीं हो सकता था ॥ ३७ ॥

मृगानुसारी विचरन्नात्तचापो घने वने ।

लीलां निरातवेपथ्य स प्रपेदे पिनाकिन ॥ ३८ ॥

धनुष पर बाण चढ़ाए मृग का पीछा करते हुए वन वन में घूमने वाला वह राजा, किरातवेप धारण करने वाले शिव के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ३८ ॥

दूरादेव स तेनाथ शरयत्प्रमनीयत ।

स्वनामधेयचिह्नस्य हेमपुद्गस्य पत्रिण ॥ ३९ ॥

उस मृग को दूर से ही इस राजा ने अपने नाम से चिह्नित तथा स्वर्ण-फलक वाले अपने बाण का निशाना बनाया ॥ ३९ ॥

शिलाभेदक्षमेनापि किमपि श्लथमुष्टिना ।

अभूद्विद्ध स सारङ्ग तेन त्वचि न मर्मणि ॥ ४० ॥

यद्यपि वह बाण पत्थरों को भी भेदने में समर्थ था, किन्तु कुछ शिथिल

मुट्टी से छूटने के कारण उस ने मृग के चर्म को ही वेधा, उसके मर्म स्थल को नहीं वेधा ॥ ४० ॥

स शरापातभीतेन मनसोऽप्यतिरंहसा ।

अतिदूरं कुरङ्गेण निन्ये राम इवापरः ॥ ४१ ॥

वाण गिरने के डरसे मन से भी अधिक वेग वाला वह मृग उस राजा को दूर तक अपने पीछे वैसे ही ले गया, जैसे स्वर्णमृग राम को ले गया था ॥ ४१ ॥

तेन विन्ध्याटवीमध्ये धावन्नीरन्ध्रवीरुधि ।

उत्पतन्नुत्पतन्नेव स केवलमलक्ष्यत ॥ ४२ ॥

विन्ध्याचल के वन में दौड़ता हुआ वह मृग जब घने लताकुञ्जों में बार-बार उछलता था तभी दिखाई देता था ॥ ४२ ॥

दृशा वनस्थलीः कुर्वन् विकीर्णन्दीवरा इव ।

जवाद्दूरमतिक्रान्तं तं क्षितीशस्तदैक्षत ॥ ४३ ॥

पुनः अपने दृष्टिपात से सारे वन में मानो कमल बिखेरते हुए उस राजा ने वेग से दूर निकल गए हुए मृग को देखा ॥ ४३ ॥

ततस्तिरोहिते तस्मिन्नसमाप्तकुतूहलः ।

स्ववाण इव स प्राप पृथिवीं दुर्विलक्षताम् ॥ ४४ ॥

पुनः उस मृग के आँखों से ओझल हो जाने पर कौतूहल युक्त वह राजा भी लक्ष्य भ्रष्ट हुए अपने वाण को ही भाँति धरती पर गिर पड़ा (बैठ गया) ॥ ४४ ॥

दशनज्योत्सनया कुर्वन् लताः स्तवकिता इव ।

इति पाश्वर्गतं स्मित्वा स जगाद् रमाङ्गदम् ॥ ४५ ॥

मुस्करा कर अपने दाँतों की काँति से लताओं को पुष्पित सा करता हुआ वह राजा अपने बगल में बैठे हुए रमांगद से बोला ॥ ४५ ॥

रमाङ्गदाय मृगवर्णनम् ।

अयं तुलितपौलोमीकान्तकार्मुकविग्रहः ।

मृगो दृग्गोचरं कञ्चिद्गतस्तव रमाङ्गद ! ॥ ४६ ॥

रमाङ्गद से मृग का वर्णन ।

हे रमाङ्गद ! अपने शरीर से इन्द्रधनुष को समता करने वाले इस मृग को क्या तुमने भी देखा ? ॥ ४६ ॥

तद्वधूस्वकरन्यस्तचित्रपत्रलताङ्कितः ।

असौ विहारहरिणः किं स्यादनलसारथेः ॥ ४७ ॥

इन्द्र की बंधुओं के हाथों से विभिन्न रंगों की चित्रकारियों से सजाया गया, यह वायु का पालतू मृग तो नहीं है ? ॥ ४७ ॥

अपि दृष्टा त्वयैतस्य कण्ठे कनकशृङ्खला ? ।

छुरितस्पेन्द्रचापेन मेघस्येव तडिल्लता ॥ ४८ ॥

क्या तुमने इसके कण्ठ में वह सोने की जञ्जीर देखी जो ठीक इन्द्र धनुष से शांभित मेघ की विद्युलता सी प्रतीत हा रही है ॥ ४८ ॥

मृगजातिरपूर्वेय सर्पथा वसुधातले ।

मन्भवत्यमराद्री वा भुजने वा फणाभृताम् ॥ ४९ ॥

यह मृग या तो सुमेरुपर्वत पर ही ही सकता है, या फिर नागलोक में ही हो सकता है । इस जाति का मृग वसुधा पर आज ही देखा गया ॥ ४९ ॥

अस्याखण्डलकोदण्डकान्ति चर्मातिपावनम् ।

गजपृष्ठे निधास्यामि महासमरपर्वसु ॥ ५० ॥

इस मृग के इन्द्रधनुष की सी कान्तिवाजे पवित्र चर्म जो उड़े उड़े युद्धों में जाते समय में हाथों की पीठ पर सजाया करूँगा ॥ ५० ॥

यन्निमज्जति मन्चेत कुतूहलरम्भोमिषु ।

मार्गमन्वेष्ट्रमेतस्य तदेहि प्रयतावहे ॥ ५१ ॥

मेरा चित्त कौतूहल की लहरों में डूब उतरा रहा है (कौतूहल मग्न हो रहा है) अतः जानो इसके अन्वेषण का प्रयास करें ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा निरते तस्मिन् परमारमहीभृति ।

उचे रमाङ्गदेनैवमवाप्यावसर वचः ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर परमारवश के महाराज (नवसाहसक) के लुप हो जाने पर अवसर पाकर रमाङ्गद बोले ॥ ५२ ॥

रमाङ्गदकृती मृगानुमरणनिषेधः ।

क्रधेवाधिज्यचापन वर्णसङ्करदर्शिना ।

त्वयैव चित्रसारङ्गी देव दूरमनुद्रुत ॥ ५३ ॥

रमाङ्गद का आखेट निषेध करना ।

महाराज ! आपने वर्णसंकर (नाना वर्णों वाले तथा दोगले) के दर्शन मात्र से ही मानो क्रोध में आकर धनुष पर राण चढाकर इस कृष्णसार मृग का बहुत दूर तक पीछा किया ॥ ५३ ॥

अशून्या सुर-गन्धर्व-सिद्ध विद्याधरोरगै ।

इमा नवनवाश्चर्यनिधयो विन्ध्यभूमय ॥ ५४ ॥

सुर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और सपों से परिपूर्ण यह विन्ध्यवनभूमि नये-नये कौतुकों की खान है ॥ ५४ ॥

विरमात्यादरः कोऽयं कुरङ्गान्वेषणे तव ।
न धावन्त्यर्थरिक्तासु क्रियासु त्वाद्दशां धियः ॥ ५५ ॥

आप शान्त हो जावें । मृग के अन्वेषण के लिये आप यह कैसी उत्सुकता दिखा रहे हैं ? निष्फल कामों में आप जैसे व्यक्तियों की बुद्धियाँ नहीं लगा करती हैं ॥ ५५ ॥

मृगयासक्तचित्तस्य तत्रात्र विचरिष्यतः ।

पथि लोचनयोरेप पुनरप्यापतिष्यति ॥ ५६ ॥

मृगयासक्तचित्त होकर वन में विचरण करते हुए आपकी दृष्टि में वह मृग फिर आयेगा (एक बार फिर आप उसे देखने) ॥ ५६ ॥

शरः संहियतामेप धनुरप्यवतार्यताम् ।

शोपा च स्वस्तिमत्यस्तु देव श्वापदसन्ततिः ॥ ५७ ॥

हे देव ! अब आप धनुष की डोरी खोल दीजिए और बाण को उतार लीजिए, ताकि वचे हुए जंगली जानवरों का समुदाय कल्याण का अनुभव करे ॥ ५७ ॥

दशा दिनस्य तीत्रेयं यदयं भगवान् रविः ।

कृष्णस्योरसि पुष्पाति नभसः कौस्तुभश्रियम् ॥ ५८ ॥

मध्याह्न हो गया है, (देखिए) नभस्तल पर भगवान् सूर्य, श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर लगे कौस्तुभ मणि की सी गोभा को धागण करने लगे हैं ॥ ५८ ॥

निहतेषु त्वया देव सत्त्वेषु व्यथिता इव ।

एता वहन्ति सन्तापमतीवारण्यभूमयः ॥ ५९ ॥

हे देव ! आपने बहुत से जंगली जानवर मार डाले, इसीलिये मानो ये वनभूमियाँ वेदना से अत्यन्त सन्तप्त (दुखी तथा तपी हुई) हो रही हैं ॥ ५९ ॥

अमीभिर्वालवानीरविटपेष्वग त्कलमैः ।

कपिञ्जलैरितः पश्य सहसैव निलीयते ॥ ६० ॥

हे देव ! इधर देखिये । ये थके हुए कपिञ्जल पक्षी छोटी छोटी वेत की लताओं के बीच कैसे जल्दी जल्दी छिप रहे हैं ॥ ६० ॥

अर्काशुगलपितैरेभिरितोऽप्यालिखितैरिव ।

राजजम्बूनिक्कुञ्जेषु पश्य पुंस्कोकिलैः स्थितम् ॥ ६१ ॥

सूर्य की किरणों से व्यथित ये नर-कोकिल बड़े बड़े जामुन के वृक्षों में ऐसे बैठ गये हैं, मानो चित्रस्थ हो ॥ ६१ ॥

आह्लादहेतु स्निग्धेयमितो वन्येन दन्तिना ।

पश्य नीपतरोश्च्छाया सवशेन निषेयते ॥ ६० ॥

देखिये, पास ही यह जगली हाथी अपनी हाथिनी के साथ मन को प्रसन्न करने वाली कदम्ब को इस घनी छाया को बैसे सेवन कर रहा है ॥ ६० ॥

नत्राम्बुधरनीलोऽय दामधूमलतोद्गम ।

नीलकण्ठैरितस्तर्पात्सोत्कण्ठैरत्रलोभ्यते ॥ ६१ ॥

काले रादल की कान्ति का रूप धारण करने वाले इस जगली आग से उठने वाले धुँवों की ये मोर नृणावग कैसे उत्कण्ठित होकर देख रहे हैं ॥ ६१ ॥

अनया चिद्रुमस्तम्यभङ्गपिङ्गलया नशा ।

इत पल्लपलङ्कान्तर्व्यक्तिमभ्येति मैरिभ ॥ ६४ ॥

तालात्र ने नीचड़ के रात्र पड़ा हुआ भँसा जगती भूगे ने समान पिगलवर्ण वाली आँखों में ही पहचाना जा रहा है ॥ ६४ ॥

कठोरातपत्रस्य राजहमस्य सम्प्रति ।

नरेन्द्र नलिनीपत्रमातपत्राभित्रत्यद ॥ ६५ ॥

हे राजन् ! दापहर की धूप से व्याकुल इस राजहंस के लिये इस समय यह नलिनी का पत्र ही छाते का काम कर रहा है ॥ ६५ ॥

मुत्तमररजन्ठन्नपोलफलमृनि ।

देव दन्तुरयन्त्येते तवापि स्वेदमिन्द्र ॥ ६६ ॥

घाड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूप में युक्त नरागों वाले आपके मुख की भी ये पर्शाने की धुँवें सुगामित कर रही हैं (आपके परिश्रम का घोषित कर रही हैं) ॥ ६६ ॥

तदत्र कुसुमस्मेरे निम्नत्समदालिनि ।

त्रिनीयता लताकुञ्जे त्र्येप मृगयाश्रम ॥ ६७ ॥

इसलिए हे देव ! विकसित पुत्रों वाले एत्र मत्तप्रमरों के मधुर गुञ्जार से परिपूर्ण इस लताकुञ्ज में आप आसेट के परिश्रम को दूर करें ॥ ६७ ॥

अपि स्वच्छजला देव कलहसाङ्गमैरता ।

त्रगहोत्सातमृत्स्नेय पुर पुष्करिणी तव ॥ ६८ ॥

हे देव ! अच्छ जलशाली, कलहसा में शोभित पुलिन वाली, सूकरों द्वारा खोदी हुई कोमल मिट्टी से युक्त यह तालड़ी आपके सामने ही है ॥ ६८ ॥

त्रामिवाकंकरकलान्तमाहारयितुमेतया ।

अयमाधूतकह्लारकलिक प्रैपितोऽनिल ॥ ६९ ॥

सूर्यरश्मियों से व्याकुल आपको बुझाने के लिये इसने मानो कह्लार (कण्डैल)

कलिकाओं को कम्पित करने वाले वायु को भेजा है (अर्थात् कल्लार पुष्पों के गन्ध से युक्त नदी का स्पर्श करने वाली ठण्ढी ठण्ढी हवा भी चलने लगी है) ॥६९॥

लतापुष्पोत्करैः कीर्णों मार्गोऽयमवगायताम् ।

इतो वन्येभमुक्ताभिरिमाः शर्करिला भुवः ॥ ७० ॥

इधर जंगली हाथियों के मस्तक के मांतियों से युक्त यह भूमि पथ-रीली-सी हो गई है और इस आंर लतापुष्प-समुदाय से भरा हुआ यह मार्ग है । आप इधर से ही चले ॥ ७० ॥

इत्युक्ते मसृणं तेन नृपस्य पदमादधे ।

स्मितं सरस्वतीरत्नपर्यङ्के दन्तवाससि ॥ ७१ ॥

मंत्री के इस प्रकार कहने पर सरस्वती के रत्नपर्यङ्करूपी राजा के अधरों पर स्निग्धमन्दहास ने अपना अधिकार जमाया ॥ ७१ ॥

यशोभटोपदिष्टेन गत्वा किञ्चिदिवाध्वना ।

प्राप पुष्करिणीतीरमवन्तितिलकोऽथ सः ॥ ७२ ॥

यशोभट (रमाङ्गद) के बताए हुए मार्ग से कुछ दूर चलकर यह अवन्तो का तिलक (अवन्तिनाथ) बावड़ी के किनारे पर पहुँचा ॥ ७२ ॥

करादनुचरस्तस्य सान्द्रस्वेदजलाङ्गलेः ।

मधुर्मनोभवस्येव सशरं चापमाददे ॥ ७३ ॥

राजा के अत्यधिक पसीने से सनी अँगुलियों वाले हाथ से उसके अनुचर (रमाङ्गद) ने इस भाँति धनुष-बाण ग्रहण कर लिये जैसे वसन्त ने कामदेव के हाथ से धनुष बाण ले लिए हों ॥ ७३ ॥

अथ स्नानादिवर्णनम् ।

ततः स्नानेच्छया स्पृष्टो विसृष्टश्यामकञ्चुकः ।

स रेजे मेघनिर्मुक्तः पर्याप्त इव चन्द्रमाः ॥ ७४ ॥

राजा के स्नानादि का वर्णन ।

तदनन्तर जब स्नान करने की इच्छा से उस राजा ने अपने कृष्णवर्ण के कञ्चुक (चोला या कवच) को उतारा तो वह ऐसा दिखलाई देने लगा, मानो मेघ से मुक्त पूर्ण चन्द्रमा हो ॥ ७४ ॥

प्रमृष्टमृगायारेणु तन्मुखं पार्श्ववर्तिना ।

रुरुचे मारुताक्षिप्रपरागमिव पङ्कजम् ॥ ७५ ॥

जब अङ्गरक्षक ने उसके धूलभरे मुख को धोया तो उसका मुख उस कमल के समान शोभित हुआ जिसका केशर वायु द्वारा उड़ा दिया गया हो ॥ ७५ ॥

निसर्गललिता तस्य त्रिमुक्तालङ्कृतिस्तनु ।

लतेव पारिजातस्य पर्यस्तस्तवकाऽभवत् ॥ ७६ ॥

स्वभाव से ही सुन्दर, अलंकारों से रहित उसका शरीर पुष्पगुच्छों से रहित पारिजात-लता-सा दोखने लगा ॥ ७६ ॥

स्वेदभिन्नाङ्गराग. स सरसीं तामगाहत् ।

मदसिक्ततटाघातधूलिर्घन्य इव द्विप ॥ ७७ ॥

पसीने से सने हुए अंगराग वाला बह राजा मद से सने हुये, तटाघात से उठी धूल से युक्त हाथी की भाँति उस नानदी में स्नान करने लगा ॥७७॥

स तस्या दूरविक्षिप्तविहगश्रेणिमेतल ।

विजहार यथाकाम तिलासकुमुमायुध* ॥ ७८ ॥

उम राजा ने पुष्करिणी (नानदी) में विहग पक्षि रूपी मेलला को दूर करके तिलासी काम की भाँति स्वेच्छापूर्वक उसने साथ विहार किया (ती भर कर स्नान किया) ॥ ७८ ॥

उवाह विस्फुरन्नालकण्टकच्छन्नापि सा ।

तदङ्गयष्टिम्पर्शन रोमाञ्चमिव पद्मिनी ॥ ७९ ॥

ऊपर उठे कमलनाल रूपी रोमों के रहाने कमलों-जल नानदी भी पद्मिनी नायिका की भाँति उस राजा के अंगस्पर्श से माना रोमाञ्चित हुई सी दिखाने देने लगी ॥ ७९ ॥

ततस्तरङ्गनिर्घोतमध्यास्य स शिलातलम् ।

यश स्नपितदिकस्मीमा देव सस्मौ यथाविधि ॥ ८० ॥

पुन अपने यश से दिग्दिगन्त को श्रेत करने वाले उस महाराज ने नानदी की तरंगों से धुली हुई शिला पर नैठकर विधिपूर्वक स्नान किया ॥ ८० ॥

तस्याऽविरलमत्तालिनि स्ननच्छद्मना वने ।

अगीयतेव देवस्य लतामि स्नानमङ्गलम् ॥ ८१ ॥

निरन्तर गुञ्जार करने वाले मत्त भ्रमरों के गुञ्जार के रूप में वन की लताओं ने मानो उसके स्नान के समय मंगल गीत गाये ॥ ८१ ॥

स दूरोदस्तपर्यस्तसपुष्पसलिलाञ्जलि ।

जगत्तमोपह ज्योतिस्त्रयीमयमुपस्थित ॥ ८२ ॥

जल से दूर होकर (निकल कर) पुष्प और जल से अञ्जलि भर कर उस राजा ने अथकार को नष्ट करने वाले त्रयीमय—भू भुव स्व अथवा अग्नि, यजु, साममय ज्योति सूर्य को अर्घ्य दिया ॥ ८२ ॥

तमानर्चं स राजेन्दुमौली यस्येन्दुलेखया ।

क्रियते स्वर्धुनीवालमृणालशकलभ्रमः ॥ ८३ ॥

जिसके शिर की चन्द्रलेखा मन्दाकिनी में उत्पन्न कोमल कमलखण्ड की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है उस शिव (चन्द्रशेखर) की अर्चना भी उस राजा ने की ॥ ८३ ॥

धन्या हि ता वनलता यत्फलान्याजहार सः ।

कार्यतः सदृशी तासां समुद्ररशना मही ॥ ८४ ॥

वे वन की लताएं धन्य हैं, जिनके फलों को राजा ने ग्रहण किया और यह समुद्ररशना पृथ्वी भी धन्य है, जो उन लताओं की भांति राजा के काम आती रही है ॥ ८४ ॥

निपीय निखिलव्यक्तराजचिह्नेन पाणिना ।

उपास्पृशत्स चाम्भोजकिञ्जल्ककपिशं पयः ॥ ८५ ॥

चक्रवर्ती राजा के समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हाथ से पुनः उस राजा ने कमलपराग से पीतवर्ण जल का आचमन और मार्जन किया ॥ ८५ ॥

नीलातपत्रमित्रेण पत्रेणाम्बुजिनीभुवा ।

निवारितोष्णः सश्रीकं लताकुञ्जं जगाम सः ॥ ८६ ॥

(इस प्रकार) वह राजा जिसके शिर पर नीलछत्र के समान कमलिनी के पत्र से छाया की जा रही थी, राजलक्ष्मी के चिह्न (छत्र) से युक्त होते हुए लताकुञ्ज में गया ॥ ८६ ॥

सपरागे विश्राम कुसुमप्रस्तरे च सः ।

लक्ष्मीकुचाङ्गरागेण भिन्ने शेष इवाच्युतः ॥ ८७ ॥

लक्ष्मी के कुचों पर लगे हुए और लूटे हुए अग पराग से सनी शेष-शय्या पर जैसे भगवान् विष्णु सोते हैं, वैसे ही इस राजा ने भी परागपूर्ण पुष्पों के बिल्लौने पर विश्राम किया ॥ ८७ ॥

रमाङ्गदोऽपि निर्वर्त्य त्वरया किञ्चिद्वाहिकम् ।

अवाप्तसेवावसरः पर्युपास्त विशाम्पतिम् ॥ ८८ ॥

रमाङ्गद (मंत्री) भी शीघ्र दैनिक क्रियाओं को समाप्त कर, सेवा करने का अवसर पाकर इस नरेन्द्र के पास ही आ गया ॥ ८८ ॥

स भृङ्गध्वनिना सुप्तो विपञ्चीनादवन्धुना ।

तमालपल्लवैस्तेन किञ्चित्किञ्चिदवीज्यत ॥ ८९ ॥

वीणा की मधुरध्वनि के समान भ्रमरगुञ्जन की ध्वनि को सुनते सुनते राजा को नींद आ गई और रमाङ्गद तमाल-पत्रों से धीरे धीरे हवा करने लगा ॥ ८९ ॥

निद्रागृहीतनिर्मुक्तलोचनोऽथ जहार स ।

घनच्छायावृतव्यक्तभाम्बतो नभस श्रियम् ॥ ९० ॥

निद्रा में जागें मूँदते तथा खालते हुए वह राजा उस जाकाश की सुन्दरता चुरा रहा था (ऐसा सुन्दर लग रहा था) जिसमें मेघों के छा जाने और हट जाने से सूर्य गुप्त और प्रभट हो रहा हो ॥ ९० ॥

पीनामतटसश्रिष्टपुष्पकेसरशोभिना ।

उप साकल्पकेनेन शयनीयममुच्यत ॥ ९१ ॥

पुष्ट कर्धों ने तट पर चिपक हुए फूलों के पराग से मुशोभित, अतएव उप काल के समान मुदर महाराज ने शय्या छोड़ दी ॥ ९१ ॥

पुनर्मृगयाविहारः ।

चकार च पद चित्रं स भृगस्तस्य चेतसि ।

लग्न हि किमपि वापि वृच्छद्वादाकृष्यते मन ॥ ९२ ॥

पुन आखेट करना ।

विचित्र वणवाले उस मृग ने राजा के मन में अपना स्थान बना लिया था, क्योंकि किसा कारण कहाँ पर गया हुआ मन नहीं रुटिनाइ से वहा से हटाया जा सकता है ॥ ९२ ॥

प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत ।

अत्युज्ज्वलै कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ॥ ९३ ॥

उस राजा ने प्रसन्नतादायक मनोहर अलंकारों से अपने शरीर को उसी भाँति सजाया जैसे कविवर कालिदास ने अपनी कविता का अति प्रसादगुणसम्पन्न अलंकारों से सजाया था ॥ ९३ ॥

जगाहे स महारण्यमसासत्तधनुर्लत ।

उपोडशशभृत्लेख सायमब्धिमिवार्यमा ॥ ९४ ॥

सायकाल कन्धे पर धनुष लटकाए उस राजा ने महारण्य में ऐसे प्रवेश किया जैसे सूर्य (जिसके समीप में उदित होनेवाले चन्द्र की कला हो) समुद्र में प्रवेश कर जाय ॥ ९४ ॥

तस्मिन्दुसुमर्षिर्मरितले च त्रिचचार स ।

स्फुरन्नक्षत्रशरले नभसीय निशाकर ॥ ९५ ॥

चमकते हुए तारागणों से विचित्र वरुण वाले जाकाश में चंद्रमा की भाँति वह राजा भी पुष्पों से रंग विरगी भूमि वाले उस वन में घूमने लगा ॥ ९५ ॥

मृगानुगमनिर्वन्धो न जगामास्य मन्दताम् ।

मैथिलीरमणस्येव विपिने पृथिवीपते ॥ ९६ ॥

जिस भांति वन में रामचन्द्रजी की मृग के पीछे जाने की भावना मन्द नहीं पड़ी, उसी भांति मृग के पीछे जाने की सिन्धुराज की भावना (इच्छा) भी मन्द न हो सकी ॥ ९६ ॥

निशातिक्रमणम् ।

ततः पपात जलर्धा विरोचनफणामणिः ।

दिनाहेर्नीयमानस्य वलात्कारगरुत्मता ॥ ९७ ॥

रात्रि विताना ।

इसके बाद दिन रूमी सर्प का, वलात्कार रूमी (काल) गरुड़ के द्वारा अपहृत सूर्य रूमी फणामणि समुद्र में जा गिरा (सूर्यास्त हो गया) ॥ ९७ ॥

शनैः शनैरथ व्योम्नि मृगाङ्कः पदमादधे ।

सशङ्क इव भूपालान्मृगयासक्तचेतसः ॥ ९८ ॥

मृग के आखेट में आसक्त चित्त वाले भूपति से शकित होकर (ह्रीं) मानो मृगाक (मृग को गोद में रखने वाले चन्द्रमा) ने आकाश में धीरे धीरे पैर बढ़ाया ॥ ९८ ॥

रमाङ्गदास्तृतस्निग्धपल्लवप्रस्तरे ततः ।

वने राजेन्दुना निन्ये तेनेन्दुतिलका निशा ॥ ९९ ॥

रमाङ्गद के विछाये हुए कोमल पत्तों के विछौने पर लेट कर उस राजचन्द्र ने चन्द्रविभूषिता निशा को विताया ॥ ९९ ॥

अथ मुखरखगापनीतनिद्रः क्वचिदपि पद्मसरस्युपास्य सन्ध्याम् ।

पुनरपि तमवेक्षितुं वनान्ते नृपतिरियेष्ट मृगं मृगेन्द्रकल्पः ॥१००॥

इसके पश्चात् कल कोलाहल करने वाले पक्षियों के कलरव से नींद दूर हो जाने पर किसी पद्म-सरोवर में जाकर सन्ध्या-वन्दन करके सिंहसदृश वह गजा फिर वन-मध्य में उस मृग को देखने के लिये चल पड़ा ॥ १०० ॥

पञ्चैकेन स्मर इव शरान्पाणिना हेमपुङ्खान्

अन्येनोर्वाविजयि च धनुः साहसाङ्कं दधानः ।

देवः सोऽथ व्यहरदरिपु न्यस्तपादः पिकाली-

नीडन्यञ्चन्निचुलनिचयश्यामलासु स्थलीपु ॥ १०१ ॥

इति श्रीमृगाकदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसक-

चरिते महाकाव्ये चित्रमृगावलोकनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

शत्रुओं के मस्तक पर चरण रखने वाला वह नृपति एक हाथ पर काम की भांति पांच स्वर्ण फलक (अग्रभाग) वाले बाणों को और दूसरे हाथ में भुवनविजयी एवं साहसांक (साहस के प्रतीक) धनुष को धारण कर, काँयलों

के नीचों के भार से नीचे मुक्री हुई वेतस लताओं से श्रग्धकारपूर्ण वनस्थली में विचरण करने लगा ॥१०१॥

इति श्री मृगाकदत्त के पुत्र परिमल उपनाम वाले

पद्मगुप्त-रचित नवसाहस्रचरित महाकाव्य का

चित्रालोकन नाम का द्वितीय सर्ग

समाप्त ॥ २ ॥



अथ तृतीयः सर्गः

अथ बहु चरतोऽस्य चापपाणेश् चकितवलनमृगयूथवीक्षितस्य ।

वनभुवि सुलभः परिश्रमोऽभूत् न तु हरिणः स हृतेन्द्रचापशोभः ॥ १ ॥

धनुष-बाण हाथ में लेकर चकित चित्त से अत्यधिक विचरण करते-करते मृग को इधर-उधर देखते-देखते उस वन में राजा को थकावट तो खूब मिली, पर वह मृग न मिला ॥ १ ॥

धनुषि तनुभरं निधाय किञ्चित् तरुणतमालवने विनीतखेदः ।

मृगरुधिरल्लाङ्घितेन देवः सम-विपमेण पथा पुरः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तव धनुष की कोटि (अग्रभाग) पर अपने शरीर का भार धरकर नव तमाल-निकुञ्ज में थोड़ा सा विश्राम करके पुनः वह राजा मृग के रक्त-विन्दुओं से चिह्नित ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर आगे बढ़ा ॥ २ ॥

विन्ध्यकन्दरप्रवेशः

अथ स चटुलपटपदोपगीतं वनगजदानसुगन्धि गन्धवाहम् ।

परिसरमभिनृत्तनीलकण्ठं न्यविशत विन्ध्यनगेन्द्रकन्दरस्य ॥ ३ ॥

विन्ध्याचल की कन्दरा में प्रवेश

जिसमें चपल भ्रमरों का गीत हो रहा था, जो जंगली हाथियों के मद की सुगन्ध से युक्त वायु को धारण कर रही थी, जिसके आस-पास मयूर नृत्य कर रहे थे, ऐसी विन्ध्याचल की गुफा में राजा प्रविष्ट हुआ ॥ ३ ॥

चतुरकृत-कचग्रहः स गच्छन् वनलतया परिहासलोलयेव ।

नरपतिरवशः कृतः स कामं वियति मुखेन्दुमुदञ्चयाञ्चकार ॥ ४ ॥

मार्ग पर चलते हुए उस राजा से परिहास की इच्छुक वनलताओं ने उसका कच-ग्रह किया । तब उस राजा ने बड़ी कठिनाई से अपने चन्द्रानन को ऊपर की ओर उठाया ।

विमर्श—अर्थात् राजा के लम्बे-लम्बे वाले अगल-बगल की लताओं में उलझे जा रहे थे, तब राजा को बराबर रुककर अपना मुँह ऊपर आकाश की ओर करना पड़ता था ॥ ४ ॥

नमद्वनिपतिः पतिः प्रजानाम् अयि ! चपले नु विकृष्यते कचेपु ।

विरम मुहुर्तिव मञ्जुमुक्तध्वनिभिरसावलिभिर्लताऽभ्यधायि ॥ ५ ॥

अरी ! तू कितनी चञ्चल है कि इस राजा के, जिसको बड़े-बड़े राजा शीश झुकाते हैं, केश पकड़ने चली है ? इस प्रकार भ्रमरों ने अपनी मधुर सुझार के बहाने मानो उसे (लता को) मना किया ॥ ५ ॥

कतिचिदलिनिपीतधूपगन्धान् अनतिबिलम्बिपराध्व्यमौलिरत्नान् ।
 त्वरितमथ रमान्नदोऽस्य केशान् विपिनलतात्रिपान्तराच्चकर्ष ॥ ६ ॥
 लता की टहनियों के बीच उलके हुए राजा के केशों को रमान्नद ने
 छुड़ाया, जिनकी मुगध भीरे छुक-छुककर पी रहे थे, और जिनसे बहुमूल्य
 मौलि रत्न (मुकुट के रत्न) लटकते दिखाई पड़ रहे थे ॥६॥

हंस-दर्शनम्

नृपतिरथ तदोन्मुखश्चरतम् झटिति सितच्छदमम्बरे ददर्श ।
 दधतमधिगता कुतोऽपि चञ्च्वा निसलतिरामिन तारहारलोत्साम् ॥७॥
 हस-दर्शन

पुन राजा ने मृणाल तन्तुओं के समा उज्ज्वल तथा कहींसे पाये हुए
 हार को चाँच में दबाकर अपनी ओर आते हुए एक हस को आकाश
 में देखा ॥ ७ ॥

विकसितकुमुदच्छदावदाते ततनिभृते पतता ततीर्दधानम् ।
 विरचयितुमुपायन नृपे-दोर् नवघटिते इव दत्तपत्रलेपे ॥ ८ ॥

विकसित कुमुद पत्र के समान श्वेत वर्ण के फैले हुए और बाद, जिसके
 दोनों डैने दिखाई दे रहे थे, उस हस को राजा ने ऐसे देखा, मानो वह
 (अपनी ओर आते हुए) उसके लिये भेंट स्वरूप नवनिर्मित हाथीदाँत की
 दो पत्रलेखाएँ ला रहा हो ।

विमर्श—जब पत्नी उड़ते हैं, तब एक बार उनके डैने फैल जाते हैं
 तथा एक बार बाद हो जाते हैं । इसी क्रिया का स्वभावोक्ति रूप में वर्णन करने
 के लिए 'ततनिभृत' शब्द दिया गया है ॥ ८ ॥

चित्तमतनु विसर्पता समन्तात् किरणलतानिकरेण हारयष्टे ।
 सितमणिभयसूचिनिमित्तस्य स्थितमिव जङ्गमपञ्जरस्य मध्ये ॥ ९ ॥
 उस दिव्य हार की चारों तरफ से पड़ने वाली किरण रेखाओं से बिलजुल
 टँका हुआ वह हस एसा प्रतीत हो रहा था, मानो स्फटिक मणि की शलाकाओं
 (सीखचियों) से बने हुए क्लृते किरते पिंजड़े में बैठा हो ॥ ९ ॥

तरलमणिश्चाऽऽवृत्त प्रकृत्या विदलितविद्रुमकन्दकान्तितुण्डम् ।
 प्रणयनिहितपादयान्नाङ्गम् कमलवनस्थितिलोत्समेव लक्ष्म्या ॥ १० ॥
 स्वभाव से तो वह हस ऐसा है, जिसकी चोंच में कटे हुए मृगे की कान्ति
 है, किन्तु हार के मध्यमणि की कान्ति से चारों ओर से युक्त है । अतः उसे
 श्वेत कमल समझकर मानो लक्ष्मी उसपर महावर लगे पैर को प्रेम से
 धरे हुए हो ।

विमर्श—हंस की चोंच लाल है। लाल चोंच में सफेद हार लटक रहा है। यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा करना चाहता है कि लक्ष्मी रक्त कमलासन पर विराजमान है। लक्ष्मी का रंग गौर है। अतः वह हार रूप से हंस की लाल चोंच में विराजमान है। लाल चोंच की उत्प्रेक्षा रक्त कमलासन में है।

विद्रुमकन्दकान्तिपुण्डम्—मूंगा स्वभावतः ही लाल होता है। फिर अगर उसे फोड़ दिया जाय तो उसकी लालिमा का क्या पूछना ? धूलि आदि का संसर्ग न रहने से अन्दर का भाग अत्यन्त लाल होता है। कवि को इतनी लालिमा से ही सन्तोष नहीं है, अतः वह उसकी जड़ याने मूल भाग की लालिमा चाहता है। कन्द शब्द का अर्थ है जड़ (मूल)। 'कन्दकाञ्चित्पुण्डम्' पाठ में 'कन्द एव कन्दकः' (स्वार्थे कन्) ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये ॥ १० ॥

चरणयुगतले विभातकाल-स्फुटितजपाकुसुमाभिताम्रभासि ।

स्वयमिव नलिनीवनप्रसूतेः परिचयतः कृतकान्तिसंविभागम् ॥ ११ ॥

प्रभात काल में खिले हुए जपाकुसुम की भांति उसके चरण थे। ऐसा मालूम पड़ रहा था जैसे लाल कान्तिवाले उस हंस ने अपने जन्मस्थान कमल-वन से अत्यन्त प्रेम के कारण उसकी रक्तिमा में हिस्सा बंट लिया हो।

विमर्श—हंसों का जन्म तथा निवास कमल-वन में होता है, यह बात प्रसिद्ध ही है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जन्मभूमि या सम्बद्ध वस्तुओं से अत्यन्त प्रेम होना स्वाभाविक है। उसी प्रेम के कारण हंस ने रक्तवर्ण कमल-वन से उसकी रक्तिमा का कुछ अंश माँग लिया और कमल-वन ने भी प्रेमवश दे दिया। हंस के लाल वर्ण के चरणों पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है ॥ ११ ॥

प्रतिपदमतिदीर्घहारभारात् अवनमदुन्नमयन्तमुत्तमाङ्गम् ।

शिरसि निपततो निकाममुष्णान् अहिमरुचः किरणानिवोत्क्षिपन्तम् ॥ १२ ॥

अति दीर्घ हार के भार के कारण पग-पग पर नीचे दबते हुए सिर को वह ऊपर उठा रहा था, मानो अपने सिर पर पड़ती हुई सूर्य की अत्यन्त उष्ण (प्रखर) किरणों को बार-बार दूर करना चाहता हो ॥ १२ ॥

विधृतमुखधृतस्य निष्पतद्विस् तरलभणोररुणस्य कान्तिलेशः ।

अविरतमरविन्दवृन्दपीतान् मधुपृषतानिव भृगुसोढमन्तम् ॥ १३ ॥

खुले मुख में पकड़े हुए रक्तवर्ण के हारस्थित मेरुमणि की कान्ति ऐसी निकल रही थी, मानो वह कमल-वन में पीये गये मधुविन्दुओं को निरन्तर अपने मुख से बाहर फेंक रहा हो ॥ १३ ॥

१. 'तरल' शब्द से यहाँ तात्पर्य है हार के बीच ग्रथित 'मेरुमणि'। 'तरलो हारमध्यगः'—अमरकोश ।

२. पृषन्ति विन्दुपृषताः—अमरकोश ।

परिप्रचितमयत्नपूरितारौर् अत्रिरलमौक्तिकदामरस्मिनालै ।

यश इव परभूमृता निरुद्धव प्रसभमुपाहृतमात्मनो यशोभि ॥ १४ ॥

इस मुक्ताहार के किरण-समुदाय से अनायास ही दिग्दिगन्त को परिपूर्ण करते हुए दूसरे राजाओं के यश को रोककर, मानो अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ १४ ॥

अभिनत्रिसराङ्क्याऽपहृत्य स्फटिकमयीमसमक्षमक्षमालाम् ।

विहगमिव विमानहमपक्तेर् विघटितमेकतर चतुर्मुण्डस्य ॥ १५ ॥

मानो वह इस ब्रह्मा के विमान की इसपक्ति में से अलग निकला हुआ एक टस हो और उसने मृणाल समझकर ब्रह्मा के बिना देखे ही उनकी स्फटिक अक्षमाला हरण कर अपने मुख में धर ली है ।

विमर्श—ब्रह्मा जी का वाहन हंसों का रथ है । यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा कर रहा है कि वह हंस रथस्थ हंसों में से एक है । तथा नवीन मृणाल समझ कर उसने ब्रह्मा की स्फटिक की अक्षमाला ही ले रखी है ॥ १५ ॥

च्युतमित्र सितचामर मधोन श्रमजडवारविलासिनीकरामान् ।

अपहृतमिव लोलपत्रजाल सुरसरित परनेन पुण्डरीकम् ॥ १६ ॥

जो परिश्रम से थकी हुईं व्यनएव जड़ अर्थात् हिलने-डुलने में अक्षमर्थ इन्द्र की वार-विलासिनियों के हाथ से गिरे हुए इन्द्र के श्वेत चँवर की माँति या, अथवा पवन द्वारा उड़ाये गये मन्दाकिनी के चंचल पंखुड़ियों वाले कमल की माँति जान पड़ता था ॥ १६ ॥

हरहसितसित दिवापि कान्तिस्त्वकमिवापतित मुधाकरम्य ।

अपि पतितमिवा तरीक्ष्णीलोर् मधवदिभस्य तिलासकर्णशङ्खम् ॥ १७ ॥

वह इस भगवान् शंकर के हास्य की तरह सफेद था । मानो दिन में ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (किरण-समूह) छिटफट रही हो । अथवा इन्द्र के हाथी ऐरावत का विलासकालीन (विलास की सूचना देने वाला) कर्ण शंख हो ।

विमर्श—‘शखो निधौ ललाटास्मिन्’ (अमरकोश) । ‘शख’ शब्द का अर्थ है माल-प्रदेश के आस-पास की हड्डी । यहाँ कर्णशंख से तात्पर्य है हाथी के पख तुल्य शर्पकर्णों से । अर्थात् आकाश में उड़ता हुआ वह इस ऐसा मालूम पड़ रहा था, जैसे ऐरावत का कर्णशंख (शर्पकर्ण) ही आकाश से गुजर रहा हो । शक्य है कि इस का रंग सफेद है, तो ऐरावत का रंग भी सफेद ही है । अतः इस तरह की उत्प्रेक्षा नितान्त सही है ॥ १७ ॥

कुलकम्'

स च परिणतलोध्रधूलिशुक्लम् तरलमवन्तिपतेश्चकार चेतः ।

किसलयमिव बालचन्दनस्य स्तिमितगतिर्मलयाचलेन्द्रवातः ॥ १८ ॥

पके हुए लोध्र पुष्प (कन्डेल) की पराग की भाँति शुभ्र वर्ण के उस हंस ने राजा का चित्त कुछ इस भाँति चंचल कर दिया, जैसे मन्द मलयानिल चन्दन-पत्र को चंचल कर दिया करता है !

विमर्श—अर्थात् जैसे मन्द मलयानिल से कोमल पत्ते हिल उठते हैं, उसी तरह उस अति मनोहर हंस-दर्शन से राजा का चित्त भी चंचल हो उठा । इससे हंस की हृदयावर्जकता तथा राजा की सहृदयता प्रकट होती है ।

'लोध्र' को हिन्दी में लोध कहते हैं । यह एक प्रकार का वृक्ष है । वैद्यक में इसकी छाल और लकड़ी दोनों का प्रयोग होता है । यहाँ लोधपुष्प से तात्पर्य है ॥ १८ ॥

नायकवाक्यम्

अवददथ विबुद्धपुण्डरीक-प्रतिममुपान्तचरे निधाय चक्षुः ।

दशानमणिमयूखभिन्नवर्णां गिरमिति मालवराजपूर्णचन्द्रः ॥ १९ ॥

नायक के वचन

मालवराज रूपी पूर्णचन्द्र ने विकसित कमल की शोभा वाले पीछे की ओर स्थित रमांगद पर दृष्टि गड़ाकर इस प्रकार वाणी कही । उसकी वाणी दाँत रूपी मार्णियों की किरण-कान्ति से युक्त थी ॥ १९ ॥

सुरभिङ्गुसुमचुम्बिनाऽवनम्राम् अलिपटलेन लतामिमां विना मे ।

खगममुमुपदर्शयेत् क एवं गगनरमापतिपाञ्चजन्यमन्यः ॥ २० ॥

सुगन्धित पुष्पों को चूसने वाले भ्रमर-समुदाय (के भार) से झुकी हुई इस लता के अतिरिक्त दूसरी कौन ऐसी वस्तु हो सकती थी, जो गगनरूपी विष्णु के पाञ्चजन्य शंखस्वरूप इस हंस को दिखाती ।

विमर्श—गगनरमापतिपाञ्चजन्यम्—यहाँ पाञ्चजन्य के साथ हंस का उपमानोपमेय भाव रूपक द्वारा सिद्ध है । शंख भी सफेद होता है और हंस भी श्वेतवर्ण का है ॥ २० ॥

स्मरवरकरिहस्तशीकराणां हिमशुचयो नवहारमौक्तिकानाम् ।

विदधति रुचयोऽस्य चञ्चुकोटौ कवलितबालमृणालसूत्रलीलाम् ॥ २१ ॥

१. कुलक का लक्षण—'पंचभिः कुलकं स्मृतम्' (सा. द. ६।३१४)

अर्थात् जहाँ पाँच या इससे अधिक श्लोकों का अन्वय एक साथ होता हो, उसे कुलक कहते हैं ।

कामदेव रूपी गजराज की सूँड से फँके जाते हुए जलबिन्दुओं के समान इस नवीन हार के मोतियों की हिम घवल कान्ति, इस हस के चोंच के व्यग्र भाग पर ऐसी दिखाव दे रही है, मानो उसने इसके खाये हुए छोटे-छोटे मृगाल-तन्तुओं की शोभा को धारण कर रखा हो ॥ २१ ॥

अयि । अथय सितच्छद, अत्र चायं वननलिनीपुलिनान्तमद्वयास ।

अथनिपतिकलत्रकण्ठयोग्य क्व च शशिनन्धुरनर्घ एष हार ॥२२॥
अरे ! देखो, कहाँ जगली कमलिनियों के मुण्ड में निवास करनेवाला यह हस, और कहाँ राज रमणियों के कण्ठ में रहने योग्य चन्द्रमा के समान लज्जल यह अमूल्य हार ॥ २२ ॥

वनसुवि पतित कुतोऽयमस्या अथमयमस्य मुखातिथित्वमाप्त ।

गुरुविभवपदस्य कस्य वा स्यात् अयमिति मेन परिच्छिनत्ति चेत ॥२३॥
यह हस इस वन में कहाँ से आ गया ! यह हार किस भाँति इसके मुख में आया ! यह हार किस वैभवशाली पुरुष का होगा ! मेरा मन कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा है ॥ २३ ॥

अयमुचिततर* फणिस्रियो वा कुचकलशान्तरमर्त्य*योपितो वा ।

नियतमुदधिमुद्रमीदृशानि क्षितितलमाभरणानि न स्पृशन्ति ॥ २४ ॥
या तो यह किसी नाग वनिता के कुच-कलश का आभरण हो सकता है, अथवा किसी देवोगनाके कुच-कलशों का अलंकार है । निश्चित ही इस प्रकार का रत्नाभरण चारों समुद्रों से घिरे पृथ्वीतल पर कहीं नहीं पाया जा सकता ॥ २४ ॥

किमपरमनुगम्य एष हंस अमज्जपक्षति*रात्रयोर्वेना ते ।

अयि यद्यमशामनस्य भूमिर् मुखधृतहारलत कुतूहलस्य ॥ २५ ॥
हस अत्र उड़ते उड़ते थक गया है । थकने से उसके पंख कुछ शिथिल हो चले हैं अर्थात् अब वह पहले इतनी तेजी से नहीं उड़ रहा है । इसलिए हम उसका अनुसरण आसानी से कर सकते हैं । अतः दूसरा सब कुछ छोड़कर हम इसका अनुसरण ही करें । क्योंकि इसने मुख में धारण किये हुए हार में हमें बहुत आश्चर्य हो रहा है ॥ २५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति विरतवचस्युदीर्यं तस्मिन् कृतिनि नृपे परमारवंशनेतौ ।

स्फुरदधरविकीर्णदन्तकान्ति प्रसरामिद जगदे रमाङ्गदेन ॥ २६ ॥

१ 'अमर्त्या अमृता घस' देवा इत्यर्थ ।

२ 'श्री पक्षति पक्षमूल'—अमरकोश ।

३ 'धीमान् क्षरिः कृती'—इत्यमरः

इस प्रकार परमार वंश के केतु रूप विद्वान् तथा कुशल इस राजा के
 कहने के पश्चात् अघरों को कम्पित करते हुए, तथा दाँतों की क्षिरण-क्रान्ति-
 समूह का विस्तार करते हुए (हँसते हुए) रमांगद ने यह कहा ॥ २६ ॥

जडरुचिरपि रोचते न कस्मिं कथमपि दीर्घगुणेन लब्धसन्नः ।

नरवर यदनेन हारदान्ना तत्र पतगः स्पृहणीय एष जातः ॥ २७ ॥

चन्द्रमा में दोष रहने पर भी सभी उच्छा आदर करते हैं, वह सभीका
 प्रियपात्र बना रहता है। क्योंकि उसमें सकललोकाह्लाददायकस्वरूप महान्
 गुण विद्यमान है। उसी प्रकार कोई मनुष्य मूर्ख इच्छा वाला अर्थात् अकर्मण्य
 हो, पर उसमें एखाद महान् गुण हो तो मत्ता उसे कैसा न चाहेगा ? वह तो
 सभी का प्रियपात्र बनेगा। इस हंस के पास भी हाररूपी महान् गुण है,
 इसीलिए एक यः कश्चित् पत्नी होने पर भी इसपर आपत्ती दृष्टि पड़ी, अर्थात्
 आप इसे चाहने लगे।

विमर्श—‘नुषीमः शिशिरो जडः’ (इत्यमरः) अर्थात् जड़ याने शीतल ।
 ‘रुक् रुचिस्त्विद् भा’ (इत्यमरः) अर्थात् रुचि याने क्रान्ति । जड़ा रुचिः
 यस्य सः जडरुचिः चन्द्रमाः ।

‘श्रमप्वंगे स्पृहायां च गमस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्’—इत्यमरः । रुचिः =
 इच्छा । इस पद में जडरुचि का मतलब होगा ऐसा पुरुष, जिसकी इच्छा जड़
 हो गयी हो, उस्ताह टंडा पड़ गया हो अर्थात् अकर्मण्य ॥ २७ ॥

उपवन इव सम्भवः कदाचित् नृप घटते विपिनेऽपि हारयष्टेः ।

यदसुर-सुर-नागराजकन्या इह विहरन्ति नगेन्द्रकन्दरेषु ॥ २८ ॥

हे महाराज ! यह हार उपवन की भाँति इस वन में भी मिल सकता है;
 क्योंकि यहाँ विन्ध्याचल पर्वत की कन्दराओं में सुर, असुर, और नागराज की
 कन्याएँ विहार करती रहती हैं ॥ २८ ॥

शकुनिरयमितो दिगन्तलग्नैर् अनुपममौक्तिकनिर्गतैर्मयूरैः ।

तत्र विरचयतीत्र सूत्रपातं मुकृतनिधान भविष्यतः शुभस्य ॥ २९ ॥

हे पुरण के भण्डार ! अनुपम मौक्तियों से निकलनेवाली, एवं चारो दिशाओं
 में व्याप्त होनेवाली हार की क्षिरणों द्वारा यह हंस आपके भावी मंगल
 का सूत्रपात कर रहा है ॥ २९ ॥

द्रुतमयमनुगन्धतामिदानीम् अनुगमनेन यतोऽस्य हारलामः ।

फलमधिकमतोपि नः कदाचित् किमपि भवेदयमेव यस्य हेतुः ॥ ३० ॥

इसलिये अत्र शीघ्रातिशीघ्र इस हंस का पीछा करना चाहिये, क्योंकि इसका
 पीछा करने से हार की प्राप्ति हो सकती है, और सम्भव है कि इससे भी अधिक
 और कोई फल प्राप्त हो, लिहाजा हेतु यही हार बने ॥ ३० ॥

तरुप्रिपलतान्तरेण, गच्छन् । भुवमभजन् बहुमुक्तमेघप्रतर्मा ।

अयमतिगुरुद्वारभारजानां श्रमजडतामलमात्मनो ष्यन्नक्ति ॥ ३१ ॥

यह हंस कभी वृक्ष शाखाओं की लताओं के बीच में से चलता हुआ, कभी भूमि से ऊपर उठकर कभी आकाशमार्ग को त्याग कर भारी द्वार के भार से उत्पन्न होनेवाली अपनी यकान को स्पष्ट प्रकट कर रहा है ।

विमर्श—प्रायः हंसपक्षी आकाशमार्ग से अपनी गभीर चाल से एक समान मार्ग का आक्रमण करता है । प्रस्तुत हंस कभी वृक्ष-शाखाओं के बीच से, कभी जमीन के बिलकुल पास से उड़ रहा था । इसका कारण था कि वह उस गुरुतर द्वार के भार से थक चुका था । इसमें स्वभावोक्ति अलंकार का चमत्कार है, गुरुतर द्वार के कथन से यह सिद्ध होता है कि द्वार अत्यन्त कीमती रहा ॥ ३१ ॥

नयनपथमयं यथा तगरात् त्वमपि तथास्य सितच्छदस्य यात ।

अप्रनितनमृगाङ्क यद्वनात् शक्वितमिवायमितस्तव प्रयाति ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वी के चंद्रमा ! जिस प्रकार यह हंस दूर से ही आपकी दृष्टि में आया, अर्थात् दूर ही से आपकी दृष्टि इस पर पड़ी, वैसे ही आप इस हंस की दृष्टि में आ गये हैं । अर्थात् इसने भी आपको देख लिया है । इसीलिये यह चकित (भयभीत) सा होकर वन में इधर उधर भागा भागा फिर रहा है ॥ ३२ ॥

निचुलवनमतीत्य वर्ततेऽय पुरत इमामयमञ्जिनीमुपेत ।

नयजलधरशङ्खयेव शङ्के तरुणतमालवनादितो निवृत्त ॥ ३३ ॥

यह वेतस वन को पार कर चुका है तथा रामने वाली कमलिनी के पास पहुँच रहा है । मैं सोचता हूँ, इसने नई तमालवीथि को इसलिये छोड़ दिया है, मानो वह नव जनधर माला सी हो ॥ ३३ ॥

किसलयकलिताञ्जलिं त्वरावान् अयमुपसर्पति नीलसिन्दुवारम् ।

क्षणमयमिह बालचूतमोलौ त्रिचकिलमात्यविलासमादधाति ॥ ३४ ॥

शीघ्रता से चलने वाला यह हंस कोमल किसलयों की अजलि बनाने वाले नील सिन्दुवार वृक्ष के पास जा रहा है । और जरा ही देर में छोटे आम के पड के ऊपर विकसित मञ्जरी की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३४ ॥

१ 'आराद् रसमीपयो'—अमरकोश ।

२ 'निचुलो हिण्डुलोऽम्बुज' अमरकोश—ये तीनों शब्द 'स्थलवेत' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । निचुल को हिन्दी में निचौल भी कहा जाता है ।

३ 'सिन्दुवारे द्रनुरसौ निर्गुण्डी'—अमरकोश—सिन्धुवार ।

अयमभिनवकर्णिकारयष्टिं क्षटिति घनस्त्वकस्तनीमुपांत ।

अयमतिचपलो निसर्गरक्तां स्थलनलिनीभवधीर्य देव ! यातः ॥ ३५ ॥

हे देव ! अब यह शीघ्र ही घने पुष्पगुच्छ्य रूपी स्तन वाली नवीन कर्णिकार (बड़हर) लता (कनेल का पेड़) के पास पहुँच गया है । यह अत्यन्त चपल है, क्योंकि स्वभाव से ही लाल (प्रेम में पगी) स्थल-कमलिनी का तिरस्कार कर अर्थात् उसे छोड़कर आगे बढ़ गया है ॥ ३५ ॥

अयमिह हि लतामुपैति कौन्दीं कुसुमवतीं नवमाधवीं विलड्व्य ।

क्वणदलिवलयासु नाऽऽसु तेन स्वलितमितः सहकारमञ्जरीषु ॥३६॥

अब यह पुष्पसंभार से युक्त वासन्ती लता को छोड़कर इस कुन्द पुष्प-लता पर आ रहा है । भ्रमरों के समूह के समूह जिन पर गुंजार कर रहे हैं, ऐसी धाम्रमंजरियों पर भी इसका मन नहीं ठहरता ।

विमर्श—यहाँ कवि ने रूपक अलंकार का चमत्कार दिखाया है । जैसे कोई नायक पहले मुग्धा नायिका के पास जाय, फिर मध्या नायिका के पास जाकर भी जब उसका मन वहाँ नहीं लगता, तब वह प्रौढ़ा नायिका के पास जाता है । यह हंस तो प्रौढ़ा नायिका (सहकार-मंजरियों) के पास जाकर भी वहाँ स्थिर न हो सका । अर्थात् अत्यन्त चंचल नायक की तरह इसका वर्तन है ॥ ३६ ॥

अभिसरति वनस्थलीमिवैताम् मदनवतीमयमूढकामिलीलः ।

स्फुरदतनुशिलीमुखस्य चाग्रे विचरति कर्ण इवायमर्जुनस्य ॥ ३७ ॥

किन्ती कामासक्त पुरुष के हाव-भाव को यह हंस दिखा रहा है । कामी पुरुष किसी कामोन्मत्ता से अभिसरण करता है, यह हंस वनस्थली के साथ अभिसरण कर रहा है । अर्थात् इस पर से जोरों से उड़ा जा रहा है । भयंकर वाणवर्षा करने वाले अर्जुन के सामने जिस तरह कर्ण विचरण कर रहा था, उसी प्रकार यह भी बहुत से भँरे जिसके आस-पास मँडरा रहे थे, ऐसे अर्जुन वृक्ष के आगे विचरण कर रहा है ।

विमर्श—यहाँ शिलीमुख तथा अर्जुन दो पद श्लिष्ट हैं । शिलीमुख—‘अलिवाणौ शिलीमुखौ’—अमरकोश । भ्रमर तथा वाण । अर्जुन—तृतीय पाण्डव तथा एक प्रकार का वृक्ष—‘इन्द्रदुः ककुभोऽर्जुनः’—अमरकोश ॥ ३७ ॥

श्रममपहरतस्तनूर्मिवातैर् अयमतिथिर्वनपत्वत्तस्य जातः ।

- तरुततिपु तिरोहितोऽऽयमेतास्वयमरविन्दवनादिवोज्जिहीते ॥ ३८ ॥

१. ‘वासन्ती माधवी लता’ अमर ।

२. ‘माध्यं कुन्दम्’—अमर । यह सफेद रंग का एक पुष्प है ।

३. ‘वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरो’—अमर । पल्वल का अर्थ है छोटा तड़ाग अर्थात् पोखरी-पोखरा आदि ।

अपनी तरंगों की मन्द वायु से जो इसके शरीर की थकान को दूर कर रहा है उस सड़ाग का यह अतिथि बन गया है । (अर्थात् वहाँ पर रुक गया,) और अब यह बृक्षों के झुरमुट से ढँका हुआ सा दिखाई दे रहा है । देखो, अब यह कमल वनों से भी निकलता चला जा रहा है ॥ ३८ ॥

कुरव्रततः कदम्बराजिं व्रजति ततो मुचकुन्दकाननानि ।

इति नगमप्रगाहते सहारस् त्वमिव धृतजलम एष राजहसः ॥ ३९ ॥

(अब यह) कुरवरा से हटकर कदम्ब वृक्षों के पास पहुँच गया है । वहाँ से जल्दी जल्दी मुचकुन्द के वन में पहुँच गया है । तुम्हारी तरह ही यका हुआ यह राजहस हार सहित अब पर्वत में घुसना चाहता है ॥ ३९ ॥

कुरु विजयमितो ममारप्यैतन् धनुरधुना ससुवर्णपुङ्गवाणम् ।

यद्यममितगतिर्गतोऽतिदूर जलपतग सह न. कुतूहलेन ॥ ४० ॥

अब आप स्वर्णफलकवाले बाणा सहित इस धनुष की मुझे दीजिये और इस पर (हस पर) विजय प्राप्त कीजिये । क्योंकि हमारे कौतूहल के साथ ही साथ यह हस सीढ़ीगति से बहुत दूर निकल गया है । अर्थात् देखते देखते यह बहुत दूर निकल गया, अतः अब दैर लगाना उचित नहीं ॥ ४० ॥

हंसानुगमनम्

इति कथयति चापमर्पयित्वा सममिपुभि स रमाङ्गदे नरेन्द्र ।

पतगमनुययौ तमात्तहार हरति न क नयवस्तुसम्प्रयोग ॥ ४१ ॥

हस के पीछे दौड़ना

रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर राजा ने बाण सहित धनुष उसको दे दिया, और स्वयं हार लिये हुए उस हस के पीछे गया । (सच है) नवीन वस्तुओं का सम्पर्क (उसे प्राप्त करने की इच्छा) किसके चित्त को नहीं हर लेता ॥ ४१ ॥

श्रुजु तमथ विहायसा व्रजतम् रभसप्रशादुगच्छतो नृपन्थ ।

समजनि भृशमायतोऽन्य पन्थास् तरुविटपाऽवटपर्चनेन धक्र ॥ ४२ ॥

सीधे आकाश में उड़ने वाले उस हस के पीछे, जल्दी-जल्दी जाते हुए राजा को विष्टों और गतों (गड्ढों) से बचान करने से घुमाव के कारण मार्ग बहुत लम्बा सा मालूम पड़ने लगा ।

विमर्श—हस आकाश में उड़ रहा था । उसको कोई असुविधा न थी ।

उसका मार्ग सरल सुगम था । राजा को जमीन पर चलना पड़ रहा था । अनेक गड्ढे-गुड्डे पड़ते थे । अतः राजा को वह मार्ग अपेक्षाकृत लम्बा लगना स्वामाविक ही था ॥ ४२ ॥

नृपतिरनुययौ वने विहङ्गं नृपतिमभि प्रणयी रमाङ्गदोऽपि ।

श्रुतमिव विशदं शुचिविवेकः कृत्तिनि विवेकमिवान्तरः प्रसादः ॥ ४३ ॥

उस वन में राजा हंस के पीछे-पीछे चला और राजा के पीछे-पीछे राजा का प्रियपात्र रमाङ्गद भी चला । वह दृश्य ऐसा लग रहा था, मानो किसी यशस्वी व्यक्ति के जीवन में शुद्ध विवेक विशद शास्त्र के पीछे चल रहा हो और अगना आन्तरिक प्रसाद (प्रसन्नता) विवेक के पीछे चल रहा हो ॥ ४३ ॥

अथ कमलसरस्तरङ्गदोलाञ्जलयविलोलरथाङ्गनामयुग्मम् ।

मदकलकलहंसनादकृष्टः श्रमविश्रमः स सितच्छदः प्रपेदे ॥ ४४ ॥

मदविह्वल कलहंसों के नाद से आकृष्ट हुआ, थका हुआ वह हंस तरंग रूपी भूले^१ पर, जिसमें चक्रवाचकवी का जोड़ा क्रीड़ा कर रहा है, उस कमल-मण्डित तालाब के पास पहुँचा ॥ ४४ ॥

विलुलितकवरीकलापमाल्या मृदुनवशवलमेखला वहन्त्यः ।

रतिरणमवसाय चत्र नित्यं सह रमणैरमराङ्गना रमन्ते ॥ ४५ ॥

वह तालाब ऐसा था, जहाँ पर रतिक्रीड़ा को समाप्त कर, केशपाश (जूड़ा) में अस्तव्यस्त रूप में स्थित मालाओं को धारण करनेवाली, कोमल एवं नवीन शैवाल (काई) की करधनी पहनी हुई अन्तराएँ अपने प्रेमियों के साथ विहार किया करती हैं ॥ ४५ ॥

सलिलगतधियाऽथ तेन दूरान् स गुरुरमुच्यत निःसहो न हारः ।

जट(ल) हृत हृदयाः क्रियच्चिरं वा गुणमहतामिह भारमुद्धहन्ति ॥ ४६ ॥

थके हुए उस हंस ने जल में प्रविष्ट होने की इच्छा से उस थोफिल हार को दूर से ही जल में फेंक दिया, क्योंकि जड़ता ने जिनके हृदय को हर लिया है, ऐसे लोग गुणशाली वस्तुओं के भार को कितनी देर तक दो सकते हैं ।

विमर्श—उस तालाब को देखते ही हंस के मन में जलावगाहन की इच्छा होना उसकी प्रकृति के अनुरूप स्वाभाविक ही था । फिर वह वेहद थका भी था । अतः उसने वह हार ऊपर ने ही फेंक दिया । इस पर कवि ने अर्थान्तर-न्यास द्वारा अपनी बात पुष्ट की । जिनका हृदय मूर्खता के अधीन हो चुका है, अर्थात् मन्दबुद्धि वाले महान् गुणों का भार क्य तक दो सकते हैं, वह तो उसे तत्काल दूर कर देंगे ॥ ४६ ॥

१. भूले पर चढ़कर भूलने से बल्य अर्थात् चक्र आता है । यहाँ तरंग रूपी भूले से बल्य याने भँवर की उत्पत्ति से तात्पर्य है । उस भँवर में इधर-उधर थपेड़े खाने से चंचल चक्रवाचकवी का जोड़ा जिसमें था, ऐसा तालाब ।

२. 'कवरी केशपाशः स्यात्'—इत्यमरः ।

स च त्रितप्तमरीचिचञ्चुलेसो विगलितद्वारलताभिपेण हस ।

परिणतविसकाण्डभङ्गपीतं पय इव विस्तृतधारमुञ्जगार ॥ ४७ ॥

पैली हुई हार की किरणों से युक्त चोंच वाले उस हस ने जब उस हार को पानी में फेंका, तो ऐसा जान पड़ा कि मानो मत्स्य करने के पश्चात् पके हुए खोलले कमल-खण्डों द्वारा पिये हुए जल की सी धार फेंकी गई हो ।

विमर्श—उस हस की चोंच का अग्रभाग हार की इतस्तत फैलने वाली किरणों से शोभित था । उस हस ने जब हार तालाब में फेंक दिया, तब ऐसा मालूम पड़ा कि कमलवन में निवास के समय पके हुए मृणाल दण्डों के मत्स्य के साथ जो पानी पिया गया था, या पोले मृणाल दण्ड से जो पानी पीया गया था, उसीको श्रव छोड़ रहा हो । इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ४७ ॥

अथ कनकमृणालिकायुगस्य श्रुतिनिचयेन चित्तविसर्पताध ।

अशिशिरमहसो विसारिणा खवे वलयितमशुलताकदम्बकेन ॥ ४८ ॥

इसके पश्चात् स्वर्ण कमल समुदाय के नीचे फैली हुई उस हार की कान्ति ने आकाश में फैलने वाले सूर्य किरणों के समान एक गोल श्रावृत्त (घेरा) का वहाँ पर बना दिया ॥ ४८ ॥

तटभुवि तमपश्यदापतन्त पतिरवनेरवतसिंतायताथ ।

मितमभिनवहेमदण्डशोभि स्फटिकशलाकमियातपत्रमैद्रम् ॥ ४९ ॥

तब मुशोभित दीर्घ नेत्रों वाले उस राजा ने तालाब के तट पर आते हुए उसे देखा । वह ऐसा प्रतीत होता था, जैसे तपाये हुए सोने का दण्ड लगा हुआ तथा स्फटिक शलाकाओं से बना हुआ इन्द्र का छत्र हो ॥ ४९ ॥

सरसि धवलिते तत समताद् अमृतमरीचिरुचेव तस्य कान्त्या ।

व्यधित वलयती वियोगपीडा पद्मपदे हृदयेषु चक्रनाम्नाम् ॥ ५० ॥

चन्द्रमा की कान्ति की भांति उस हार को कान्ति से जब सारा सरोवर सफेद ही सफेद लगने लगा, तब अत्यधिक विरह वेदना ने अक्षय में ही चक्रवा-चक्रवी के हृदय पर अधिकार कर लिया (वे विरह शका से व्याकुल हो उठे) ॥ ५० ॥

अतिविततगुणौ रुधाग्नि तस्मिन् त्रिधुरमथ पतिते विशुद्धिभानि ।

कथमपि वसुधाधिप प्रमोद झटिति जगाम गुणिस्वमत्सरो हि ॥ ५१ ॥

अत्यधिक गुणों का भण्डार, पवित्रता से पूर्ण, उस हार के (पानी में) गिर जाने पर वह भूपति हार रहित उस हस को देखकर किसी तरह याने बड़ी कठिनाई से प्रसन्न हुआ, क्योंकि गुणी लोगों के चित्त में ईर्ष्या नहीं होती ।

१ 'श्रवतसो द्वौ कर्णपुरे च शेखरे'—अमरकोश ।

विमर्श—यह बात फविसमयप्रसिद्ध है कि चक्रवाकों का जोड़ा सूर्योदय होते ही अर्थात् दिन में तो संयुक्त रहता है। पर जैसे-जैसे चन्द्रोदय होता जाता है, वे एक दूसरे से दूर-दूर होते जाते हैं ॥ ५१ ॥

अथ नभसि पिशङ्गसान्ध्यरागच्छुरित इवाम्बरनिम्नगातरङ्गम् ।

कियदपि सरसस्तटे स गत्वा कमलरजः कपिशं ददर्श हारम् ॥ ५२ ॥

तालाव के किनारे जाकर राजा ने कमल-पराग से पीत वर्ण वाले उस हार को ऐसे देखा, मानो आकाश में पीत और लोहित संध्याकालीन लालिमा की शोभा से युक्त आकाश-गङ्गा की तरंग हो ।

विमर्श—यहाँ पर आकाश-गंगा से तालाव का, तरंग से हार का सादृश्य वर्णित है। आकाश में सायंकाल में सूर्यास्त-छूटा बड़ी मनोरम रहती है ! उस समय आकाश में कुछ धुंधलापन लिये रक्तिमा रहती है ॥ ५२ ॥

स च सपदि रमाङ्गदोपनीतं कनकसरोरुहकान्तिना करेण ।

निजयश इव मूर्तमादादेतं भुवनतलाभयदानदीक्षितेन ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् शीघ्र ही स्वर्णकमल की कान्तिवाले एवं समस्त भुवनतल को अभयदान देने में दक्ष (अथवा समस्त लोक को अभयदान की दीक्षा देनेवाले) हाथ से राजा ने रमाङ्गद द्वारा लाये गये उस हार को अपने मूर्तिमान यश की भाँति ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

सुजनमिव गुणैरुपोढशोभं शुचितरवालमृणालसूत्रदीर्घैः ।

अहमहमिकया कृतप्रवेशं तरणिकरग्लपितैरिवेन्दुपादैः ॥ ५४ ॥

वह हार श्वेत लघु मृणाल-तन्तुओं के समान मुलायम दीर्घ सूतों से गुँथा गया था, और उन गुणों (सूतों) से ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे गुणों से सज्जन शोभा पाते हैं। तथा सूर्य की किरणों से मन्द पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणें मानो उसमें होड़ लगाकर प्रविष्ट हो रही हैं ॥ ५४ ॥

दधतमरुणमङ्गरागशेषं क्वचिदपि यष्टिपु तारमौक्तिकासु ।

वटिमिव नवातपेन किञ्चिद् बहुनवया शशलक्ष्मणस्त्विपा च ॥ ५५ ॥

चञ्चल (तरल) मोतियों की लड़ियों के बीच में लगे हुए अंगराग से वह ऐसा जान पड़ता था, मानो वह एक ही साथ बालसूर्य की किरण और चन्द्रमा की चन्द्रिका दोनों से बना हो ।

विमर्श—हार के मणियों की कान्ति एकदम सफेद थी। और उसमें लगा हुआ था लाल अंगराग। उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उसमें प्रातः-कालीन सूर्य की लाल किरणें तथा चन्द्रमा की कान्ति एक साथ ही संक्रान्त हुई थी ॥ ५५ ॥

अतिप्रिततरुचिं बहन्तमन्तसूतरलमणिं तरुयेन्द्रगोपशोभम् ।

अविरलमसकृन्निवासलग्नं ललितवधूहृदयादिवानुरागम् ॥ ५६ ॥

उसके बीच का मध्यमणि जो वीरकहटो (इन्द्रगोपवधू) की-सी शोभा दिखा रहा था, और जिसकी कान्ति चारों ओर फैल रही थी, ऐसा लग रहा था मानो किसी सुन्दरी के हृदय में निरन्तर रहने के कारण उसका प्रगाढानुराग ही हो ॥ ५६ ॥

कविचिदपि लतान्तरे दधानं मृगमदलिप्ततलानि मौक्तिकानि ।

शबलजललवैरिवात्तजन्मान्यमरनदी यमुनातिथेर्धनस्य ॥ ५७ ॥

उसकी कुछ लड़ियों में कस्तूरी के लेप से युक्त कुछ मोती परोये गये थे । वे ऐसे लग रहे थे, मानो इन मोतियों का जन्म अमरनदी गंगा और यमुना के पानी पीनेवाले बादलों के उदर से हुआ हो ।

विमर्श—गंगाजी का पानी है सफेद और यमुना का नीलवर्ण का । इसी तरह उस श्वेत हार में कस्तूरीलिप्त कुछ ऐसे मणि गुये थे, जिनकी कान्ति नीलवर्ण की थी । इससे उत्प्रेक्षा यह होती है कि गंगा यमुना का जल जो मेघ ने पी लिया, उन्हीं बलकणों से उनकी उत्पत्ति हुई हो ॥ ५७ ॥

अनुगुणपदवीविनिर्गतासु प्रतिलक्षमायतमौक्तिकप्रभासु ।

रजनिकरमरीचिसूचिदीर्घैर्वहुभिरिव भ्रमित मृणालसूत्रैः ॥ ५८ ॥

जिसकी प्रत्येक लड़ी में अपनी अपनी सीध में किरणों निकल रही थीं, और इसलिये वह ऐसा लगता था, मानो चन्द्रमा की किरणों के समान रत्नम और लम्बे मृणाल सूत्रों से ही गुँथा हुआ हो ॥ ५८ ॥

अतिदृढमनुरक्तया वितीर्णम् सुररमहोदधि मेखला वहन्त्या ।

चरसि निहितबन्धुजीवमुठ्या विचकिलमात्न्यमिव स्वयंबराय ॥ ५९ ॥

जो कि मानो बहुत प्रेम में पगी, मुखरित महासमुद्ररूपी मेखला को धारण करनेवाली पृथ्वी वधू के द्वारा महाराज के ही वक्षस्थल पर पहनाये गये जीववधु (गुल दोपहरी) के फूलों से गुंथे मौलसरी के बने स्वयंबर-हार की भाँति लबा रहा था ॥ ५९ ॥

कुलकम्

अरुचदथ करे स तस्य विभत् युनतिरदच्छेदकान्तिमध्यरत्नम् ।

किमपि मनसिजेन शासनाद् प्रदितनिजायुधचित्रपुष्पसुद्रः ॥ ६० ॥

सुवतियों के दत्त के पर्ण अर्थात् रक्त ओष्ठ की कान्ति के समान (लाल लाल) मणि जिसके मध्य में गुंथे थे, वह चमकता हुआ हार राजा के हाथ

१ रत्न याने दाँत के पर्ण क्या हो सकते हैं ! अतः पर्णसादृश्य से ओष्ठ का ग्रहण किया गया है ।

में शोभा पा रहा था, मानो कामदेव के द्वारा भेजा गया लाल मुहर (मुद्रा) से अंकित कोई शासन-पत्र हो ॥ ६० ॥

शशिकररुचिना स तेन रेजे मृदुकर' पुष्करवर्तिना नरेन्द्रः ।

अमरपुरधुनी समुद्धतेन त्रिदशकरीव मृणालकन्दलेन ॥ ६१ ॥
चन्द्रमा की किरण-कान्तिवाले उस हार से, जो कि कोमल कर-कमल पर विराजमान था, महाराज ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे मन्दाकिनी से उखाड़ कर अपने सुन्दर गुण्डादण्ड में रखे मृणालकन्दल से ऐरावत सुशोभित हो रहा हो ॥ ६१ ॥

उरसि नरपतेः पतंश्चकाशे कनकशिलाविपुले तदंशुपूरः ।

अखिलभुवनकोशराजलक्ष्म्या निहित इवाधिकमुत्कया कटाक्षः ॥ ६२ ॥
स्वर्णशिला के समान विस्तृत राजा के वक्षःस्थल में वह हार डाल दिया गया, तब इस हार की किरण-कान्ति का समुदाय अत्यधिक चमक उठा । मालूम होता था, मानो समस्त भुवन-समूह को धारण करने वाली लक्ष्मी ने अत्यन्त उत्कण्ठित होकर इस राजा पर एक कोमल कटाक्षपात किया हो ॥ ६२ ॥

विकृतिरुदधिशुक्तिपु च्युतानां ध्रुवमियमिन्दुकलासुधालवानाम् ।

जलदजलकणोद्भवेपु कामं निवसति कान्तिरियं न मौक्तिकेषु ॥ ६३ ॥
राजा उस हार को देखकर कल्पना करता है कि इस हार के ये मोती निश्चित ही समुद्र की सीपों में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से गिरे हुए अमृत-विन्दुओं से बने होंगे; क्योंकि बादल के जलकणों द्वारा उत्पन्न होने वाले मोतियों में तो ऐसी कान्ति (पानी) होती नहीं ॥ ६३ ॥

न किमयमुडुमण्डलापवादः कुमुदवनानि पुरोऽस्य न त्रपन्ते ।

कथमयमवधिर्न मुक्तिभाजाम् इति तमवेक्ष्य स चिन्तयाञ्चकार ॥ ६४ ॥
इसकी कान्ति ऐसी लग रही है, जिसके सामने तारों की जगमगाहट भी किसी काम की नहीं । इसके सामने तो कुमुदवन भी लजित प्रतीत हो रहे हैं, यह तो सचमुच मोतियों की सुन्दरता की पराकाष्ठा है । इस प्रकार उसे देख-कर महाराज सोच में पड़ गये ।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में वक्तोक्ति के द्वारा नञ्मुखेन विधि दिखाई गई है । अतः विशेष चमत्कार है ॥ ६४ ॥

स्फुरदुदरनिवेशितेन्द्रनीलां मदजलराजिमिव स्मरद्विपस्य ।

अवनिपतिरपश्यदक्षराणां ततिमथ हारमृणालिकान्तराले ॥ ६५ ॥
राजा ने हार की लड़ियों के भीतर नीले अक्षरों की पंक्ति देखी, जिसके बीच में चमचमाते हुए इन्द्रनील (नीलम) मणि जड़े हुए थे । उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि कामदेव रूपी गजराज की मदजल की पंक्ति हों ॥ ६५ ॥

२. पुष्कराम्भोरुहाणि च—अमरकोशः ।

अभिनवलिखितामिव प्रशस्तिं मदनमहानृपते' स पार्थिवेन्द्रः ।

इति निविडकुतूहलाकुलस्ता ललितपदाभरणामवाचयच ॥ ६६ ॥

भूपति ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ सुन्दर पदों से सुशोभित उस अक्षर-पक्ति को पढ़ा । वह ऐसी लगी, जैसे अभी-अभी कामदेव की प्रशंसा-पत्रिका ही लिखी गई हो ॥ ६६ ॥

मनसिजनरवीरप्रेजयन्त्यास त्रिभुवनदुर्लभविभ्रमैकमूमे ।

कुचमुकुलपिचित्रवह्नी परिचित एष सदा शशिप्रभाया ॥ ६७ ॥

उसमें लिखा था कामदेव रूपी प्रबल प्रतापी वीर योद्धा की त्रिजयपताका रूप में उत्पन्न हुई त्रैलोक्य में अनन्यसाधारण अप्रतिम हाव भावों से परिपूर्ण शशिप्रभा के स्तनरूपी कली के साथ विचित्र लता के रूप में यह हार प्रसिद्ध है ॥

किमु विपुलमिम मनुष्यलोक पुरमुत पर्वतपक्षशातनस्य ।

किमु युवतिरिय भुजङ्गभर्तुर् भुवनमलङ्कृते शशिप्रभेति ॥ ६८ ॥

उस अक्षर पक्ति को पढ़कर राजा ने सोचा—यह शशिप्रभा नाम की युवति क्या इस विस्तृत मनुष्यलोक में रहने वाली है, अथवा पर्वतों के पखों को नष्ट करनेवाले (इन्द्र) के नगर की रहने वाली है । अथवा यह नागराज के लोक (पाताल) में रहने वाली तो नहीं है ! ॥ ६८ ॥

वदति शशिमुखीमितो न दूरे तरुणविलेपनभिन्न एष हार ।

सरितमिव वनातरे समीर स्फुटितसरोरुहरेणुना पिशङ्ग ॥ ६९ ॥

परन्तु इस हार पर तो ताजा ताजा फस्तूरी का लेप किया हुआ है । इस से तो यही प्रतीत होता है कि वह शशिमुखी यहाँ से अधिक दूर नहीं है । जिस भाँति विकसित कमलों के पराग से पीतवर्ण का (अर्थात् परागकणों के कारण धूसर वर्ण का—यह कविसमयसिद्ध पदार्थ है,) वायु जब इधर उधर चलता है तो पता लगता है कि वन में कहीं आस-पास ही नदी होगी ॥ ६९ ॥

कुमुमरारसप्रस्य कस्यचित्कि समजनि नागतलाधिदेवतेयम् ।

वत मुकुलितमन्मथावतारे पथि विचरेदधिनाककन्यकानाम् ॥ ७० ॥

क्या यह शशिप्रभा कामदेव के मित्र अर्थात् सौन्दर्य में काम के समान सुन्दर किसी युवक की अर्धाङ्गिनी होकर तो नहीं पैदा हुई, (स्त्री) अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यह अभी स्वर्ग-कन्याओं के उस मार्गपर विचरण कर रही हो, जिसमें काम का प्रथमाविर्भाव होता है ॥ ७० ॥

अपि वृत्तनयनोत्सवेन तन्वी तरुणमुधामधुरेण दर्शनेन ।

मुदमुपजनयेद्वने किमेपा ? मम शरदि दुकलेव वैरवस्य ॥ ७१ ॥

जिस भाँति शरद् कालीन चन्द्रमा की किरणों से कुमुद को अत्यन्त प्रसन्नता होती है, क्या उसी भाँति यह भी नूतन अमृत के समान मधुर तथा नेत्रों को

आनन्द' देनेवाले अपने दर्शन से मुझे इस वन में आनन्दित करेगी ?
अर्थात् क्या इसके यहाँ आसपास मिलने की सम्भावना है ? ॥ ७१ ॥

इति कियदपि यावदेव चिन्ता-वशमगमत्स मनुष्यलोकपालः ।

धनुरपि निचुलं विधाय तावत् कुसुमशरोऽस्य बभूव पार्श्ववर्ती ॥ ७२ ॥

इस भाँति जब राजा कुछ चिन्तित हुआ, तब शीघ्र ही मौलसरी पुष्प का
धनुष धारण कर कुसुमशर (फाम) भी मानो उसके पास आ खड़ा हो गया ॥

अथ सम्भ्रमादनुचरेण विनिहिततमालपल्लवे ।

आस्त तरुकुसुमसंवलिते सरसः स सैकतशिलातले नृपः ॥ ७३ ॥

इसके बाद वह राजा उस तालाब के एक ऐसे बालू के ढेर पर बैठ गया,
जिस पर रमाङ्गद ने जल्दी ही तमालपत्र रखकर फूल बिछा दिये थे ॥ ३७ ॥

आलक्ष्य स्तनसख्यलक्ष्मणि ततस्तस्मिन्कुरङ्गीदृशौ ।

मुक्तादाम्नि करोदरप्रणयितामाप्ते तुपारत्विपि ।

विस्मृत्या सहसा हृतं चतुरया क्रोडीकृतं चिन्तया ।

चेतः श्रीनवसाहसाङ्कनृपतेरुत्कण्ठयाऽवृष्यत ॥ ७४ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्क-

चरिते महाकाव्ये शशिप्रभाहारलाभो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

उस मृगनयनी शशिप्रभा के स्तनों से मित्रता रखने वाले हिम-धवल
कान्ति वाले हाथ पर स्थित उस मोतियों के हार को देख-देख कर भी नव-
साहसांक नृपति के चित्त को विस्मृति ने हर लिया, चतुर चिन्ता (कामिनी) ने
उसके चित्त को अपनी गोद में ले लिया, और मिलन की उत्कण्ठा ने उसके
चित्त को धाकृष्ट कर लिया ।

विमर्श—वह राजा हार को देखकर सब कुछ भूल गया और उसे चिन्ता
ने घेर लिया । उसका मन शशिप्रभा से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो उठा ।

इस श्लोक में 'चिन्तया' पद के साथ 'चतुरया' विशेषण विशेष चमत्कारी
है । जिस तरह कोई चतुर नायिका नायक के मन में किसी धन्य रमणी का
ध्यान आते देखकर तत्काल उसे विविध हाव-भावों से वश करना चाहती है,
उसी तरह चिन्तारूपी नायिका ने राजा के मन में शशिप्रभा के प्रति अनुरागो-
द्रेक होते देखकर तत्काल उसे अपनी गोद में ले लिया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित नवसाहसांकचरित
महाकाव्य का शशिप्रभाहारलाभ नामक तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः

तत स चेतस्यरनीपतिर्दधे शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।

उपोढरागामुदधिस्तटोदरे नवीद्गता विद्रुमकन्दलीमिव ॥ १ ॥

हारप्राप्ति के पश्चात् राजा के मन में शशिप्रभा के दर्शन महोत्सव की लालसा उसी तरह जागी अर्थात् राजा ने उस लालसा को अपने हृदय में उसी तरह धारण किया, जैसे समुद्र अपने तट के मध्यभाग में पड़े हुए नवागत अतएव लाल मूंगे की कलियाँ धारण करता है ॥ १ ॥

शशिप्रभाशानलिनीमृणालताम् उपागते मौक्तिकदाम्नि सादर ।

तदागते दूत इव न्यवेशयत् स दशिप्रेमलवे विलोचने ॥ २ ॥

राजा ने उस हार पर, जब कि उसमें शशिप्रभा के मिलने की आशा कमलिनी के नाल-सी दिखाई देने लगी (उसे विश्वास हो गया कि शशिप्रभा का मिलन अवश्यमावी है), अपने प्रेमपूर्ण नेत्र भी रस मंति गड़ा दिये मानो वहाँ से (शशिप्रभा की ओर से) आये किसी दूत को (सस्नेह) देख रहा हो ॥ २ ॥

पुन पुन पट्पदराजिमेचका तदिन्द्रनीलाक्षरपङ्क्तिमैक्षत ।

स तश्शृणान्मन्मथजातपेदस तनीयसी धूमलतामिवोद्गताम् ॥ ३ ॥

जो काले भ्रमरों की कतार के समान काली काली लग रही थी, उस हार में फड़े नीलम से अङ्कित उस अक्षर-पङ्क्ति को यह राजा बार बार ऐसे देखने लगा, मानो उसे वहाँ पर अकस्मात् कानागि की हल्की धूमरेखा ही निकलती दिखाई पड़ रही हो ॥ ३ ॥

मुगन्धिद्वारादनुलेपन करे समुन्मिपत्स्वेदलपे विलुम्पति ।

असङ्गताया अपि दीर्घचक्षुष पयोधरस्पर्शमिग्राससाद् स ॥ ४ ॥

उस राजा ने पसीने की बूंदों से भरे हुए अपने हाथ में उस मुगन्धित हार के द्वारा वस्तुतः ऐसा अनुभव किया, मानो वह अपने से दूर रहने वाली भी उस आयताक्षी (दीर्घनेत्रा) शशिप्रभा के स्तन स्पर्श का आनन्द ले रहा हो ।

विमर्श—किसी भी प्रियजन की कोई वस्तु हाथ में आ जाय तो अत्यधिक प्रेमाधिक्य के कारण मनुष्य को उस प्रियजन के साक्षात् मिलन का अनुभव होता है, यह लोकप्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

तदीयनामाङ्गलिपिं शनै शनै सलीलमावर्तयितु प्रचक्रमे ।

परिस्फुरत्पल्लवपाटलाधरो रद्वस्यविद्यामिव मन्मथस्य स ॥ ५ ॥

धीरे-धीरे वह राजा 'शशिप्रभा,' इस नाम की अक्षर-पंक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा । जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह अपने फड़कते हुए किसलयों की तरह लाल अधरोष्ठ से कामदेव के गूढ़ शास्त्र को बार-बार दोहरा रहा हो ॥ ५ ॥

अनेकरूपाऽलिखनप्रगल्भया सुतीक्ष्णया वर्तिकयेव चिन्तया ।

स तामनाप्तेक्षणसंस्तवा पुरा लिलेख चित्ते मुहुरन्यथान्यथा ॥ ६ ॥

नाना प्रकार की चित्र-कल्पना में प्रवीण, अति तीक्ष्ण चिन्तारूपी तूलिका से वह राजा आँखों से कभी न देखी गई उस शशिप्रभा का विभिन्न प्रकार का चित्र अपने मानस-पटल पर अंकित करने लगा अर्थात् चिन्ता के कारण उसके विषय में सोचता हुआ उसके सम्बन्ध में नाना भाँति की कल्पना करने लगा ।

विमर्श—जिस तरह कोई कुशल चित्रकार सुन्दर तथा नोकवाली कुँची से कागज या पटल पर ऐसे-ऐसे चित्र अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर खींचता है, जिन्हें उसने कभी देखा भी नहीं होता, राजा भी अपने चित्त रूपी पटल पर चिन्ता रूपी कुँची से कभी न देखी हुई शशिप्रभा के अनेक कल्पना-चित्र खींचने लगा ॥ ६ ॥

अनङ्ग-चण्डातपतप्तयोस्तदा शशिप्रभाविभ्रमदर्शनम्प्रति ।

द्वयोरभूदुत्सुकता वनान्तरे विलासिनस्तस्य च कैरवस्य च ॥ ७ ॥

तब उस वन में शशिप्रभा की सुन्दरता को देखने के लिये काम से पीड़ित विलासी राजा और धूप से व्याकुल कुमुद दोनों की उत्सुकता मानो बढ़ने लगी ।

विमर्श—रात्रि में चन्द्रोदय के साथ ही कुमुद विकसित होता है । अतः उसका चन्द्रमा के लिये उत्सुक रहना स्वाभाविक है । राजा भी शशिप्रभा के लिये व्याकुल है । यहाँ सात्त्विक व्यभिचारी भाव 'भौत्सुक्य' विशेष चमत्कारी है ॥ ७ ॥

उदग्रदिग्ग्वारणहस्तहारिणा स दक्षिणेन स्फुरता च बाहुना ।

स्थिरीकृताशो मनसापि दुर्लभाम् अदुर्लभामिन्दुमुखीममन्यत ॥ ८ ॥

विशाल दिग्गज के सूँड के समान (परिपुष्ट एवं बलशाली) दक्षिण हस्त के फड़कने के कारण मन से भी न प्राप्त हो सकने वाली शशिप्रभा को राजा ने दुर्लभ न समझा ।

विमर्श—दक्षिण हाथ का फड़कना सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ-सूचक चिह्न है । कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने भी जगह-जगह पर ऐसा वर्णन किया है ॥ ८ ॥

पुरो विमुञ्चप्रयने यहच्छया नृपस्तमालद्रुमकाननोदरे ।

अपश्यदत्रावसरे विलामिनीं पयोदमथ्ये शशिन कलामिव ॥ ६ ॥

इधर उधर देखते हुए राजा की दृष्टि एकाएक तमालवृक्ष-समुदाय के बीच पड़ी । वहाँ उसने एक सुन्दरी को देखा । मानो बादलों के बीच चन्द्रकला विराजमान हो ॥ ६ ॥

नायकनाम्यम्

अथैष दीर्घा दशनाक्षिप किरन् मुखाष्टाशो किरणच्छटा इव ।

निरीक्ष्य तामुन्मदहसगामिनीं रमाद्गच्छ सस्पृहमित्यवोचत् ॥ १० ॥

नायक के वचन

उन्मत्त हृष की तरह चलने वाली उस रमणी को देखकर राजा ने रमागद से उत्सुकतापूर्वक कहा । बोलते समय उसके दाँतों से कान्ति निकल रहा थी । वह कान्ति चन्द्रमा की किरण छटा के समान शोभ रही थी ॥ १० ॥

शनैश्चरती विपिने तत्र स्थिता नितम्बिनी कञ्चिद्विद्य दृशो पथि ।

अधीरता दक्षिणमातरिश्वना लतेषु नीता मसृगेण माधवी ॥११॥

(हे मन्त्री) इस वन में घूमती हुई इस सुन्दरी स्त्री को क्या तुमने भी देखा है ! यह तो ऐसी दिखाई दे रही है, जैसे स्निग्ध दक्षिण पदन द्वारा अधीर बनाई हुई माधवी लता हो । (मानो वह मलयाचल से कम्पित माधवीलता के समान अधीर हो रही हो) ॥ ११ ॥

युता सितामै मुमनोभिरेतया परिश्लथेय क्वरी नियम्यते ।

उदस्तमाम्बुत्तरकान्तया श्रिया दिनस्य ताराशालेव शर्परी ॥ १२ ॥

सफेद कान्तिवाले पुष्पों से यह सुन्दरी अपनी व्यस्त (तिलखरी हुई) बेणी बाँध रही है अर्थात् फूलों को बेणी में गूँथ रही है । वह बेणी ऐसी मालूम पड़ रही है, जैसे उदित सूर्य की किरण कान्ति वाली दिन की शोभा से युक्त रात हो, और रात में ताराएँ उगी हों ।

विमर्शो—तारा सफेद रंग की, फूल सफेद रंग के, रात्रि का रंग काला तथा बेणी भी काली—इस तरह उपमानोपमेय मान रहने से काव्यगत सौंदर्य इस श्लोक में पर्याप्त है ॥ १२ ॥

असत्कवेर्गगिर वीतसौष्टवे निवेशयन्ती पदमव्ययस्थया ।

असावनेकस्यलिने समाकुला त्रिमुच्य मार्गं किमित प्रतिष्ठते ॥१३॥

१ 'मलयाचल' दक्षिण दिशा में है—ऐसा वर्णन काव्य-जगत् में होता है । अतः यहाँ दक्षिण मातरिश्वा से वायु का सौगन्ध्य भी परिलक्षित होता है ।

लभगप्रथ कवि ऐसे पदों का निवेश करता है, जिनसे भाव स्पष्ट नहीं होता, जिसका पदन्यास भी अस्तव्यस्त रहता है, उस कवि के काव्य की भाँति यह भी व्याकुल होकर पदक्रम (पैरों को) भली-भाँति न धरती हुई, ठोकर खाती हुई, सुन्दर मार्ग को छोड़कर कुमार्ग (ऊबड़-खावड़ जगह) से इधर आती हुई प्रतीत होती है।

विमर्श—जिस भाँति साधारण कवि की रचना का सौन्दर्य विखरा रहता है, उसमें पदन्यास भी भली-भाँति नहीं रहता, वह कवि काव्य के सत्मार्ग को त्याग कर कुमार्ग पर चलता है, उसी भाँति यह भी अस्तव्यस्त है, इसके पैर ठीक नहीं पड़ रहे हैं, और यह भी मार्ग छोड़कर जंगली रास्ते पर चल रही है ॥ १३ ॥

दृष्टेन नेतुं वशतामिवात्मनो मनोभिरामासु विलासभङ्गिषु ।

धृतांशुका तामिरियं पदे पदे लताभिरम्भोजमुखी निरुद्धयते ॥ १४ ॥

मन को मुग्ध करने वाले हाव-भावों को दिखाने के कारण ये लताएँ जवरदस्ती अपने वश में लाने के लिये इस कमलनयनी सुन्दरी का आंचल पकड़ कर पग-पग पर मानो इसे रोक रही हैं ।

विमर्श—भाड़-भंखाड़ में से होकर चलने से उसका आंचल वार-वार लतरो में उलझ जाता, इसी पर कवि ने यह श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा की उड़ान भरी है ॥

विचिन्वती किञ्चिद्विवेयमादरात् अपचमपातस्तिमिते विलोचने ।

गतेऽवतंसोत्पल-पत्रवन्धुताम् इतस्ततः पद्मवने विमुञ्चति ॥ १५ ॥

आदरपूर्वक कुछ हँदती हुई-सी यह रमणी श्रेष्ठ कमल के समान अपने अपलक नेत्रों को इधर-उधर कमल-वनों की ओर डाल रही है ।

विमर्श—मानो कमल-वन में किसी वस्तु को हँदने की इच्छा से इधर-उधर एकटक होकर देख रही है ॥ १५ ॥

मृदु प्रयान्तीयमनिम्ननिम्नयोः सितांशुका कामपि कान्तिमश्नुते ।

जले कलेव प्रतिविम्बितैन्दवी वनानिलोदञ्चदवाञ्चदूर्मिणि ॥ १६ ॥

नीचे-ऊँचे मार्ग पर धीरे-धीरे चलने वाली, श्वेत दंल धारण करने वाली यह रमणी श्रद्धभुत शोभाशालिनी प्रतीत हो रही है । मानो प्रतिविम्बित चन्द्रमा की कला वनवायु से परिचलित लहराते जल पर नाच रही हो ॥

प्रसादमस्माकमरण्यदुर्लभैर् विधेहि सालक्तकपादताडनः ।

असावशोकैः क्षणमाश्रितैः श्रमात् इतीव मत्तालिस्तेन योच्यते ॥१७॥

जिस अशोक वृक्ष के नीचे यह क्षण मात्र रही है, वह अशोक वृक्ष

मस्त भ्रमरों की गुञ्जार की ध्वनि से मागो इससे प्रार्थना कर रहा है कि धलता से रगे चरण जो वन में कमी नहीं आ सकते थे, उनका आघात करके हम पर कृपा कर दो ।

जिमर्श—कवि समय का निर्गह यहाँ पर किया गया है—‘पादाहत प्रमदया विकसत्यशोक’ ॥ १७ ॥

अभेदमूढस्तथकाभिरावृता लताभिरीपल्लुलितालिपकितमि ।

इयं पुरो मारुतनतितालका न लक्ष्यते व्यक्तमवामनस्तनी ॥ १८ ॥

घने पुष्पगुच्छों से युक्त उन लताओं से घिरी जिन पर चञ्चल भ्रमर पक्षियाँ बैठी हैं, यह विशाल स्तनों वाली रमणी जिसके बाल वायु से क्रमिप्त हो रहे हैं, साफ साफ नहीं दिखाई दे रही है ॥ १८ ॥

ऋजु क्वचित्क्याप्यनृजु प्रवर्तते क्वचित्स्त्रजलत्युच्चशिलातले पथि ।

इयं शनै शैलनदीय च क्वचित् विनम्रानीरतलेन गच्छति ॥ १९ ॥

पर्वतीय नदी की भाँति यह रमणी भी कमी सीधे मार्ग पर चल रही है, कभी टेढ़े मार्ग पर चल रही है । कमी ऊँचे-ऊँचे पथरों से आकीर्ण मार्ग पर चल रही है और कमी वेत की लताओं के नीचे होकर चल रही है ॥

स्थिता परिष्वज्य सरोजिनीमिमा घने घनेऽस्मिन् कुसुमोन्मदालिनि ।

प्रयाति सासूयमिय कथंचन स्वहस्तसीमन्तितमार्गवीरुधि ॥ २० ॥

कुसुमों का पराग (मकरन्द) पीकर मस्त भ्रमरों से परिपूर्ण इस घने वन में खड़ी हुई यह रमणी, कमलिनी का आलिङ्गन कर, अपने हाथों से लताओं को गुस्से में मानो इधर उधर हटाकर (अपने लिये मार्ग बनाती हुई) बड़ी लापरवाही से चली आ रही है ॥ २० ॥

क्वचित्क्वचित्स्वेदलरोद्गमो मुखे समाहृतेयं कनरी यथा तथा ।

अयं च कम्प कुचयोर्वधूरिय रतिश्रमव्याकुलितेव लक्ष्यते ॥ २१ ॥

इसके मुख पर कहाँ कहीं पसीने की बूँदें भल्क रही हैं, और जैसे जैसे फरेके यह अपनी वेशी को संभाले हुए है, (चलने के कारण दीर्घ श्वास आने से) इसके कुच काँप से रहे हैं । यह ऐसी दिखाई दे रही है मानो रतिक्रीड़ा में थकी हुई नववधू हो ॥ २१ ॥

अनेन रूपातिशयेन लीलया विविक्तनेपथ्यपरिग्रहेण च ।

अरण्यसचारपरेयमेकिका कुतूहल मे हृदये निपिञ्चति ॥ २२ ॥

अपने इस सुन्दर रूप से, अपनी लीला से, अपनी अस्तव्यस्त वेशभूषा से, और एकाकी वन में विचरण करने के कारण यह मेरे हृदय में एक प्रकार का कुतूहल पैदा कर रही है ॥ २२ ॥

असौ पराधीनतयाऽस्पदीकृतान् न वालिका न प्रतिभासते मम ।

अयं स्फुरत्काञ्चनपद्मसोदरः सचामरोऽस्याः कथमन्यथा करः ॥२३॥

यह वालिका निश्चय ही पराधीन दासी जान पड़ती है, वह यदि दासी न होती तो इसके स्वर्णकमल के समान कान्ति वाले हाथ में चँवर क्यों होता । अर्थात् जिसके लिए यह चँवर धरे है, वह इसकी रानी कोई और होगी ॥२३॥

इयं किमु स्याद्वनदेवताऽऽगतागता धरां व्योमवधूरयं किमु ।

अवेक्षितुं हारमिहंयमागता शशिप्रभावारविलासिनी किमु ॥ २४ ॥

क्या यह कोई वनदेवता तो नहीं यहाँ आ गयी ? अथवा आकाश की कोई धप्परा तो पृथ्वी पर नहीं आ गयी ? अथवा (शशिप्रभा के) हार को देखने के लिए उसकी कोई दासी तो नहीं यहाँ आ गयी है ॥ २४ ॥

इतः स चित्राकृतिरीक्षितो मृगः सितच्छदादाप्तमितो विभूषणम् ।

इतश्च दृष्टेयमिति प्रसूयते प्रसक्तमाश्चर्यमियं वनस्थली ॥ २५ ॥

यह घना वन तो बड़े-बड़े आश्चर्यों से युक्त जान पड़ रहा है । उधर तो इस वन में विचित्र आकृति वाला मृग दिखाई दिया, इधर हंस से यह हार मिला, और यहाँ यह नारी भी देखी । मालूम पड़ता है, इसमें बड़े-बड़े आश्चर्य भरे हैं ॥ २५ ॥

पाटलाया नायकदर्शनम्

इति प्रकृत्या मधुरोक्तिरुच्चवान् तथाऽऽयतादया दृष्टो विशाम्पतिः ।

तमालपत्रापिहितं शिलातले कुमुद्वतीकान्त इयाम्बरं स्थितः ॥ २६ ॥

पाटला का राजा को देखना

इस प्रकार बोलते हुए स्वभाव से ही मधुरभाषी तमालवृक्षों से आच्छादित शिला पर बैठे हुए राजा को उस दीर्घलोचना नारी ने इस भाँति देखा, मानो आकाश में शोभा पाने वाला चन्द्रमा हो ॥ २६ ॥

ततस्तदालोकनकौतुकेन सा स्थिता निमेषोज्झितपद्मलेक्षणम् ।

विनिद्रसत्केशरपङ्कजा वभौ वने निवातस्तिमितेव पद्मिनी ॥ २७ ॥

पुनः राजा को देखने की उत्सुकता से वह कुछ क्षण तक अपलक दृष्टि से देखती हुई खड़ी रही । उसकी दशा ऐसी थी, मानों परागपरिपूर्ण विकसित कमलिनी वन में वायु का झोंका न लगने के कारण शान्त बनी हुई हो ॥२७॥

पाटलायाः स्वगतम्

अचिन्तयत्सेति च पाटलाधरः सितारविन्दच्छददीर्घलोचनः ।

मुखं मुधादीधिति मुन्दरं दधन् वने गतः कोऽयमनङ्गविभ्रमः ॥२८॥

पाटला का अपने मन में विचार

उसने अपने मन में सोचा कि रक्त वर्ण की कान्ति वाले ओठों वाला, श्वेत कमल-दल के समान (दीर्घ और विस्तृत) नेत्रों वाला, मुख पर चन्द्र की कान्ति को धारण करने वाला, कामदेव के समान हाव-भाव वाला कौन यह इस वन में आया है ॥ २८ ॥

व्यनक्ति कल्याणमयीयमाट्टतिर_ महीयसोमस्य महानुभावताम् ।

असत्यमेतासु रुचा वितन्वति लतासु कार्तस्यरपरलजोद्गमम् ॥२९॥

इसकी यह मधुर एवं शान्ताकृति इसकी महानुभावता को प्रगट कर रही है । (आकृति से यह उदारचरित शक्त होता है ।) यह आकृति अपनी कान्ति से लताओं के मुनहली कान्ति वाले नये-नये निकलने वाले पत्तों की कान्ति को नगण्य ही बना रही है ॥ २९ ॥

भुजेन चित्राङ्गादरत्नशोभिना सतारहारेण भुजान्तरेण च ।

वदत्यथ मध्यमलोरुपालताम् परार्ध्यचूडामखिना च मौलिना ॥ ३० ॥

हाथ पर विचित्र वर्ण का बाजूबंद धारण करने से, तथा बल स्थल पर अनेक लड्डियों के दार को धारण करने से और शिर पर अमूल्य रत्न-मुकुट को धारण करने से तो ऐसा जान पड़ता है कि यह कोई राजा है ॥ ३० ॥

अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सिताक्षपत्रैरिव सर्पतो वृत् ।

अचामरोऽप्येव सतेज वीज्यते तिलासत्रालन्यजनेन कोप्ययम् ॥ ३१ ॥

बिना छत्र के भी यह अनेक श्वेत छत्रों से युक्त जान पड़ता है, इसके ऊपर यद्यपि नेत्र नदी झुलाया जा रहा है, फिर भी इसके ऊपर विलास रूपी चाल्क्यजन (चेंबर) झुलाया जा रहा है ॥ ३१ ॥

प्रियेयमारूढगुणा सुवशभूर् न चात्तिक चापलताऽस्य मुञ्चति ।

इमे वृषत्का अपि पाथिवेश्रियो तिलासकयोत्पलपल्लवा इव ॥३२॥

अति सुन्दर लगने वाली, गुणों से युक्त और सुश में पैदा होनेवाली चपलता ने इसका साथ नहीं छोड़ा (अर्थात् उच्चकुलीना चपलता इसमें है), इसके पास जो ये बाण हैं, राज्यश्री (नायिका) के विलासकालीन कर्ण-भूषण बनाने के योग्य (कर्ण) पल्लव की तरह मालूम पड़ रहे हैं ॥ ३२ ॥

इत् शिलोत्सगतले निपेटुषा द्विवश्च्युतेनेव कुरङ्गलक्ष्मणा ।

अधस्तरूणाममुना विनीयते क्षण मृगव्योपनत परिश्रम ॥ ३३ ॥

स्वर्ग से उतरे हुए चद्रमा की भाँति सुन्दर कान्ति वाले, पेड़ के नीचे (छाया में) बैठा हुआ यह राजा धाखेट से उत्पन्न यकाक्ट को दूर कर रहा है ॥ ३३ ॥

अयं स न स्यान्नवसाहसाङ्क इत्यनङ्गलीलासु कृती भुवः पातः ।

स येन मुक्तो निजनामलाञ्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥ ३४ ॥

जिसने शशिप्रभा के क्रीड़ाभृग पर अपने नामाङ्कित वाण को छोड़ा है, कहीं यह वही कामक्रीड़ाचतुर पुण्यात्मा पृथ्वीपति नवसाहसांक तो नहीं है

अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्वपि ।

इतः किमेतस्य न संकते स कि सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ ३५ ॥

नवीन पत्तों के समान रक्त कान्ति वाले इसके हाथ पर यह हमारा ही हार सा दिखाई दे रहा है । इसके इस ओर नदीतट पर क्या वह हंस भी नहीं दिखाई दे रहा है अर्थात् अवश्य दिखाई दे रहा है ॥ ३५ ॥

सुवर्णपुङ्खे लिखितं शिलीमुखे तदस्य नामास्ति समानमाकृतः ।

यदद्भुतामेकपदे पृपत्कताम् अगादनङ्गस्य शशिप्रभाम्प्रति ॥ ३६ ॥

स्वर्णफलक (वाणाग्रभाग) वाले वाण पर लिखे हुए नाम की ही भाँति हंस की आकृति भी सुन्दर दिखाई दे रही है । मालूम होता है कि इसीलिये यह शशिप्रभा के प्रति एक विचित्र काम के वाण का काम कर रहा है ॥

अनेन चेत्योगमुपैति दैवतः फणीन्द्रकन्या शशिनेव रोहिणी ।

अनल्पलावण्यतिरस्कृतोपमं वपुस्तदस्याः सफलत्वमेष्यति ॥ ३७ ॥

भाग्यवश यदि नागराजकन्या शशिप्रभा का सम्यन्ध चन्द्रमा के साथ रोहिणी की भाँति इस राजा के साथ हो जाय तो लावण्य से अत्यधिक सौन्दर्य के कारण वस्तुतः अनुपम शशिप्रभा का शरीर (जन्म) सफल होजाय ॥

विधातुमेनामहमेव वा क्षमा मितोदरीमङ्कतलेऽस्य को विधिः ।

ममेदृशे यद्विपये विमत्सराः स्तुवन्ति सख्यो ममृणोक्तिसौष्ठवम् ॥ ३८ ॥

मैं ही वृशोदरी शशिप्रभा को इसकी गोद में बैठाने में समर्थ हो सकती हूँ । (यदि ऐसा हो सकता है तो) इसमें विधाता का वश नहीं चलेगा । क्योंकि जब कभी भी मैं ऐसा प्रसंग (शशिप्रभा के विवाह का) छेड़ती हूँ तो ईर्ष्यारहित होकर मेरी सहेलियाँ मेरी मीठी-मीठी बातों के कहने के दंग की सराहना करती रहती हैं ॥ ३८ ॥

सहामुना किञ्चिदुपान्तवतिना वदत्यसानुद्गतदन्तदीधितिः ।

कुतूहलाक्षिप्तनिमेषलास्यया विलोकयन्मामिव दीर्घया दृशा ॥ ३९ ॥

कौतूहल के कारण अपलक अतएव विशेष विलास युक्त विशाल लोचनों से (एकटक) मुझे देखता हुआ यह (हंस कर) अपने समीपवर्ती पुरुष से बातें कर रहा है । बोलते समय इसके दाँतों से चमक निकल रही है ॥ ३९ ॥

पाटलायाः समीपमागमनम्

अथाधिगन्तु किल तस्य पत्रिणो गतिं वनात्ते कथमप्यलक्षिताम् ।
तमभ्यगात्सा नृपतिं सचामरा सरित् सफेना निधिमम्भसामिव ॥४०॥

पाटला का समीप आना

वन में जिसका कुछ पता नहीं लग रहा था, उस हंस के मार्ग का अनुसरण करती हुई चँवर को हाथ में लिये हुए पाटला राजा के समीप उठी भाँति आ पहुँची, जिस भाँति फन से युक्त नदी समुद्र के पास जाती है ।

विमर्श—समुद्र हुआ राजा, चँवर सफेद फन की तरह था तथा नदी थी वह सुन्दरी—इस तरह उक्त उपमा बन पनी है ॥ ४० ॥

समुच्चरन्नूपुरसिञ्जितै पदैर् यथायथा सम्मुखमाज्ञगाम सा ।

तयाऽयनाद्येन तथा तथेरिता दृगस्य पश्चादपसारमाददे ॥ ४१ ॥

बजते हुए नूपुरों के मधुर शब्द वाले पैरों को भागे बढ़ाती हुई (वह) पाटला जैसे जैसे राजा के पास आने लगी, वैसे-वैसे राजा की दृष्टि उस रमणी से प्रेरित होकर मानो पीछे की तरफ खिसकने लगी अर्थात् राजा उसे चाव से देखने लगा ॥ ४१ ॥

शनैस्ततस्ता सविधोपसपिणीम् निरोक्ष्य हार पिदधे नराधिप ।

निजोत्तरीयेण सितेन मारुता शरद्वधनेनेन शशाङ्कमण्डलम् ॥ ४२ ॥

धीरे धीरे उसे अपने पास आती हुई देख कर राजा ने हार को अपने श्वेत दुपट्टे से छिपा लिया, मानो वायु ने शरदकालीन रादल रूपी अपने श्वेत वस्त्र से चन्द्रमण्डल को छिपा लिया हो ॥ ४२ ॥

पयोधरोत्सङ्गनिवाभलालित व्यधादिम पन्नगराजकथका ।

इति प्ररोद्धद्गु मानमन्यरो वभूव तस्मिन्नवनीपुरन्दर ॥ ४३ ॥

नागराजकन्या ने इस हार को अपनी छाती पर लगा कर बड़े चाव से रखा होगा, इस विचार के आते ही उस हार के प्रति (प्रेम के कारण) आदर की भावना से राजा कुछ मुग्ध सा हो गया ॥ ४३ ॥

अनल्पलावण्यविलासजन्मभूर त्रिचित्ररत्नद्युतिभास्वरोर्मिका^१ ।

तमिद्धमुक्ताभरणं भुव पतिम् पयोधिवेलेष सुवेलमाप सा ॥ ४४ ॥

वह सुन्दरी पाटला अत्यन्त लाक्ष्य और विलास से परिपूर्ण थी । त्रिचित्र रत्नों की कान्ति से चमकने वाली अँगूठी उसने धारण कर रखी थी अर्थात् उसकी अँगूठी में रत्न जड़े थे । वह मोतियों का हार धारण करने वाले उस

१ मङ्गिस्तरङ्ग कर्मिणी—अमरकोश । अगुलीयकमूर्मिका—अमरकोश ।

राजा के पास उसी भाँति पहुँची, जैसे भरती के समय समुद्र की मर्यादा तट तक पहुँच जाती है ।

विमर्श—इस श्लोक में “अनल्पलावण्यविलासजन्मभूः”—“विचित्ररत्नद्युति-भास्वरोर्मिका” ये दोनों पद शिल्प हैं । समुद्रवेला पक्ष में इनका अर्थ होगा—“अत्यधिक नमक तथा चंचल तरंगों का उत्पत्ति स्थान” तथा “नाना प्रकार के रत्नों की कान्ति से जिसकी तरंग चमक रही है” ऐसी वेला ॥ ४४ ॥

अथाप देवः श्रियमन्तिकस्थया तथा स वालव्यजनाङ्कहस्तया ।

निपेच्यमाणः स्फुटलक्ष्यदेहया नरेन्द्रलक्ष्म्येव यशःसमेतया ॥ ४५ ॥

हाथ में चँवर धारण करने वाली पाटला के समीप आ जाने पर राजा इस प्रकार शोभा से मुशोभित हुआ मानो वह यशयुक्त साक्षात् देह-धारिणी राजलक्ष्मी से मुशोभित हो रहा हो ॥४५॥

पाटलाकृतः सत्कारः

विभिन्नचूर्णालकभक्ति कुर्यती

विकीर्णचूडामणिचन्द्रिकं शिरः ।

अथानुभावेन निदेशितेव सा

ननाम मानिन्यवशा विशाम्पतिम् ॥४६॥

पाटला द्वारा राजा का सत्कार

चूडामङ्गि (शिरोभूषण) की कान्ति जिसपर फँस रही थी तथा भुकाते समय जिसपर की बेणी का माँग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे सिर को उस सुन्दरी ने राजा की आकृति के प्रभाव से ही बरबस भुका दिया ॥ ४६ ॥

दृशा नरेन्द्रेण निदेशिते स्वयं शिलातले नातिविदूरवर्तिनि ।

उपाविशत्सा रसनामणित्विषा निपिच्यमानेऽमरचापशोभिनि ॥ ४७ ॥

करधनी के मणियों की कान्ति से युक्त इन्द्रधनुष का शोभा वाली, समीपवर्तिनी शिला पर, जिसे राजा ने दृष्टि से ही बताया था, पाटला बैठ गई ।

विमर्श—सफेद शिला पर लाल-हरे रंग की मेखला की कान्ति के संक्रान्त होने से ही इन्द्रधनुष की शोभा हो रही थी ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

तथातिदीर्घदेशनानुपातिभिर् विकृष्यमाणामिव भूषणांशुभिः ।

इति क्षितीशेङ्गितवर्त्मदीपिकाम् उदीरयामास गिरं रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वचन

रमाङ्गद ने महाराज नवसाहस्रक के अभिप्राय के मार्ग को दिखाने वाली वाणी कही । उस समय ऐसा मालूम पड़ा कि पाटला के आभूषणों की

लम्बी किरणें जो राजा के दाँतों पर पड़ रही थी, मानो वही किरणें उक्त वाणी को उसके मुख से खींच रही हों ॥ ४८ ॥

अनेन विन्ध्याद्रिविहारजन्मना श्रमेण काम भवती कदर्यिता ।

प्रसुप्तजूटाहिमुखाऽनिलोष्मणा जटाविदङ्गेन्दुकलेन शूलिन ॥ ४९ ॥

श्रीमती ! आप इस विन्ध्याचल में घूमने के कारण भ्रम से बहुत थकी हुई प्रतीत हो रही हैं । जिस भाँति शिवजी की जटा में सोने वाले सर्पराज के श्वासों से शिवजी की जटा में रहने वाली चन्द्रकला धूमिल (थकी सी) जान पड़ती है, वैसे ही आप भी थकी थकी सी जान पड़ रही हैं ॥ ४९ ॥

अमी सरोजप्रतिमे मुखे मुहुस् तनातपाताम्रकपोलभित्तिनि ।

समुन्मिपन्ति श्रमवारिविन्दवो नताङ्गि लावण्यमुधालवा इव ॥ ५० ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! धूप से कुछ लाल वर्ण के रने हुए कपोलों वाले तुम्हारे इस मुखकमल पर थकापट के कारण जो पसीने की बूँदें झलक रही हैं, वे ऐसी विदित होती हैं, मानो सौन्दर्यरूपी अमृत के कण हों ॥ ५० ॥

इतोऽवतसोत्पललास्यदेशिके निरन्तर गन्धवहे बहत्स्यपि ।

न घूर्णते स्विभ्रललाटसङ्गिनी तत्रालकश्रुतिरिय मनागपि ॥ ५१ ॥

अनकार भूत इन कमलों को नचा देने वाले वायु के निरन्तर चलने पर भी पसीने से भीगे हुए ललाट पर चिपकी हुई तुम्हारी यह केशराशि जरा भी नहीं हिल रही है । इससे प्रतीत होता है कि तुम अधिक दूर से चलकर आ रही हो और बेतरह थक गई हो ॥ ५१ ॥

अनेन पीनस्तनवम्पदायिना निरायतेनोद्बहता कदुष्यताम् ।

अथ प्रवालादपि पाटलच्छत्रिर् न दृश्यते नि श्रमितेन सेऽधर ॥ ५२ ॥

परिपुष्ट वृक्ष स्थल (कुचमण्डल) को ढँपा देने वाली लम्बी लम्बी गरम श्वासों से भूगे की कान्ति से भी अधिक रक्तवर्ण वाला तुम्हारा यह अधर क्या पीका नहीं पड़ा है ?

विमर्श - गरम गरम श्वास से तो अधरोष्ठ को कष्ट होना चाहिए, पर नहीं हो रहा है । अर्थात् कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं है । अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार मालूम पट रहा है । “वति हैतो पलाभाये विशेषोक्ति निगद्यते ॥ ५२ ॥

अदित्य पङ्क्त्या श्रमवारिविप्रपा निरतराध्यासितरेखाऽनया ।

तवेप कण्ठं कुटजावदातया विलासमुक्तालतयेन भूष्यते ॥ ५३ ॥

परिधम के कारण उत्पन्न होने वाली पधीने की बूँदों की पक्ति तुम्हारे गले की रेखाओं पर छा गई है, जिससे विभूषित तुम्हारा कण्ठ ऐसे विदित होता है, मानो सुन्द के स्वच्छ पुष्पों की माला से विभूषित हो ॥ ५३ ॥

इदं महच्चित्रममानुषं त्वया विगाह्यते यद्वनमद्वितीयया ।

इमा क्व विन्ध्यस्य भुवोऽतिदुर्गमाः क्व राजवेश्माभरणं भवाद्दृशी ॥ ५४ ॥

यह एक और विचित्र बात है कि तुम इस निर्जन वन में अकेली ही घूम रही हो । कहां तो विन्ध्याचल की यह भयानक वनस्थली, और कहां राज-भवनों को अलंकृत करने वाली तुम ।

विमर्श—तुम किसलिए इस प्रकार विचरण कर रही हो ? क्या तुम्हें इस वन में डर नहीं लगता—यह ध्वन्यर्थ हुआ ॥ ५४ ॥

नवोद्गताशोकपलाशकान्तिना निकामनिर्यन्नखचन्द्रिकेण च ।

विभर्षि कस्येदमनेन पाणिना वदाऽवधूतेन्दुमरीचि चामरम् ॥ ५५ ॥

तुम यह बताओ कि अशोक वृक्ष में नये उगे हुए पत्ते की भाँति कोमल और रक्त वर्णवाले, तथा जिसमें से नखों की कान्ति पर्याप्त मात्रा में निकल रही है, ऐसे इस हाथ में तुम चन्द्रकान्ति के समान श्वेत इस चँवर को किस लिये धारण किये हुये हो ? ॥ ५५ ॥

नृपस्य कस्यापि परिच्छेदाङ्गना यदि त्वमुच्चैर्विभवो हि कोऽपि सः ।

मस्तपतिर्मेनकयेव तन्वि यस्त्वयापि बालव्यजनेन वीज्यते ॥ ५६ ॥

यदि तुम किसी राजा की दासी हो तो विदित होता है कि वह कोई अति ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली राजा होगा । मेनका की भाँति तुम जिसके ऊपर चँवर डुलाती होगी, वह वास्तव में देवराज के समान ही (सौभाग्यशाली) होगा ।

अथर्धिमत्या परवत्यसि स्त्रिया कयापि काऽसौ जगदेकमुन्दरी ।

नतभ्र यस्याः स्मरचापयष्टयो विधेयतां यान्ति भवद्विधा अपि ॥ ५७ ॥

यदि तुम किसी ऐश्वर्यशालिनी स्त्री की दासी हो तो यह बताओ कि (सौन्दर्य से तीनों लोकों को जीतने वाली) तीनों लोकों में वह सर्वसुन्दरी कौन है ? वह कौन भाग्यशालिनी है, काम की धनुष सी तुम जैसी स्त्रियाँ भी जिसकी दासी हो सकती हैं ॥ ५७ ॥

परस्परस्पर्धिविलाससम्पदां प्रयं भवत्स्वामितया विकल्प्यते ।

मस्त्वतो वा रमणी रमाऽथवा कलत्रमर्धेन्दुविभूषणस्य वा ॥ ५८ ॥

वैभव, विलास और धन-सम्पत्ति से एवं सौन्दर्यातिशय से परस्पर स्पर्धा करनेवाली तीन स्त्रियाँ ही तुम्हारी स्वामिनी हो सकती हैं । या तो वह इन्द्रपत्नी शची हो सकती है, या लक्ष्मी हो सकती है, या फिर चन्द्रशेखर भगवान् शिव की अर्धाङ्गिनी पार्वती हो सकती है ॥ ५८ ॥

इयं परिभ्रान्तिरगेन्द्रकन्दरे सखीव ते शंसति कार्यगौरवम् ।

भवाद्दृशः श्वापदद्वृपितेऽन्यथा चरन्त्यरण्ये किमधीतनीतयः ॥ ५९ ॥

सब प्रकार की राजनीति एवं अन्य व्यावहारिक नीतियों को जानने वाली तुम वैसी क्रियों के इस प्रकार गिरि-चन्द्रराश्री में ऐसे अकेले ही घूमने से तो यह मालूम होता है कि तुम्हारा या तुम्हारी सखी का कोई बड़ा भारी काम होगा (जिसके लिये तुम यों फिर रही हो), अन्यथा इस जगली जानवरी से युक्त मयानक जगल में तुम्हारे जैसे लोग क्यों आने लगे ॥ ५६ ॥

अनेन खेलन्मददतिना वद
त्यमागता चण्डि कुतो दुरध्वना ।
विधाय त्रिश्लेषविपादभाययो

स्वकार्यनिष्ठे कथय क यास्यसि ॥ ६० ॥

हे चण्डि ! मदोन्मत्त हाथी जिस मार्ग पर इधर-उधर आते-जाते रहते हैं, उस मयावने श्रौर दुर्गम भाग पर तुम क्यों बिचरण कर रही हो ! हे अपने कार्य में तत्पर रहने वाली ! अब यह बताओ, हम दोनों से दूर होकर तुम कहाँ जाओगी !

विमर्श—यहाँ पर चण्डि सम्बोधन कवि ने क्यों दिया ! इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह निर्भीक होकर जो वन में घूम रही है तो अवश्य ही निहर होगी ॥ ६० ॥

नायकवाक्यम्

इति साऽभिहिता मृगाऽप्यवाची समुपोढप्रणय यशोभटेन ।
सहसा न जगाद् लग्नया नु श्रमत किंतु नृपस्तु वामबोचन् ॥६१॥

नायक का वाक्य

यशोभट (रमाङ्गद मंत्री) ने जब अत्यन्त प्रेम पूर्वक उससे इस माँति के वचन कहे तो वह बेचारी मृगनयनी लज्जा और यकावट के कारण सहसा कुछ भी उत्तर न दे सकी । तब राजा ने उससे कहा ॥ ६१ ॥

श्रान्तासि कौतुकहृतेन कदधितासि
प्रश्नैरनेन त्रिहितो न तवोपचार ।

आतिथ्यमेव कुरुते परमङ्गलेखा

सबाहनैकचतुरो निचुलानिलस्ते ॥ ६२ ॥

मालूम होता है कि तुम अधिक मक गई हो और (आश्चर्य के कारण अत्यन्त परेशान भी हो ।) इस (रमाङ्गद मंत्री) ने इस प्रकार के प्रश्नों को पूछ कर तुम्हारा कोई अतिथिसत्कार भी नहीं किया (इसे तुम्हारा अतिथि-सत्कार करना चाहिये या) । (इसी बीच मौलसी वृत् से टकराकर हवा का झोंका आया तो राजा ने कहा कि) शरीर को सुख पहुँचाने में अति चतुर

यह मौलसरी वृक्ष से टकरा कर आनेवाली वायु अब तुम्हारा स्वागत कर रही है ॥ ६२ ॥

एवं निसर्गमधुरेण सुधारसेन
निष्यन्दिना फणिवधूरय सा हसन्ती ।
चन्द्रांशुना कुमुदिनीव दिनोष्मतमा
वीतकलमा नरपतेर्वचसा वभूव ॥ ६३ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहस्राङ्क
चरिते महाकाव्ये पाटलादर्शनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार स्वभाव से ही मधुर, अनृत के समान मिठास भरे राजा के वचनों से वह नागरमणी (पाटला) उची भाँति प्रसन्न और तृप्त हुई, जिस भाँति दिन की गर्मी से संतप्त कुमुदिनी चन्द्रमा की किरणों को पाकर तृप्त होती है । (अर्थात् राजा के वचनों से वह इतनी आनन्दित हुई कि उसकी सारी यकान ही मिट गई) ॥ ६३ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहस्राङ्कचरित
महाकाव्य का पाटलादर्शन नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः

अथ सा बदने नरेन्दुकाति म्मितमङ्गे त्रिनिवेश्य चामर च ।
जगतीपतिमेवभावभापे मसृण मूर्तिमती विदग्धतेऽ ॥ १ ॥

पाँचवाँ सर्ग

इसके पश्चात् चन्द्रमा की काँति के समान सुन्दर अपनी मधुर मुस्कान को अपने मुख में और चन्द्रघण्टल चँवर को गोद में रख कर, पाटला राजा से मधुर वाणी में बोलने लगी । उस समय ऐसा विदित होता था मानो चतुरता साक्षान् मूर्तिमती होकर आ^१ हो, और राजा से बातें कर रही हो ॥ १ ॥

त्वयि पृण्ययजेन दृष्टिमाप्ते लभते शर्म^१ गतश्रमो ममामा ।

उदिते हि त्रिरोचने नलिन्या पितमस्ताभरण विकासमेति ॥ २ ॥

हे राजन् ! सौभाग्यवशा हुए आपका दर्शन से मेरी आत्मा परिश्रम से मुक्त होकर, एक त्रिचित्र मुख का अनुभव कर रही हूँ । जैसे सूर्योदय होने पर आंधकार से मुक्त पद्मिनीवन की कमलिनी खिल उठती है, उसी भाँति मैं भी आपके दर्शन से प्रसन्न हो उठी हूँ ॥ २ ॥

अतिमात्रमुपोढसौत्रुमार्यै रचमि श्रोत्रमुपेयुपि त्वदीये ।

झटिति प्रतिभासते ममाय कठिनश्रन्दनपह्वावतम ॥ ३ ॥

अत्यधिक सुसुमार (कोमल) और मधुर तुम्हारे वचन जैसे ही मेरे कानों में पड रहे हैं, वैसे ही उनके सामने मेरे कान में लगे हुए चन्दन के कोमल पत्र भी मुझे कर्कश मालूम पड रहे हैं ॥ ३ ॥

किमय मयि मग्भ्रमोऽयमाम्ता किमय नैव जन परिच्छद्दन्ते ।

उपचारप्रिशेषमप्रिधाने प्रतिपच्चद्र इन्द्रोदितस्त्वमेव ॥ ४ ॥

आप मेरे प्रति शतना धादर क्यों दिया रहे हैं ? इस आदर को रहने दीजिये । (इसकी कोई आवश्यकता नहीं ।) क्या मैं भी आपके सेवक-सेविकाओं के समान नहीं हूँ ? यह उपचार विशेष तो प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह उदित आपका ही मुझे करना चाहिये ॥ ४ ॥

भरदिङ्गितयेदिनैव पृष्ठा यदनेनाहमुपान्तवतिना ते ।

किमु तत्कथयामि सम्मत चेन् क्रियता मे स्वयमाज्ञया प्रसाद ॥ ५ ॥

आपके समीप बैठे हुए इस व्यक्ति ने आपका संकेत (इशारा) जानकर तदनुसार ही मुझसे जो कुछ पूछा है, क्या मैं उसका उत्तर दूँ ? स्वयं आशा देकर मुझ पर कृपा करें ॥ ५ ॥

१ शर्मशातसुखानि च—अमरकोश ।

नायकनिर्देशः

अभियेहि लवः कुतूहलस्य स्वदुदन्तप्रवणे ममापि जातः ।

इति सा वसुधापतेनिर्देशाद्यथा पातालविलासिनी जगाद् ॥ ६ ॥

नायक का कथन

कहो ! तुम्हारे वृत्तांत को सुनने के लिये मेरे हृदय में भी कुछ कौतूहल का हो रहा है । राजा की इस प्रकार की आज्ञा पाकर उस नागलोकवासिनी कन्या (पाट्या) ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

भुजङ्गलोकावर्णनम्

स तत्र श्रुतिमात्र एव तावन् म्मगलीलाभवनं भुजङ्गलोकः ।

उपयाति चदेकदेशस्तान्यं न मही नापि पुरी पुरन्दरस्य ॥ ७ ॥

नागलोकवर्णन

कानदेव के क्रीडागृह नागलोक के विषय में तो आपने सुना ही होगा । उस नागलोक की व्यवस्था न भूलोक कर सकता है, न अमरवती (इन्द्रनगरी) ही कर सकती है ॥ ७ ॥

अतिदुर्लभमूर्धभासि यस्मिन्ममलानुद्भसतां तिरस्क्रियायै ।

फणिनोऽरुणकान्तिभिर्दिशरस्यैर् मणिभिर्वालमिगतपद्मवहन्ति ॥ ८ ॥

जिस पाताललोक में फले हुए वनान्धकार को दूर करने के लिये सूर्य-रश्मियाँ तो कभी पहुँच ही नहीं सकतीं । वहाँ नागों के शिरो पर लाल कान्ति वाली जो मणियाँ हैं, वहाँ बालसूर्य का-सा प्रकाश देती रहती हैं ॥ ८ ॥

अनुलिम्पति रोदसी चयेन्दुः प्रमया मां न तथैत्यसूचयेव ।

पट्ट चः प्रमदाविलासहासस्तवकैरिन्दुपरम्पराः प्रसूते ॥ ९ ॥

'चन्द्रमा अग्नी प्रभा से जिस भाँति आकाश और धरती को प्रकाशित करता रहता है, उस भाँति तुम्हें (नागलोक को) प्रकाशित नहीं करता', इत ईर्ष्या के कारण मानो वह नागलोक वहाँ का प्रमदाओं के हाव-भाव-विलास के द्वारा चन्द्रों की परम्परा-सी लगा देता है ॥ ९ ॥

सविलासमुदस्तइस्तमुक्तेर् निकरैर्दिग्विद्वरदेन्द्रशीकराणाम् ।

परितो निचिताः सदैव यस्मिन् कद्रुमस्तारकिता इवावभान्ति ॥ १० ॥

उस पाताललोक में रहने वाले दिग्गज (दिशाओं के हाथी) जब प्रसन्नता से अपने सूत्रों को ऊपर उठाकर उन से जल-कणों को ऊपर फेंकते हैं, तो वे अनेक जलकण टूट-टूट फँसकर ऐसे दिखाई देते हैं, मानो चारों ओर सब दिशाओं में तारागण उदित हो गये हों ।

विमर्श—सूर्य और चन्द्रमा की माँति तारागण भी नागलोक अर्थात् पाताल तक नहीं पहुँच पाता । पर वहाँ तारागण का कार्य ।दग्गर्जो के उड्डाये हुए जलकण ही करते थे ॥ १० ॥

प्रतिभाति दधन् फणाजलापे पृथिवीं यत्र स शेषनागराज ।

नभसो निपतन् जवेन भित्वा जगतीं गाङ्ग इव च्युत प्रवाह ॥ ११ ॥

उस नागलोक में अपनी पखों पर पृथ्वी का धारण करता हुआ शेषनाग ऐसा जान पड़ता है मानो बड़े जोर से आकाश से गिरता हुआ गंगा-जल पृथ्वी को विदीर्ण कर पाताललोक में आ गया हो ।

विमर्श—पाताललोक अन्धकारपूर्ण है । उसमें श्वेत वरुण का शेषनाग श्वेतवर्ण वाला गंगाजल के समान जान पड़ता है, क्योंकि वह पाताललोक में है । अतः कल्पना की गई है कि मानो यहाँ गंगाजल शेषनाग के रूप में प्रकट हुआ हो ॥ ११ ॥

भोगवतीवर्णनम्

विदिता गुरु वामुकेखिलोक्या हरकण्ठाभरणम्य भोगिभर्तु ।

ललिताद्भुतभूमिरस्ति तस्मिन् नगरी भोगवतीति राजधानी ॥ १२ ॥

भोगवती का वर्णन

शिवजी के गले के आभूषण स्वरूप राजा वासुकि की नगरी तीनों लोकों में विख्यात है और उसमें मधुर एव आश्चर्यजनक कार्य होते रहते हैं, उस राजधानी का नाम 'भोगवती' है ॥ १२ ॥

मण्डिहर्म्यतलानि रत्नदीपा फणिकातधिविलोमितानि धीणा ।

ऋतपोऽप्यखिला समेत्य यत्र स्मरसाम्राज्यमहाधुर बहति ॥ १३ ॥

जहाँ की अट्टालकाओं में रत्नदीप, हाव मान दिखानेवाली स्त्रियाँ, सर्वत्र विखरा ऋतु समुदाय, ये सब मिलकर मानो कामदेव के शासन साम्राज्य की वागडोर धारण किये रहते हैं ॥ १३ ॥

अनुपाधिरुपाहृतो त्रिधास कमलैर्यत्र तिलासदीधिकामु ।

अपि यत्र कुमुद्वनीभिरस्त सहजश्चन्द्रमरीचिपक्षपात ॥ १४ ॥

जहाँ की तिलास श्रीडायोग्य बावलियाँ में कमल बिना किसी रूकावट के सदैव खिलते रहते हैं और कुमुदिनी भी बिना चन्द्रमा की प्रतीक्षा (पक्षपात) किये ही खिलती रहती है ।

विमर्श—पाताललोक में सूर्य, चन्द्र नहीं हैं, फिर भी वहाँ सूर्योदय के बिना ही कमल और चन्द्रोदय के बिना ही कुमुदिनी खिलती रहती है । उन्हें सूर्य चन्द्र की भी आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

अभिकानभिसर्तुमुद्यतः सन् सपदि व्यालविलासिनीसमूहः ।

भवति स्वफणामणिप्रदीपे तिमिरोत्सारिणि यत्र साभ्यसूयः ॥ १५ ॥

वहाँ नागस्त्रियाँ जत्र अपने नायकों के साथ अभिसरण करने लगती हैं, अर्थात् अभिसार के लिये चलती हैं, तो वे विलासिनियाँ अन्धकार मिटाने वाले अपने फनों में स्थित मणिदीपों को बड़ी ईर्ष्या के साथ देखने लगती हैं । अर्थात् उनके मणिदीपों के प्रकाश से उनके अभिसार में बाधा पहुँचती है । ॥ १५ ॥

अधिरोहति यत्र वंशमुक्ता-पटलस्मेरतटा सुरस्त्रवन्ति ।

सरितः श्रियमीर्ष्येय तस्याः सुवते मौक्तिकमेव यत्पयांसि ॥ १६ ॥

वंशीवनों से उत्पन्न होने वाले मोती (वंशलोचन) जिसके किनारे पर विखरे रहते हैं तथा जिसके कारण वह हँसती हुई सी सर्वश्रेष्ठ नदी शोभा को धारण करती है, अतएव वंशमुक्ताओं वाला उसकी ही ईर्ष्या के कारण उसका पानी भी अधिक मोती उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

अतिकान्तिगुणाभिराममूर्तिर् मधुरेण ध्वनिना मनोहरन्ती ।

विदधाति सदैव यत्र यूनां पदमङ्के वनिता च वल्लकी च ॥ १७ ॥

वहाँ पर अत्यन्त शोभा और गुणों से (या तारों से) मनोरम वनिताएँ और वीणाएँ अपनी मधुर वाणी (वीणा पत्र में मधुर ध्वनि) से मनहरण करती हुई युवा पुरुषों की गोद में सदैव विराजमान रहती हैं ।

विमर्श—इस श्लोक में श्लेष का चमत्कार काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाता है । वनिता और वल्लकी दोनों पत्र में प्रत्येक पद श्लिष्ट है ॥ १७ ॥

शतशो विलसन्त्युदंशुरत्न-स्तवकाः कल्पलता यदङ्गणेषु ।

प्रतिमन्दिरमेवमेव यस्याम् अपि चिन्तामणयः पदे लुटन्ति ॥ १८ ॥

जिनकी किरणों ऊपर की तरफ निकल रही हैं, ऐसी कल्पलताएँ नागलोक के आँगनों में सैकड़ों लगी हुई हैं, इस तरह वहाँ के प्रत्येक घर में सैकड़ों चिन्तामणिरत्न इधर-उधर टोकरें खाते रहते हैं ॥ १८ ॥

अपि दत्तकुतूहलाः सुराणाम् अपि वाञ्छापदमेकपिङ्गलस्य ।

अपि निर्विषया मनोरथानाम् उरगान् यत्र विभूतयः श्रयन्ते ॥ १९ ॥

वहाँ देवताओं के मन में कौतूहल उत्पन्न करने वाले विविध ऐश्वर्य विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर कुवेर भी उन्हें पाने के लिये लालायित हो उठता है तथा जो मानव-मनोरथ के अत्यन्त परे हैं ॥ १९ ॥

वसति स्वयमेव यत्र देवः स सदा कल्पितहाटकेश्वराख्यः ।

स्मरमूर्ध्वविलोचनार्चिपीव त्रिपुरं यः शरपावके जुहाव ॥ २० ॥

१. तन्त्री वीणा नु वल्लकी—अमरकोश ।

२. यक्षपिङ्गलविलम्बीदप्रणयजनेश्वराः—(कुवेर) अमरकोश ।

वहाँ हाटकेश्वर नामक महादेव निवास करते हैं। वे हाटकेश्वर शिव, जिन्होंने अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला में जिस तरह काम को भस्म कर दिया था, वैसे ही शराम्नि में त्रिपुरासुर को भी भस्म कर दिया था। काम को नेत्र-ज्वाला से और त्रिपुर को शरज्वाला से भस्म करने वाले शंकर ॥ २० ॥

शङ्खपालवर्णनम्

निजप्रशत्रिशेषकोऽस्ति तस्याम् उरगाणामधिप स शङ्खपाल ।

रुगसाविति यत् फणासु धत्ते वसुधा वासुकिना समानसार ॥ २१ ॥

शंखपाल का वर्णन

उस भोगवती नगरी में अपने वश का विभूषण, (श्रेष्ठ) वासुकि के समान बलजाला, सर्वराज शङ्खपाल रहता है। वही अपने शिर पर इस पृथ्वी को माला के समान धारण किये रहता है ॥ २१ ॥

शशिप्रभावर्णनम्

जगदेकललाम् तस्य कथा गुणस्त्यरित शशिप्रभेति वाक्सा ।

सहस्रेण फणाभृता प्रविष्टा भुवने राहुभयादिघेन्दुलोपा ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का वर्णन

समस्त लोकों में सर्वोत्कृष्ट सुन्दरी, गुणशालिनी शशिप्रभा उस नाग (शंखपाल) की पुत्री है। वहाँ वह इस प्रकार है, मानो राहु के भय से भयभीत होकर चन्द्रकला सहसा नागलोक में प्रविष्ट हो गई हो ॥ २२ ॥

न कयाप्यतिशय्यतेऽतिशीघ्रं यदिय कन्दुकवैलिपु भ्रमती ।

अपर कृतमथउत्तदस्या सुतरा नाम सखीभिराशुगेति ॥ २३ ॥

उस शशिप्रभा को गेंद खेलने में अति तेज चलने के कारण कोई भी सखि नहीं जीत सकती। (गेंद खेलने में वह तेजी से भागती है।) अतः उसकी सपरियां ने उसका एक दूसरा मार्थक नाम 'भागुगा' रख दिया ॥ २३ ॥

स्फुरद्दभुतरूपसपद ताम् अनुकतुं कलयापि धाष्टर्यमेति ।

न रतिन शची न चित्रलेपा न घृताची न तिलोत्तमा न रम्भा ॥ २४ ॥

देदीप्यमान् कान्तिमाली उस शशिप्रभा की पराररी यदि चन्द्रकला करना चाहे तो यह उसकी भृष्टा ही होगी। उसकी पराररी तो न इन्द्राणी ही कर सकती है, न रति, न चित्रलोपा, न घृताची और न तिलोत्तमा ॥ २४ ॥

सुर किन्नर सिद्धकन्यकाभि स्वकलाभ्यासपतीभिरासख्या ।

निखिलासु गता पर प्रकपं शितधी शैशत्र एव या कलासु ॥ २५ ॥

१ घृताची मेनका रम्भा उर्वशी च तिलोत्तमा—(ये चार नाम इन्द्र की अप्सराओं के हैं)—अमरकोश ।

अपनी अपनी कलाओं में निरन्तर अभ्यास करने से निपुण देव, गन्धर्व और सिद्ध-कन्याओं के साथ मित्रता करके तीक्ष्ण बुद्धि वाली वह शशिप्रभा वचन में ही सभी (चौसठ) कलाओं को सीख गई है ॥ २५ ॥

अनिवारितकैलिकौतुका सा सुतनुः स्नेहवशंवदेन पित्रा ।
विहरत्यपचीयमानवाल्या हरशैले मलये हिमालये च ॥२६॥

पुत्री के स्नेह के वशीभूत हुए उसके पिता ने खेलने-कूदने में उसे स्वतंत्रता दे रखी है अर्थात् उसके खेल-कूद पर किसी का भी नियन्त्रण नहीं है । (इसलिए) वह सुन्दरी नवयौवन में पदार्पण करती हुई कभी कैलास पर्वत पर, कभी मल्याचल पर और कभी हिमालय पर भ्रमण करती रहती है ॥ २६ ॥

अधुना पुनरत्र विन्ध्यपादे विहरन्त्याः कुसुमावचूडनाग्नि ।
क्वचिदप्यगमत्पलाय्य तस्यास् चपलः कैलिमृगो मृगायताद्याः ॥२७॥
अभी-अभी कुसुमावचूड नाम के इस विन्ध्य-शिखर पर विचरण करती हुई हिरणी के समान नेत्रवाली उस शशिप्रभा का क्रीडामृग न जाने भागकर कहाँ चला गया है ॥ २७ ॥

अतिवत्सलया समं सखीभिर् विपिने तं परितस्तया विचित्य ।
पुलिने सरितः शशांकसूतेः श्रमवत्येयमनीयत त्रियामा ॥२८॥
क्रीडामृग के प्रति अत्यन्त प्रेम रहने से उसने इस वन में चारों ओर अपने मृग को ढूँढा, पर उसे पाया नहीं, तब अपनी सखियों के साथ थकी हुई उसने चन्द्र से जन्म लेनेवाली इसी नदी के किनारे रात बिताई । (रात भर इसी तट पर विभ्राम किया) ॥ २८ ॥

कलहंसकलस्वनैर्विवुद्धा परिवारप्रमदानिदेशितं सा ।
निकपा निचुलप्रवालशय्यां तमथ प्रेक्षितवत्यचाप्रनिद्रम् ॥२९॥
(प्रभात होने पर) कलहंसों की कल-कल मीठी ध्वनि से वह जाग उठी । पुनः अपनी सखी-सहेलियों के इशारे से दिखाये हुए उस मृग को उसने अशोक वृक्ष के रक्तवर्ण के पत्तों की शय्या पर सोया हुआ देखा ॥ २९ ॥

तपनीयशिलीमुखस्तदङ्गे चकितं चित्ररुचौ तथा च दृष्टः ।
जलदे ललितेन्द्रचापभक्तौ अहिमांशोरिव भासुरो मयूखः ॥३०॥
विचित्र वर्णवाले उस मृग के शरीर पर उसने स्वर्णफलक (अग्रभाग) वाले बाण को अत्यधिक आश्चर्य से देखा । मानो सुन्दर इन्द्रधनुष की शोभा वाले मेघ में चमकती हुई सूर्य-किरणों का एक स्रोत पड़ा हो ॥ ३० ॥

अरविन्ददलत्विपा करेण स्वयमुत्पाट्य सकौतुकं गृहीते ।
अवलोकितमेतयाथ तस्मिन् विजयाङ्के नवसाहसाङ्कनाम ॥३१॥

कमल के समान कान्तिवाले अपने हाथ से उसने उस बाण को निकाला, और हाथ पर लेकर जब उसे अच्छी तरह से देखा तो विजय के सिद्धस्वरूप उस के फलक पर 'नवसाहस्राङ्क' नाम लिखा हुआ देखा ॥ ३१ ॥

अविशन्नरनाथनाम पूर्वं हृदयऽन्यान्सहसाऽथ पुष्पकेतु ।

अमृताशुमरीचिसुमनिद्रे लभते यत् कुमुदेऽन्तर द्विरेफ ॥ ३२ ॥

बाण देखते ही पहले राजा के नाम ने उसके हृदय में प्रवेश किया और पीछे पीछे तत्काल कामदेव ने भी सहसा उसमें हृदय में प्रवेश किया । जिस प्रकार चंद्रमा की किरणों से विकसित कुमुदिनी में तुरन्त ही भ्रमर प्रवेश कर जाता है ।

विमर्श—कुमुद में प्रथम चंद्रकिरण प्रविष्ट हुई तो वह खिला और फिर भ्रमर भी उसमें प्रविष्ट हो गया । इसी भाँति शशिकला के हृदय में पहले राजा का नाम प्रविष्ट हुआ और पश्चात् कामदेव अर्थात् वह राजा के नाम को पकड़कर कामासक्त हो गया ॥ ३२ ॥

नयमेघमलीमसाद्युगान्ते वमुधामुद्धरतो रथाङ्गपाणे ।

परित भ्रमरारिविद्वो ये निरपीयत पयोधिऽुक्तियुथै ॥ ३३ ॥

प्रलय हो जाने के बाद जब नवीन मेघों के समान घूसर वर्ण वाले बराह-वतार भगवान् धरती का उद्धार कर रहे थे, उस समय उनके शरीर से जो पसीने की बूँदें टपकी थीं, उन्हें चारों ओर से समुद्र में रहने वाली सीपों के समूह ने पी लिया था ।

विमर्श—ये पसीने की बूँदें फिर मोती बनाईं, उनको नागराज ने पाया ।

उनकी माला शशिप्रभा के लिये बनाई गई ॥ ३३ ॥

प्रकृति निल यस्य ते परीता परिणामेन तदन्तरेऽत्र हस ।

शयनात्गत मृणालशङ्कि इतान् हारमधीरलोचनाया ॥ ३४ ॥

उत्त भ्रमरिदुओं ने सीपों में जाकर जब मोतियों का रूप धारण किया तो फिर उन्हें मोतियों के बने हुए कातर नेत्रवाली शशिप्रभा के हार को जो नदी किनारे उसकी शैया के पास रखा था, कमल का डटल समझ कर एक हस लेकर न जाने किधर चला गया ॥ ३४ ॥

सान्दानितकम्'

वदडीयत से मुग्धेन विभ्रद् भुजगेन्द्रप्रतिम तमन्नसा स ।

अपदापितनेनतेयशङ्क फणिकयासु मुहूर्तविनलयासु ॥३५॥

१ 'सान्दानितक त्रिभिरिष्यते' अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है ।

सान्दानितक

सर्प की धाकृति वाले उस बड़े हार को मुख में दबा कर एकाएक जब वह हंस उड़ा, तो उसने व्याकुल उन नागकन्याओं के मन में जरा देर ऐसी शंका उत्पन्न कर दी, मानी गरुड़ साँप को लेकर उड़ रहा हो ॥ ३५ ॥

स च विन्ध्यवनान्तराजिमेतां अविशन्मारुतपीतपद्मगन्धाम् ।

अतिदृरविकृष्टनागकन्याचकितोदञ्चितदीर्घनेत्रभालः ॥ ३६ ॥

बहुत दूर तक (हारप्राप्ति के लोभ से) हंस के पीछे पीछे चलनेवाली नागकन्या के ऊपर उठे हुए नेत्रों और ललाट को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह हंस पद्मगन्ध से परिपूर्ण वायु वाली इस विन्ध्याचल की वनःस्थली में प्रविष्ट हो गया ॥ ३६ ॥

अहिराजसुतानिदेशतोऽस्मिन् असमाप्तेषुविलोकनोत्सवोऽपि ।

अथ हंसमितस्ततो विचेतुं विजने नागवधूजनः प्रवृत्तः ॥ ३७ ॥

इसलिये मृग के शरीर से मिले हुए वाण को अभी हम मनी-भाँति देख भी न पाई थीं कि तभी नागराज पुत्री (शाशप्रभा) की आज्ञा से हम लोग इस निर्जन वन में उस हंस को हूँढ़ने के लिए चल पड़ीं ॥ ३७ ॥

शवलास्विह कृष्णसारयूथैः समदक्रो'डसनाथपत्वलासु ।

गहनास्वपि तद्गवेषणायै वनलेखासु मम त्वर्यं प्रयत्नः ॥ ३८ ॥

कृष्णमृग के भुण्डों से जो भूमि चिह्नित अर्थात् शोभायमान हैं, जिसके तालाबों में मदमत्त स्रग्भर पड़े हुए हैं, ऐसी इस सघन वनःस्थली में उस हंस को हूँढ़ने के लिये ही मैं भी यह प्रयास कर रही हूँ ॥ ३८ ॥

समया न तटेषु निर्झराणां सरसां नाप्सु न पुण्डरीकपण्डे ।

सरसीष्वपि नायतोर्मिलेखान्तरपारिप्लवसारसासु ऋष्टः ॥ ३९ ॥

उस हंस को मैने न तो झरनों के किनारों पर ही देखा, न सरोवरों के जल में, न कमल के भुण्डों में, और न तो लम्बी-लम्बी जल की लहरों पर तरते हुए सारसोंवाली गवालियों में ही देखा ॥ ३९ ॥

सितचामरधारणे नियुक्तां दुहितुस्तेन भुजङ्गमाधिपेन ।

अवधारय पाटलेति नाम्ना तनयां मामुरगस्य हंमनाम्नः ॥ ४० ॥

आप मुझे नागपुत्री के ऊपर चँवर डुलाने के लिये उस नागराज से नियुक्त की गई हेम नाग की पुत्री पाटला समझ । अर्थात् मैं शाशप्रभा की चामरधारिणी हेम नाग की पुत्री पाटला हूँ ॥ ४० ॥

१. वराहः स्फुरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः कितिः

दंष्ट्री घोषी स्तब्धरोमा क्रोडो भृदार इत्यापि—अमरकोषः ।

अचले त्रिचय पतत्रिणोऽय कलित साधु ममाहितश्रमोऽपि ।

यदित पुस्पोत्तमोऽसि दृष्टो वनमध्ये निबिडश्रियोपगृह ॥ ४१ ॥

इस पर्वत पर इस को ढूँढते हुए मुझे यद्यपि थकावट सी प्रतीत हो रही थी, फिर भी मेरा इस को ढूँढना सफल ही रहा, क्योंकि अत्यधिक कान्ति से युक्त आप जैसे पुरुष का दर्शन मैं इस वन में पा सकी ॥ ४१ ॥

उपरोधमिम न मयसे चेत् यदि वाऽस्मामु तत्रास्ति पद्मपात ॥

यद तच्चरता क्वचिद्वनेऽस्मिन् स सहारो विहगम्बया नु दृष्ट ॥ ४२ ॥

यदि आपको कोई श्रापति न हो और यदि आपका हमारे प्रति जरा भी प्रेम (सहानुभूति) हो तो (ब्रूया) आप यह बतायें कि क्या आपने इस वन में कहीं उस द्वारवाले इस को देखा है ॥ ४२ ॥

न म दृष्टिमितस्तत्रापि मन्ये तद्द्विचयादितो निर्वर्ते ।

ननु ताम्यति काममात्तचित्ता चिरयत्यामयि साऽहिराजकन्या ॥ ४३ ॥

मैं समझती हूँ कि सम्भवतः आपकी दृष्टि में भी वह इस जहाँ आया। अतः अब मैं उसकी खोज न करके यहीं से लौट जाना चाहती हूँ। मेरे इतनी देर तक यहाँ भटकते रहने से वह नागराजपुत्री अत्यन्त चिन्तित होकर व्याकुल हो रही होगी। मैं देर से उसके पास जाऊँगी तो यह अधिक व्याकुल हो जायेगी ॥ ४३ ॥

अथवा मृगभङ्गिनोपनीते त्रिधिना सा नवसाहसाङ्गणे ।

प्रणयापितलोचना सनामन्यधुनाऽप्यालिगितेय नूमास्ते ॥ ४४ ॥

अथवा दैव के द्वारा मृग के बहाने से प्राप्त कराये गये नवसाहसाक के नामाङ्कित बाण को पाकर वह प्रेम भरी दृष्टि से निश्चय ही अब तक भी उसी बाण को चिन्तित ही देख रही होगी ॥ ४४ ॥

पुनरपि पाटलोक्ति

इति सा समुदीर्य तत्पृप्लान् अल्लोभ्यैव पुनश्चमत्कृतैव ।

स्फुटकेलिमृगोपनीतत्राणस्मरणस्मेरमुत्ती पुनजगाद ॥ ४५ ॥

पाटला का पुन कथन

इतना कह चुकने पर पाटला की दृष्टि राजा के हाथ के बाणों पर पड़ी। देखते ही पाटला चमत्कृत ही हो गई और मीडामृग के पास मिले हुए बाण का स्मरण करके मुख पर आश्चर्य का भाव छाती हुई पुनः राजा से बोली ॥ ४५ ॥

स नृलोकशशि त्वमेव मन्ये मृगयापद्धरुचि स यत्पृप्लव ।

मुननाभयदायिनाममीपा भवत सबदतीव भायकानाम् ॥ ४६ ॥

मैं समझती हूँ शिकार खेलने की रुचि वाले, इस धरातल के चंद्रमा

सम्भवतः आप ही हैं । क्योंकि सारे संसार को अभयदान देनेवाले आपके इन्हीं वाणों के समान वह वाण भी लगता है ॥ ४६ ॥

स्थितमेतदयोमुखेऽप्यमीषु स्फुटवर्णं तव नामधेयलक्ष्म ।

अवनीतिलक त्वयि प्ररूढं मम सन्देहलवं वलात् प्रमार्ष्टि ॥ ४७ ॥

लौहमुख वाले इन वाणों पर आपका नाम स्पष्ट अक्षरों में अंकित है । हे राजेन्द्र ! आपके नाम से अङ्कित ये वाण मेरे रहे-सहे सन्देह को भी हटात् दूर कर रहे हैं ॥ ४७ ॥

समुपैति सनाथतां किमन्यन् त्रितयेन त्रितयं नरेन्द्रचन्द्रः ।

त्रिदिवं नमुचिद्विषा त्वयेयं वसुधा वामुकिना रसातलं च ॥ ४८ ॥

हे राजचन्द्र ! अधिक क्या कहूँ ! तीन चीजें मानो इन तीनों से सनाथ हो गई हैं । इन्द्र से स्वर्ग, आप से भूतल और वासुकि से रसातल अर्थात् आप तीनों को अत्यन्त योग्य रूप में पाकर ये तीनों सनाथ हैं ॥ ४८ ॥

सनये नृपतावखंडिताज्ञे त्वयि शासत्यवनीं दिलीपकल्पे ।

विदधीत पदं सुदुर्नये कस्तमृते हारमलिग्लुचं विहङ्गम् ॥ ४९ ॥

राजा दिलीप के समान जिसकी आज्ञा का कभी भंग नहीं होता, ऐसे तुम्हारे इस पृथ्वी के शासक रहते हुए हार को चुराने वाले हंस को छोड़ कर और किसकी इतनी हिम्मत हो सकती है, जो अन्याय के मार्ग पर पैर रखे ॥ ४९ ॥

असतामसुहृन्न लज्जतेऽयं किमिति ज्याकिणलाञ्छितो भुजस्ते ।

अवनीं यदनेन रक्षितायां वयमस्यां मुपिताः पतत्त्रिणापि ॥ ५० ॥

तुम्हारे हाथों से जिस पृथ्वी की रक्षा हो रही हो, उसीमें हम यदि एक पक्षी के द्वारा लूट ली गई हैं, तो क्या दुष्टों के लिये साक्षात् शत्रु तथा धनुष की प्रत्यञ्चा के चिह्नों से युक्त तुम्हारा यह हाथ (ऐसा अन्याय देखकर भी) लज्जित नहीं होता ? ॥ ५० ॥

अपयातु खगः स तेन कृत्यं नहि मे हारमिह त्वमेव याच्यः ।

न दिशन्ति किमत्र चोरलुप्तं वत पष्ठांशभुजो वसुन्धरायाः ॥ ५१ ॥

वह हंस हार लेकर भाग गया तो भागने दो । मेरा उससे कोई प्रयोजन नहीं । अत्र तो मैं (उसके लिये) आप से ही प्रार्थना करूँगी । पष्ठांश को ग्रहण करने वाले पृथ्वी के राजा क्या चोर की चुराई वस्तु को नहीं दिलाया करते ? (या स्वयं उसकी पूति नहीं कर देते ॥ ५१ ॥

पथि चेदवतिष्ठते प्रणीते मनुना नाथ तदर्प्यतां स हारः ।

न नरेन्द्र भवादृशाः कदाचिन् पदवीं न्यायविदां विलङ्घयन्ति ॥ ५२ ॥

हे नाथ ! यदि आप मनु के प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं, तो हमें वह हार दिला दीजिये (या दीजिये) । हे राजन् ! आप जैसे लोग न्यायशील पुरुषों के मार्ग का कभी भी उल्लंघन नहीं करते अर्थात् आप जैसे लोग न्याय मार्ग का त्याग नहीं करते ॥ ५२ ॥

निजमर्थयसे शिलीमुख चेत भवता यत्नत्रताऽपि किं स लभ्य ।

त्वमनागसि यच्छशिप्रभाया प्रहरन् वेलियुगे कृतव्यलीक ॥ ५३ ॥

यदि आप (पहले) अपने बाण को माँगने की इच्छा करते हैं तो क्या वह बाण आपकी लाख प्रयत्न करने पर भी मिल सकता है ! क्योंकि आपने शशिप्रभा के निरपराध मृग पर बाण का प्रहार करके अच्छा काम नहीं किया है ॥ ५३ ॥

अथवा मृगयिष्यते न हार विशिष्य दाम्यति चोरगेद्रकया ।

त्वयि नेत्रपथातिथित्यमाप्ते मुलभोऽस्या द्वि महाजनोपरोव ॥ ५४ ॥

तुम यदि हार खोजकर न दोगे तो नागराजकन्या उसे खोजने के चक्र में नहीं रहेगी, पर वह तुम्हें देखते ही तुम्हारा पाण आपस कर देगी, एसी बात भी नहीं है, क्योंकि बड़े लोगों के साथ विरोध करना उसके लिए बहुत ही मामूली बात है ॥ ५४ ॥

अतिदूरत एव हृदयतेऽयं त्वमिवाभ्युनतिमानितो नगेद्र ।

वहति प्रणयोपरुद्धकृला कलहमेरुमन्तरेण रेवा ॥ ५५ ॥

दूर से ही आपकी भाँति अति उन्नत यह परत भी दिखाई पड़ रहा है । इसीके बीच से होकर रेवा नदी बह रही है, जिसके किनारे पर सुन्दर क्रीडाइस प्रणयक्रीडा कर रहे हैं ॥ ५५ ॥

अमृते दुक्लासहोदराऽस्या मुतनुस्तीग्तलेऽवतिष्ठते सा ।

उरसीव पयोविराजकया यनमालाभरणे रथाङ्गपाणे ॥ ५६ ॥

इसी रेवा नदी के तट पर सुन्दर शरीरवाली, तथा अमृत के समान शीतल तथा आह्लादकारक चन्द्रकला की तरह सुन्दर शशिप्रभा वहाँ उसी प्रकार शोभित है, मानो विष्णु भगवान के धनमाला से विभूषित बद्ध स्थल पर लक्ष्मी विराजमान हो ॥ ५६ ॥

तदित स्वयमेव देव गत्वा पुलिन सोमभुजस्तरङ्गवत्या ।

रगलुप्तनिभूपणा श्रितौ ते फणिराजेन्द्रसुता विनोधयेति ॥ ५७ ॥

हे देव ! यहाँ चन्द्र से पैदा हुई रेवा नदी के किनारे पर जाकर आप स्वयं उस नागेद्रकन्या को समझा दीजिए, जिसका हार आपकी पृथ्वी में अर्थात् आपके राजा रहते इस ने चुरा लिया है ॥ ५७ ॥

सानन्दं नायकोक्तिः

इति तद्वचसा स्मरैकदृतप्रसवोल्लासवसन्तवासरेण ।

स नृपः कमपि प्रमोदमापन् घनराजिध्वनिनेव नीलकण्ठः ॥ ५८ ॥

आनन्दपूर्वक नायक का कथन

काम के एकमात्र दूत आम्रमञ्जरियों के उल्लास (विकास) के लिये वसन्तवासर के समान पाटला के मधुर वचन सुन कर राजा मेघपर्णिकी ध्वनि को चुनकर प्रसन्न होने वाले मोर की भाँति अत्यन्त आनन्दित हो गया ॥ ५८ ॥

अवदन्च विहग्य पार्थिवेन्द्रः फणिराजेन्द्रनुताविलासिर्नी ताम् ।

वचसोत्कयता मयूरशावान् नवजीमूतनिनादसोदरेण ॥ ५९ ॥

नवीन मेघ का शब्द जिस प्रकार मयूर-शावको (वच्चो) को आनन्दित करता है, उसी प्रकार राजा भी (अपनी मधुर वाणी से) नागराज पुष्पी की उस परिचायिका को आनन्दित करना हुआ हँसकर गोला ॥ ५९ ॥

अपि नाम मृदूनि वेत्सि वक्तुं निपुणं न्यायमनुञ्जती वचांसि ।

प्रसभं विाहतारस्वया यदेते वयमात्मस्खलितेऽपि सापराधाः ॥ ६० ॥

वाग्मव में न्यायमार्ग का त्याग न करती हुईं तुम मीठे वचनों को धोलना भलीभाँति जानती हो । क्योंकि गलती हमारी है । तुमने निर्भय होकर हमारी गलती हमें बतायी है ॥ ६० ॥

इदमोमिति गृह्यते वचरते सह मेधाविनि कस्त्वया विवादः ।

यदिमा विशदोद्गमा गिररते पथि सिद्धान्तसमीक्षिते चरन्ति ॥ ६१ ॥

रे चतुर बुद्धिवाली ! मैं तुम्हारी बात को अक्षरशः स्वीकार करता हूँ ।

तुम्हारे साथ विवाद किस बात का ? क्योंकि तुम्हारी यह स्वच्छ प्रवाहशील वाणी सिद्धान्तपूर्ण मार्ग पर स्थित है ॥ ७१ ॥

तदनेन विनोदयाशु तावन् मम हारेण मनः शशिप्रभायाः ।

इह पत्वलसंकतेषु यावन् तदलङ्कारमवेक्षितुं यतिष्ये ॥ ६२ ॥

जब तक मैं जलाशयों के किनारे तुम्हारी सखी के हार को हँडने का प्रयत्न करता हूँ, तब तक तुम मेरे इस हार को ले जाकर शशिप्रभा का मन पहलाओ ॥ ६२ ॥

हारप्रदानम्

अथ हारमनादरेण कंठान् स्वयमाकृष्य स कृष्टचन्द्रशोभम् ।

विहसन्नरविन्द्रकोशताम्रं निदधे पाणितले विलासवत्याः ॥ ६३ ॥

हार देना

इसके पश्चात् चन्द्रमा की शोभा को हरण करनेवाले, अपने हार को बिना किसी हिचकिचाहट के गले से निकालकर हँसते हुए राजा ने कमल की पँखुड़ियों

के समान रक्तवर्ण एव क्षीमल कान्तिवाल उस पाटला के हाथ पर रख दिया ॥ ६३ ॥

अपि कोशगृहोदर दुराप फणिना भर्तुस्फोडविम्मया सा ।

तमुदञ्चितपद्मणा धृगाक्षी लिखितेनैव ददर्श लोचनेन ॥ ६४ ॥

अहिराज (वासुकि) के राजाने मं भी दुष्प्राप्य उस हार को देखकर विस्मित हुई मृगनयनी पाटला, अपलक दृष्टि से चित्रलिखी थी उस हार को देखती रही ॥ ६४ ॥

शशिप्रमाहारधारणम्

अप्रवृष्य सलीलमुत्तरीयान् सितमेघादिव तारकाप्रितानम् ।

उरसा स वभार हारमीश स्तनपयङ्कशय शशिप्रभाया ॥ ६५ ॥

शशिप्रभा के हार को पहनना

इसके पश्चात् राजा ने अपने दुपट्टे में से श्वेत मेघ के बीच से तारकापत्नी की भाँति उस हार को निकालकर अपने गले में पहन लिया, जो शशिप्रभा के वक्षस्थल की शोभा बढ़ाया करता था ॥ ६५ ॥

पदति स्म हसन् रमागदस्ताम् उरगस्त्रीमथ भर्तुरिद्वितज ।

यदि कौतुकप्रत्यमत्सरस्ते तदित निश्चिदितोऽप्रलोभयेति ॥ ६६ ॥

स्वामी के श्रुति (इशारी) को जाननेवाले अर्थात् राजा के अभिप्राय को समझनेवाले रमागद ने हँसते हुए उस नाग स्त्रियों को कहा, यदि तुम्हें कुछ उत्सुकता है और तुम ईर्ष्या नहीं करती हो तो जरा इधर देखो ॥ ६६ ॥

अथ हारलतात्रिकृष्टदृष्टि सहसा वारिप्रिहगमावलुप्तम् ।

उरगेद्रसुतात्रिभूषण तन्नृपतेर्गमि पाटला ददर्श ॥ ६७ ॥

तब उस राजा के दिये हुए हार को और से दृष्टि हटाकर पाटला ने इस द्वारा सुराये हुए नागराज पुत्री के हार को राजा के वक्षस्थल पर देखा ॥ ६७ ॥

पुनः पाटलानाम्पम्

दशनच्छद्मात्तन्मिश्रोभ स्तनपयती मुधयेव हासकान्त्या ।

अवदन्च वचासि पाथिष सा चतुरैव परिहासपेशलानि ॥ ६८ ॥

पुनः पाटला का कथन

निम्बफल की शोभावाले अपने ओष्ठ को (अपने निम्बाघर का) अपनी अमृत तुल्य हास्य-कान्ति से नहलाती हुई-सी (चींचती हुई सी) चतुर पाटला ने हँसी हँसी में राजा से ऐसे मधुर वचन कहे ॥ ६८ ॥

अपहर्तुमगास्त्वमेव हार किमित कल्पितराजहंसरूपम् ।

विदितोऽसि घनस्तपोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता ॥ ६९ ॥

बनावटी (कृत्रिम) राजहंस का रूप धारण कर वहीं आप ही तो हार को चुगाने नहीं गये ? क्योंकि इस बात के लिए आप बहुत प्रसिद्ध हैं । नागलोक में आपके बहुरूप-धारण की चर्चा बहुत सुनी जाती है ॥ ६६ ॥

परवञ्चनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा नरेन्द्र !

इदमाभरणं हरस्यरण्ये हरहासैकसितं शशिप्रभायाः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! यदि तुम्हारी बुद्धि दूसरों को ठगने की या धोखा देने की न होती तो शिव के हास के समान उज्ज्वल वर्णवाले शशिप्रभा के हार को तुम इस वन में कैसे चुरा लेते ! ॥ ७० ॥

अवर्णावलये त्वमात्तदण्डः सहसे नाऽविनयांशमित्यवैमि ।

अथ च स्थितिमात्मना विधत्से विषये दस्युनिर्षेविते किमेतन् ॥ ७१ ॥

इस पृथ्वी के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेनेवाले तुम अन्याय को अंशमात्र भी न सहते होगे, ऐसा मैं समझती हूँ । फिर आप स्वयं ही चोरों के रास्ते पर चल रहे हैं, यह कैसी विचित्र बात है ॥ ७१ ॥

क्षितिप स्मयसे किमेप केलिर्न भवत्यर्षय हारमस्मदीयम् ।

नयवर्त्मजुषो भवाद्दशः किं न परस्वग्रहणादिह त्रपन्ते ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! आप को कुछ आश्चर्य हो रहा है या नहीं ? या क्या आपने इसे खेल समझ रखा है ? इन्ने हँसी-ठट्टा न समझिये । आप हमारे हार को दे दीजिए । न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरे का धन ग्रहण करने में क्या लजित नहीं होते हैं ? ॥ ७२ ॥

अथवा परतोऽस्तु नर्म नास्यां भुवि देवेन समोऽस्ति पाथिवोऽन्यः ।

अपविद्धतया न यस्य छत्रं अपसर्पन्त्यथ खेचराः किमन्यैः ॥ ७३ ॥

अथवा हँसी-मजाक दूर करिये । इस पृथ्वी पर आपके समान तो अन्य कोई ऐसा राजा है ही नहीं, जिसकी तीखी दृष्टि पड़ने पर आकाशगामी जीव भी उसके प्रभाव से दूर नहीं हों सकते, औरों की तो बात ही क्या है ?

अनयोः किमपि त्वया विलासिन् परिवर्तोऽयमकारि हारयोर्यः ।

वचसामवकाशमीश दत्ते स न कस्यानृजुचेतसो जनस्य ॥ ७४ ॥

हे विलासी राजन् ! आपने जो इन दोनों हारों का परिवर्तन किया है, वह भला किस चतुर व्यक्ति को भी कुछ कहने का मौका न देगा । अर्थात् इस परिवर्तन से साधारण व्यक्ति भी तुम्हारा भाव जान सकता है ॥ ७४ ॥

विहितो नहि वक्षसि त्वयाऽयं नृप हारः फणिराजकन्यकायाः ।

किमपीप्सितमात्मनो विधातुर् विहितं सूत्रमिदं मनोभवेन ॥ ७५ ॥

हे देव ! नागकन्या के इस हार को आपने स्वयं जान-बूझकर अपने वक्षःस्थल पर धारण नहीं किया, अपितु अपनी कुछ मनोकामना को पूर्ण करने

के लिए मानो कामदेव ने ही उस रूप में अभीष्ट वस्तु का स्वपात किया है ।
अर्थात् शशिप्रभा के प्रेम का यह प्रथम स्वपात है ॥ ७५ ॥

ननु याम्यमुना शशिप्रभायास् तत्र हारेण मनो विनोदयामि ।

त्वयि साप्यलमेव साद्रचेत्तममुतनु स्नेह्रसार्रतामुपैतु ॥ ७६ ॥

अच्छा, तो अब मैं जाती हूँ । आपने इस हार से मैं शशिप्रभा का
मनाविनोद करूँगी । स्नेह से दिनगंध चित्त वाली वह सुदरी भी आपके प्रेम से
युलकित हो उठेगी ॥ ७६ ॥

उचित निवसायकानुरोधान् अहिराजेद्रमुतोपसर्पण ते ।

परतोऽस्तु शरस्त्वदथिता सा किमु न त्यागवशवदा ददाति ॥ ७७ ॥

अपने पाण को माँगने के लिए शशिप्रभा के पास आपका जाना भी उचित
है । बाण की रात छोड़ो, भला वह कौन ऐसी वस्तु है, जो तुम उससे माँगो,
और वह तुम्हें न दे ॥ ७७ ॥

सरसोऽस्य विमुञ्चतीरलेखाम् अनुरेवापुलिन गृह्णाण यात्राम् ।

उरगाविपरूपपक्षपात शमय व्यालत्रधृत्रिलोचनानाम् ॥ ७८ ॥

अब इस तालाब के तट का छोकर आप रवा के किनार चलना
प्रारम्भ कीजिये । नागस्त्रियों को जो अपने अपने पतियों के सौन्दर्य के प्रति
पक्षपात (अनुराग) है, (चलकर जरा) आप उसे अपने दर्शन देकर शांत
करें । अर्थात् उन्हें यह मालूम हो जाय कि मृत्युलाक में नागों में भी सुन्दर लोग
रहते हैं ॥ ७८ ॥

शशिप्रभादर्शनार्थगमनम्

इति बल्लु वचो निशम्य तस्या स नृप पन्नगत्रामलोचनाया ।

स्थितमत्र वचस्यलङ्घनीये सत्र कल्याणि मयेति तामुवाच ॥ ७९ ॥

शशिप्रभा दर्शन के लिये प्रस्थान

नागराज बधू पाटंग के सुन्दर और मीठे वचनों को सुनकर राजा ने कहा
कि हे कल्याणि ! मैं तुम्हारे अनुल्लङ्घनीय वचनों पर स्थित हूँ । मैं तुम्हारे
वचनों का उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् तुम जो कुछ कह रही हो, वह
सत्र मुझे स्वीकार है ॥ ७९ ॥

अथ सानुजुरादिनी विधाय क्षितिपाल पुरतश्चाल वाला ।

हृदयेन पराममर्शं चैव मिलसन्मासलविस्मयो भरेन्द्र ॥ ८० ॥

इसके पश्चात् रहस्यमय वचनों को बोलनेवाली वह पाटला राजा को
आगे करके चल पड़ी । अत्यधिक आश्चर्य से युक्त हुआ राजा भी अपने हृदय
में इस भाँति विचार करने लगा ॥ ८० ॥

अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क स मृगः
 क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमवला
 क्व तत् क्वारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
 स्वमाकृतं धाता किमपि निभृतं पल्लवयति ॥ ८१ ॥

कहाँ तो यह घोर वन, सोने की शृंखला पहने हुए कहीं वह मृग, कहीं यह मोतियों का हार, कहीं यह हंस, कहीं यह स्त्री, कहीं नागराज की सर्व-सुन्दरी कन्या, और कहीं हम लोग ! इन सारी वस्तुओं को देखकर विदित होता है कि विधाता का विधान गुप्तरूप में पल्लवित हो रहा है। अर्थात् इस सब को एकत्र देखकर मालूम पड़ता है कि विधाता अपने मन में छिपे किसी अभि-प्राय को अब प्रायोगिक रूप देना चाहता है ॥ ८१ ॥

अथ मदगजलीलान्वेलगामी स कृत्वा
 कनकविशखयाञ्चान्याजमव्याजकान्तः ।
 अत्रनिहरिणलक्ष्मा साहसोपार्जितश्रीः
 अहिपरिवृढकन्यालोकनाय प्रतस्थे ॥ ८२ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसप्तोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
 नवसाहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रभात्रलोकनार्थप्रस्थानं
 नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् मदोन्मत्त हाथियों की भाँति लीलापूर्वक चलनेवाला, अपने साहस से लक्ष्मी को प्राप्त करने वाला, इस धरती का चन्द्रमा, स्वाभाविक सुन्दर वह राजा अपने स्वर्णफल वाले वाण को मारने का वहाना बनाकर फणीन्द्र-कन्या शशिप्रभा को देखने के लिए चल पड़ा ॥ ८२ ॥

श्रीमृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहस्राङ्क-
 चरित महाकाव्य का शशिप्रभा को देखने के लिए
 प्रस्थान नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः सर्गः

षष्ठ सर्ग

नायिकास्वार्णनम्

तदा फणीन्द्रकन्यापि पाणनामाङ्कसूचिते ।
नरेन्द्रतिलके तस्मिन्नभिलाष वयन्व सा ॥ १ ॥

नायिका की दशा का उर्णन

उधर वह नागराजकन्या भी बाणों पर लिखे हुए नामवाले राजा के प्रति अनुरागवती हो गई। राजा से मिलने की उसकी अभिलाषा जाग्रत हुई ॥ १ ॥

सहसा हृदये तस्या निद्रधे मन्मथ पदम् ।

अशोकयष्टिस्तपके सराग इव पट्पट् ॥ २ ॥

उसके हृदय में कामदेव ने वैसे ही प्रवेश किया, जैसे अशोक की लता के विकसित पुष्पगुच्छ में भ्रमर प्रेम से प्रविष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

अपशा साऽभ्रचित्र नाग्नापि पृथिरीपते ।

न तदस्त्यत्र यन्नास्त्र मनढम्य मनोभुज ॥ ३ ॥

उड़े आश्चर्य की बात है कि राजा के नाम से ही वह विह्वलचित्त हो गई, अपने पर काबू न रख सकी। इस दुनिया में कोई वस्तु नहीं, जो काम के लिए अपनी विजय का अस्त्र न बन जाय ॥ ३ ॥

स्मराग्निऋणमेणाद्यास्तस्या समुददीपयन् ।

मकरध्वजमाघ्राज्यसचिरो मलयानिल ॥ ४ ॥

कामदेव के साम्राज्य का मंत्री बना हुआ मलयानिल, उस मृगलोचना के हृदय में स्थित कामाग्नि की चिनगारी को अत्यधिक प्रज्वलित करने लगा अर्थात् मलयानिल के सम्पर्क से वह अधिः कामपीडित हो गई ॥ ४ ॥

सोऽस्तस्मरलीलेन नवेन वयसा यभौ ।

वस्मिपन्मधुलेगेन मुकुलेनेन मालती ॥ ५ ॥

जिसमें काम-लौलाएँ प्रकट होती हैं, उस नवयौवन से वह इस भाँति शोभित हुई, जैसे चमेली पुष्प की लता, जो उस कली से शोभायमान होती है, जिसपर मधुलेखा अर्थात् मकरन्द राशि विराजमान हो ॥ ५ ॥

साऽतनुश्वसनस्पृष्टपाटलाधरपल्लवम् ।

उवाह मुखमुञ्जृम्भमम्भोजमिव पद्मिनी ॥ ६ ॥

दीर्घ निश्वास के कारण सखकर लाल हुए अधरों से वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानो खिले हुए लाल कमल को कमलिनी ने धारण किया हो ॥ ६ ॥

निकामसरले तस्मिन् सा मुहुस्तरले दृशो ।

शरे नरेन्द्रचन्द्रस्य चिक्षेप न सखीजने ॥ ७ ॥

वह शशिकला अपना चंचल आँखों से पुनः-पुनः एकटक नरेन्द्रचन्द्र (सिन्धुराज) के एकदम सीधे बाण को ही देखती रही । सखियों पर उसने कोई ध्यान न दिया ॥ ७ ॥

नरेन्द्रनामाङ्कलिपिस्तामानन्दयति स्म सा ।

कुमुद्वतीमिवोदञ्चद्वालेन्दुकिरणच्छटा ॥ ८ ॥

जिस भाँति उदयकालीन बालेन्दु की किरणकान्ति कुमुदिनी को आनन्द देती है, उसी भाँति राजा के नाम से अङ्कित (बाण पर लिखी) वह लिपि भी उसे आनन्द दे रही थी ॥ ८ ॥

हेमपुङ्गाङ्किते तस्मिन् शरे करमुपेयुपि ।

बलाद्विवेश सा बाला दीक्षां वैवाहिकीमिव ॥ ९ ॥

स्वर्णपुङ्ख वाले उस बाण के हाथ में आ जाने से उसके प्रति वह इतनी सानुराग हो गई, मानो सानुकूल पति पाकर बरबस विवाहकालीन दीक्षा उसने पा ली हो ॥ ९ ॥

तेनावाप्तदाताम्रपाणिस्पर्शेन पत्रिणा ।

स्फुरत्कान्तिचयव्याजादमुच्यन्तेव पल्लवाः ॥ १० ॥

उसके इंपत् रक्तवर्ण के हाथ के स्पर्श के कारण वह बाण ऐसा प्रतीत होता था, जैसे अपने चमकनेवाले प्रभासमूह के वहाने वह नये-नये किसलयों को प्रकट कर रहा हो । अर्थात् उस बाण की कान्ति के साथ शशिकला के हाथ की लाल कान्ति मिल गई । वह कान्ति प्रसृत होने लगी । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वह बाण कोमल किसलयों को गिरा रहा हो ॥ १० ॥

नवीनसाहसाङ्कस्य कामदेवाकृतेरयम् ।

मालवैकमृगाङ्कस्य सिन्धुराजस्य सायकः ॥ ११ ॥

पुनः पुनरिति स्वादु नृपतेर्नामल सा ।

अपठच्चारुविम्बोप्रनुठदशनचन्द्रिका ॥ १२ ॥

उसने उस बाण पर “कामदेव के समान आकृति वाले, मालव देश के चन्द्र सिन्धुराज नवसाहसाङ्क का यह बाण है” यह अङ्कित देखा और उन सुन्दर नामाक्षरों को वह बार-बार पढ़ने लगी । तब रह-रहकर उसके अधर पर दाँतों की आभा खेलने लगी ॥ ११-१२ ॥

सान्दानितकम्

अधीत्य कौतुकेनाय कृतपञ्चममूर्च्छना ।

तदग्रे नृपनामाङ्क जगु पातालकन्यका ॥ १३ ॥

सान्दानितक

उस राग पर नवसाहसाङ्क का नाम पडकर पाताललोक की कन्याएँ पञ्चम स्वर की मूर्च्छना के साथ अर्थात् पञ्चम स्वर के आलाप तान के साथ जोर जोर से बार बार उसे उस नाम को सुनाने लगीं । (नाम का गीत गाने लगीं) ॥ १३ ॥

अदृष्टेऽप्युत्सुना राक्षि तद्गीतेन वभूव सा ।

प्रवोत्रे यदनङ्गाम्ने पञ्चम प्रथमा समिन् ॥ १४ ॥

उनके नाम गीत से राक्षी को न देखने पर भी वह राजा क प्रति आसक्त हो गई । वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि पञ्चम स्वर कामाग्नि को प्रज्वलित करने की पहली समिधा है ॥ १४ ॥

अत्रेपत समुन्मीला विलासकुसुमाञ्चिता ।

मनोभवानिलस्पर्शाशराद्वनलतेर सा ॥ १५ ॥

कामरूपी प न के स्पर्शमंत्र से ही, अपने नवोद्गत हावभाव रूपी कुसुमों से सुशोभित वह वनलता की भाँति काँपने लगी ॥ १५ ॥

ननानुरागमङ्गेन व्यञ्जतन्विह्वलुम्भिना ।

विना उचनभाचरयौ सखीषु चतुरामु सा ॥ १६ ॥

स्वयं रूप से प्रेम के चिन्हों से युक्त उसके अग्रप्रत्यग ने विना कहे ही उसकी सखियों पर राजा क प्रति उसके गाढानुराग को व्यक्त कर दिया । उसकी मुखाकृति को देखकर सखियाँ उसके मनाभावों को समझ गईं ॥ १६ ॥

शशिप्रभाया. प्रश्न

साप्रहित्थमथेत्थ सा सखीजनमभापत ।

मुयानिष्यन्दजडया शरद्रिन्दुमुखी गिरा ॥ १७ ॥

शशिप्रभा का प्रश्न

उस चन्द्रमुखी शशिप्रभा ने सुधा बरसाने के कारण उस वक्त स्तब्ध अपनी वाणी से पुन साभिप्राय अपनी सखियों से कहा ॥ १७ ॥

अभेदमिन्दुना नीत साविध्य मीनकेतुना ।

सरय क सिधुरानोऽय साहसाङ्के निरूप्यते ॥ १८ ॥

हे सखियाँ ! जिससे चन्द्रमा कुछ भी भिन्न नहीं, तथा जो काम का सचिव है, और जिसे साहसाङ्क कहा जाता है, ऐसा यह कौन सिधुराज है, जिसके बारे में तुम सब वर्णन कर रही हो ॥ १८ ॥

किमेतन् अवतिष्ठच्च मौनं मुञ्चत शंसत ।

उन्मीलति यदन्तर्भे वलात्कौतुककन्दली ॥ १९ ॥

तुम लोग इस तरह क्यों मौन बँटी हुई हो ? चुप्पी छोड़ो, कुछ तो कहो !
मेरे हृदय में बरबस उत्सुकता का अंकुर प्रस्फुरित हो रहा है, जिसके कारण
मैं व्यथित हूँ ॥ १९ ॥

माल्यवत्या उत्तरम्

अथ माल्यवती नाम तत्सखी सिद्धकन्यका ।

इति स्मितमुधाद्रेण वचसा तामवोचत ॥ २० ॥

माल्यवती का उत्तर देना

तब उसकी सखी सिद्धराज की पुत्री माल्यवती ने हास्य रूपी अमृत से
आर्द्र वचन शशिप्रभा से कहे ॥ २० ॥

सखि ! साहसिकः सोऽयमवन्तितिलको नृपः ।

गीयते वेतकापाण्डु यस्योरगपुरे यशः ॥ २१ ॥

हे सखी ! अत्यन्त साहसी, वंश के समान पाण्डुवर्ण का वह
अवन्तिपति है, जिसका यश नागलोक में भी गाया जाता है ॥ २१ ॥

तं काश्यपिसहस्राक्षमद्राक्षमहमेकदा ।

गता श्रीमन्महाकालपर्वण्युज्जयिनी पुरीम् ॥ २२ ॥

एक बार जब मैं महाकालेश्वर के उत्सव में उज्जयिनी गई थी, तब
मैंने उस धरती के इन्द्र को देखा था ॥ २२ ॥

तन्वि तिग्मांशुनेव द्यौर्निशेव शशलक्ष्मणा ।

सा सनाथा पुरी तेन वज्रिणेवामरावती ॥ २३ ॥

जिस भाँति सूर्य से आकाश, चन्द्रमा से रात, इन्द्र से अमरावती सनाथ
होकर शोभा पाती है, उसी भाँति यह धरती भी नवसाहस्राक्ष से सुशोभित
हो रही है ॥ २३ ॥

रम्भा त्वयैव यत् सत्यं तेनाऽपि नलकूवरः ।

त्याजितो रूपजं गर्वमुर्वीमकरकेतुना ॥ २४ ॥

अरी सखी ! भूलोक के कामदेव उस राजा ने, जैसे तुमने रम्भा का
सौन्दर्याभिमान छुड़ाया, वैसे ही नलकूवर का सौन्दर्याभिमान भी चूर
कर दिया ॥ २४ ॥

अकलङ्काकृतेस्तस्य चतुःपष्टिकलावतः ।

तुलाधिरोहहैवाके कः पोटशकलः शशी ॥ २५ ॥

चौसठ कलाओं से परिपूर्ण निष्कलकावृत्ति वाले उस राजा की तुलना में भला सोल्ह कला वाला चन्द्रमा कैसे ठहर सकता है ॥ २५ ॥

तम्यावनिप्रदीपस्य ते ते नैसर्गिका गुणा ।

कथं नाम न प्रकाशते खेरिव मरीचय ॥ २६ ॥

सूर्य की किरणों के समान उस राजा के स्वामात्रिक गुण भला कहाँ कहाँ नहीं प्रकाशित होते हैं ! और कहाँ कहाँ नहीं प्रकाश फैलाते हैं ! सवन उसके गुणों की चर्चा है ॥ २६ ॥

न नागेषु न सिद्धेषु न नरेष्यमरेषु च ।

अवापि अवापि सवादस्तद्रूपोत्लेखरेखया ॥ २७ ॥

उसकी रूपरेखा का सादृश्य न तो नागा में है, न सिद्धों में, न देवताओं में और न मनुष्यों में ही पाया जाता है ॥ २७ ॥

न हि केनापि कृत्येन गा गत श्रूयते पुन ।

निह्वैतैरमुचद्वद्भो देव श्रीवत्मलाब्धन ॥ २८ ॥

लोगों में ऐसी चर्चा है कि अपनी दो भुजाओं को छिपा लेने से अब केवल दो भुजाओं वाला वह राजा साक्षात् विष्णु है, जो किसी कार्य से शरती पर आया है ॥ २८ ॥

किमन्यत्तव सत्पुष्ट्यै पश्य चित्रे लिखाम्यहम् ।

चिरस्य दीर्घनयने तवास्तु नयनोत्सव ॥ २९ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सन्तोष के लिए मैं यहाँ पर उसका चित्र बनाती हूँ । हे दीर्घ लोचनों वाली ! कुछ देर के लिए तुम्हारे आँखों की वृत्ति (मनो विनोद) तो ही ही जायगी ॥ २९ ॥

आकृतिलेखनम्

अथ सा सिद्धतनया त लिलेख शिलातले ।

इदि तूरगराजे द्रुहितुर्माकेतन ॥ ३० ॥

चित्र बनाना

एक और तो उस सिद्धराज कुमारी माल्यवती ने राजा का चित्र शिला-फलक पर अंकित करना प्रारम्भ किया, और दूसरी और काम ने उसे (राजा की) नागराज कुमारी शशिप्रभा के हृदय पर चित्रित कर दिया ॥ ३० ॥

तदालिखितभूपाल तथा चिन्वितकामदम् ।

चिन्तामणेरप्यधिक शिलातलममस्त सा ॥ ३१ ॥

जिस शिले पर माल्यवती ने राजा का चित्र बनाया था, शशिप्रभा ने उस शिला को मनोवाञ्छित फल देने वाले चिन्तामणि मन्त्र से भी अति प्रिय समझा ॥ ३१ ॥

ततश्चित्रगते तस्मिन् महीपाले मदालसाः ।

सममेवाहिकन्यानां पेतुर्नेत्रपरम्पराः ॥ ३२ ॥

तत्र वहाँ पर उपस्थित सभी नागकन्याओं ने एक साथ ही उस चित्र-
लिखित राजा को मदभरी नजर (मादक दृष्टि) से देखा ॥ ३२ ॥

पपौ शशिप्रभाप्येनं चिरमुत्पद्मलेखया ।

पुनरुक्तीकृतोन्निद्रकर्णेन्दीवरया दृशा ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा भी राजा के चित्रित रूप को अपनी अपलक नजर से एकटक
अधिक देर तक देखती रही । उस समय उसकी आँखों की शोभा पास ही कान
पर रखे विकसित कमल से और भी बढ़ गई ॥ ३३ ॥

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरी वाऽरविन्दस्य सुधासहचरं मधु ॥ ३४ ॥

उस चित्रलिखित राजा की रूपरशि का आस्वाद वह उसी तरह करने
लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृततुल्य मधुरस का आस्वाद करती है ॥ ३४ ॥

आनीयताकुलत्वं सा त्रितयेन तन्दरी ।

विस्मयेनातिसान्द्रेण मदेन मदनेन च ॥ ३५ ॥

उस कृशोदरी को उस समय इन तीनों ने बहुत व्याकुल कर दिया ।
१-अति विस्मय ने, २-काम ने और ३-मद ने ॥ ३५ ॥

विवेश हृदये तस्याः स चित्रलिखतो नृपः ।

शरत्प्रसन्ने सरितः प्रतिमेन्दुरिवाम्भसि ॥ ३६ ॥

शरद्कालीन स्वच्छ सरिता के जल में जिस भाँति चन्द्र का प्रतिविम्ब
प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति उसके हृदय में चित्रलिखित राजा प्रविष्ट
हो गया ॥ ३६ ॥

स्तनपत्रलतां तस्या विभेद पुलकोद्गमः ।

सत्यं यदन्तरङ्गोण वहिरंगो निरस्यते ॥ ३७ ॥

आनन्द के रोमाञ्चों से उसके स्तनों की शोभा बढ़ाने वाली पत्ररचना
अस्त-व्यस्त-सी हो गई । सत्य ही है कि अन्तर्गत वस्तु अपना स्थान जमाने
के लिए बाहर की वस्तु को हटा देती है ॥ =७ ॥

तस्याः कुचयुगे किञ्चिन्निःश्वासः कम्पमादधे ।

रथांगनाममिथुने सायन्तन इवानिलः ॥ ३८ ॥

सायंकालीन वायु के स्पर्श से (वियोग के कारण) भयभीत चकवा-
चकवी के हृदय-कंपन की भाँति शशिप्रभा के श्वासों ने भी उसका हृदय कंपा
दिया (दीर्घश्वास आने पर कुच काँपने लगे) ॥ ३८ ॥

तस्या स्वेदलपश्रेणिच्छदमना वदनश्रिया ।

निशतोऽन्तरनङ्गस्य लाजाञ्जलिरिवोक्षित ॥ ३६ ॥

ऐसा लगता था कि उसकी मुखधरी ने स्वेद बिन्दुओं के रहाने उसके हृदय मन्दिर में प्रवेश करते हुए कामदेव के स्वागत के लिए मानो लाजाञ्जलि बिलेर दी हो ॥ ३६ ॥

शङ्के शरमृजकुर्वन् ददरो ममथस्तया ।

यत् सा मृदु क्वणत्काञ्चिन्निङ्किणीकमकम्पत ॥ ४० ॥

मानो शशिप्रभा ने अपने पर कामदेव को बाणों के निशान लगाते हुए देख लिया हो, और उसी से वह कांपने लगी, जिसके कारण उसकी करधनी भी मुखरित हो उठी ॥ ४० ॥

एष दृष्टम्वयेत्युक्त्वा सरया सा माध्वसाकुला ।

गद्गदाक्षरमव्यक्तं कृच्छ्रात् प्रतिवचो ददौ ॥ ४१ ॥

हे नागराजकन्या ! तुमने देखा इस राजा को ! सखि के इस प्रकार पूछने पर उसने काँपनी हुई अर्थात् गद्गद वाणी से बड़ी कठिनाई से प्रत्युत्तर दिया ॥ ४१ ॥

चित्रप्रतियपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतमि ।

ग्रीहाधरलित चक्रे मुग्धेऽदुमप्रशौ स ॥ ४२ ॥

सखी के पूछने पर लाचार होकर लज्जा के कारण उसने राजा चित्रस्थित रहने पर भी शशिप्रभा के हृदय में उसके प्रति प्रेम निर्माण हुआ था, अतः बरबस उसका मुखचन्द्र लज्जा के कारण धवलवर्ण हो गया ॥ ४२ ॥

तथा सरयीभिस्साकृत सा बालाधरपल्लवे ।

दधौ वैलक्ष्यहसित प्रसूनमित्र माधवी ॥ ४३ ॥

सखियों ने जब उसे सामिप्राय देखा लिया अर्थात् उसके अमिप्राय को जब सखियाँ समझ गईं, तब उस बाला के किसलय तुल्य ओठ पर भी लज्जामिश्रित मधुर हँसी माधवी लता के फूल की भाँति शोभा पाने लगी ॥ ४३ ॥

नय प्रेम नयोल्लेखिता नयास्ते ते मनोरया ।

इति तस्यास्तयेनाभूदन्तरङ्ग परिच्छद ॥ ४४ ॥

उसी समय नया प्रेम, नई उत्कण्ठा, नये नये मनोरम उसके हृदय में उदित होने लगे । और उसके अन्तरंग सहचर हो गये ॥ ४४ ॥

किञ्चिन्नुपानुप्रिद्धेन पुण्डरीकदलत्विया ।

तमानर्चय राजेन्दुमनिमित्तस्मितेन सा ॥ ४५ ॥

उसने कुछ-कुछ लज्जा से मरी, बिना किसी कारण के अपनी हँसी से उस राजा की अर्चना की । मानो अर्धदिकसित कमल की कलियाँ उसपर अर्पित की हो ॥ ४५ ॥

सा च दोःशायितभुवा नृपेणाद्भ्यासिता हृदि ।

कृताङ्गभङ्गावलना झटित्यालस्यमायया ॥ ४६ ॥

(इसके पश्चात्) अपने मन में बाहु का तकिया बनाकर जमीन पर लेटे हुए राजा का ध्यान करती हुई वह देह तोड़ती हुई अर्थात् अँगड़ाती हुई शीघ्र ही आलस्य से युक्त हो गई ॥ ४६ ॥

तत्क्षणेनैव सा चित्रं तन्वी तन्मयतां ययौ ।

कं न प्रतारयत्येप कितवः कुसुमायुधः ॥ ३७ ॥

उसी समय फिर वह सुन्दरी राजा के ध्यान में पूर्ण रूप से मग्न हो गई । टोक ही है, यह धूर्त कामदेव भला किसे नहीं टगता ? अर्थात् सभी पर काम का प्रभाव पड़ जाता है ॥ ४७ ॥

स्तिमितेवावतस्थे सा सारङ्गायतलोचना ।

अचेतनेव जून्येव सुप्तेवालिखितेव च ॥ ४८ ॥

वह मृगनयनी अकम्मात् ऐसी हो गई, मानो या तो स्तब्ध हो, या चेतना शून्य हो गई हो, या सो गई हो अथवा चित्रलिखित सी हों गई हो ॥ ४८ ॥

स्मरेण मर्मणि कापि साऽविध्यत सुमध्यमा ।

अनिद्रितापि यन् साऽभून् क्षणं मुकुलितेक्षणा ॥ ४९ ॥

सुन्दर कटिभाग वाली उसका मर्मस्थल कहीं कामदेव ने वेध दिया था, इसलिये वह सोई भी नहीं थी, फिर भी उसकी आँखें बन्द हो गईं अर्थात् वह आँखें बन्द किये हुए पड़ी रही ॥ ४९ ॥

व्यञ्जितानङ्गलीलेन शृङ्गारसवन्धुना ।

तन्वी नवानुरागेण साऽन्यैव घटिताऽभवत् ॥ ५० ॥

ऐसे नवानुराग के कारण—जिससे काम सम्बन्धी हाव-भाव स्वभावतः प्रकट होने लगे थे और जो शृङ्गारस का सहायक था—वह तन्वी शशिप्रभा कुल्लु और सी दिखाई देने लगी ॥ ५० ॥

ऋजुनैक्षत यच्चित्रं यद्भूच्च त्रपावती ।

तेनातिगूढभावापि सा सखीभिरलक्ष्यत ॥ ५१ ॥

चित्र पर पूरी सरल दृष्टि डालकर फिर एकाएक जब वह लजा गई, तब मन के भावों को छिपाने पर भी उसकी सखियों ने उसके भावों को पहचान ही तो लिया । (उसके मन की बात वे जान गईं) ॥ ५१ ॥

अथानङ्गवती नाम सती तामित्यवोचत ।

दशनज्योत्स्नयाऽरण्यं मुधयेव निपिञ्चती ॥ ५२ ॥

फिर अमृत के समान आह्लाददायक अपने दाँतों की चाँदनी की श्वेत कान्ति से वन को सींचती हुई उसकी अन्गवती नामक सखी उससे बोली ॥ ५२ ॥

कच्चिदस्य प्रमोदाय कुमुदस्यैव चक्षुष ।
अथ मध्यमलोनेन्दु पातालेदुकले वप ॥ ५३ ॥

हे पाताललोक की चन्द्रकला ! क्या यह पृथ्वी का चंद्रमा (राजा)
कमलवत् तुम्हारे नयना को श्रानन्द दे सका ! ॥ ५३ ॥

उनानिलाह्वितोऽग्निद्रुपद्मनेसरशालिना ।

रोमोद्गम इयानेन वृ तस्त्वदवलोकनान् ॥ ५४ ॥

उन की वायु से उडाकर लाये गये कमल-कसर से युक्त (चित्र
लिखित) इस राजा ने मानो तुम्हें देखने मात्र से ही रोमोद्गम
धारण किया अर्थात् चित्रलिखित भी इसके देह पर तुम्हें देखकर रोमाञ्च
हो आये हैं ॥ ५४ ॥

अथन मफल चक्षुश्चित्रे यदत्रलोम्बित ।

कदर्पाधिकका तोऽयमत्रितिमृगलाञ्छन ॥ ५५ ॥

काम से सुन्दर आकृतिवाले, अर्थात् के उस राजचन्द्र को चित्र में देखकर
तो आज हमारे नेत्र भी सफल हो गये ॥ ५५ ॥

त्वामप्यरञ्चिता मन्त्रे यत्त्वयैतन्म्य रक्षसि ।

एते सन्निभ्रम न्यम्ते दृशौ मुक्कालते इव ॥ ५६ ॥

तुम भी तो घाय हो गयी हो, क्योंकि तुमने भी तो इस राजा के वक्ष म्यल
पर जब अपनी मदभरी दृष्टि डाली तो मालूम पडा, मानो उसके वक्ष म्यल पर
मोतियों की माला चढा दी हो ॥ ५६ ॥

नितमेतेन कोऽप्येप सत्य कामोऽस्य किङ्कर ।

आरोहति परा कोटिमत्र यन् तव सम्भ्रम ॥ ५७ ॥

निश्चित ही देखने य कश्चित् काम को जीत लिया है । कामदेव इसका भय है
क्योंकि तुम्हारा इसके प्रति प्रेमऔरसुक्य अपनी चरम कोटि पर जा रहा है ।

त्वमत्र भावेव किमिलन्दमुग्धि लज्जमे ।

विप्रद्वयत्यहृहृष्यानि म्मरदुर्ललितानि क ॥ ५८ ॥

हे चन्द्रमुखी ! इस राजा के प्रति आसक्त हुए की तरह लज्जा क्यों रही
हो ? ठीक ही है । अल्लहनीय काम की आज्ञा का उल्लङ्घन कौन कर सकता
है ? ॥ ५८ ॥

कोऽन्य सखि नृशसोऽस्ति काम त्रिपमयाणत ।

सुकुमारो तयाप्यङ्गो येन व्यापारित शर ॥ ५९ ॥

हे सखि ! काम के अतिरिक्त कौन इतना क्रूर हो सकता है, जिसने अपने
बाणों को तुम्हारे कोमल भी अंगों पर छोड़ा ॥ ५९ ॥

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।

अधुना हृदयेऽप्येव मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥ ६० ॥

हे मृगनयनी ! पहले तो राग (लालिमा) तुम्हारे विम्बाधर पर ही दिखाई देता था, पर अब तो हृदय में भी दिखाई देने लगा है ॥ ६० ॥

एकेन राजहंसेन हृतो हारगतनृदरि ।

अनेन तु द्वितीयेन लिखितेनापि ते मनः ॥ ६१ ॥

हे कृशोदरी ! एक राजहंस ने तो तुम्हारा हार चुराया और इस दूसरे राजहंस (राजा ने) ने चित्रलिखित होने पर भी तुम्हारा मन चुरा लिया ॥ ६१ ॥

कुतस्त्रपा तवालीपु किञ्चिदुन्नमयाननम् ।

अहो वत त्वमेतस्मिन्नत्यायतकुतूहला ॥ ६२ ॥

हे शशिप्रभा ! जरा मुख ऊपर तो उठाओ । अरे, अपनी सहेलियों से लज्जा कैसी ! मालूम होता है, तुम इस राजा के प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित हो गई हो ॥ ६२ ॥

एतत्कर्णोत्पलं लोलमपाङ्गप्रतिवेशितं ।

त्वदुदन्तमिवेतस्य कथयत्यलिकूजितैः ॥ ६३ ॥

यह तुम्हारी आँख के कोनों (फटानों) तक आया कनफूल अति चञ्चल हुआ-सा भ्रमरों के कलकूजन द्वारा तुम्हारे सारे वृत्तान्त को मानो-इसे बतता रहा है ॥ ६३ ॥

अहो दूरस्थितेनापि हृदि स्पृष्टा नृपेन्दुना ।

इन्दुकान्तशिलेव त्वमार्द्रतामवगाहसे ॥ ६४ ॥

दूर स्थित होने पर भी उस नृपचन्द्र ने चन्द्रकान्त मणि के समान तुम्हारे हृदय को स्पर्श कर दिया । तुम भी चन्द्रकान्त मणि की भाँति ही चन्द्र के समान उस राजा के स्पर्श का अनुभव करके पिघल-सी रही हो । ॥ ६४ ॥

निपुणे ! निःश्वसिष्येवमतिगूढं यथा यथा ।

तथा तथा तव व्यक्तमयमुन्ध्वसति स्मरः ॥ ६५ ॥

हे चतुर ! तुम जितनी ही दवा कर श्वास ले रही हो, उतने ही अधिक रूप में तुम्हारी कामासक्तता प्रकट होती जा रही है ॥ ६५ ॥

स्मितमेतदलोलाक्षि लज्जासंवलितं तव ।

इदं निर्जितवात्यस्य यौवनस्योदितं यशः ॥ ६६ ॥

हे अपलक नेत्रवाली ! लज्जा से युक्त तुम्हारा यह मुसकाना ऐसा जान पड़ रहा है, मानो बाल्यकाल को जीतकर मुस्कराहट के रूप में यौवन अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ ६६ ॥

यथा तवेयमरतिर्यथा मुतनु वेपसे ।

तथा कवचितः शंके निःशंकं मदनस्त्वयि ॥ ६७ ॥

हे सुन्दरि ! जैसे तुम उदास सी दिखाई दे रही हो, और जिस भाँति तुम काँप सी रही हो, उससे तो यही शका हो रही है कि तुम्हारे मन में निश्चित ही कामदेव विराजमान हैं ॥ ६७ ॥

किमत्र करवे गाढमाकल्पकमिदं तत्र ।

इयं च मन्मथस्यास्त्र निर्गता चूनमञ्जरी ॥ ६८ ॥

बताओ, अब हम क्या करें ? तुम्हारा विचार तो उड़ा विफ्ट है, और (इधर देखो) काम का अस्त्र यह आम्रमञ्जरी (नीर) भी निकल आयी है ॥ ६८ ॥

सुरतमला तरागरीकवरीमात्यचुम्बिन ।

कथमेते त्वया तन्वि सहा मलययायत्र ॥ ६९ ॥

हे दुर्बल ! रतिक्रीडा में यकी हुई मिल्लिनियों की धेणियों में वैवा मालाओं का चुम्बन करने वाले (स्पर्श करने वाले) इन मलयाचल की वायुओं का स्पर्श तुम कैसे सह सकोगी ? ॥ ६९ ॥

किं ताम्यसि तयोपान्तमानयाम्यधुनेत्र तम् ।

इत्याश्रासयतीत्र त्वा कोन्लितोऽयं कलस्वन ॥ ७० ॥

कोयल की यह ध्वनि “क्यों परेशान हो रही हो, उसका (तुम्हारे प्रिय को) मैं तुम्हारे पास अभी बुला देती हूँ ” इस तरह तुम्हें आश्वासन सी दे रही है । (दाढस ँधा रही है) ॥ ७० ॥

फूजन्ती कोक्लिन्नधुरियमाधि धुनोति ते ।

अनगनृपमाम्राज्यलीलामगलगायिनी ॥ ७१ ॥

कामदेव के साम्राज्य में कामलोला के समय भगलगीत गाने वाली बूजती हुई यह कोयल तुम्हारी पीडा को मानो दूर सी कर रही है ॥ ७१ ॥

वनान्तदेवतावाप्तपादन्यामोऽस्य स्फुटम् ।

एष स्तत्रन्तितोऽशोक मुहून् कामस्य का गति ॥ ७२ ॥

वनदेवता के पैरों का प्रसाद पाकर आनन्द से पुष्पगुच्छों का धारण करने वाला यह अशोक कभी स्पष्ट रूप से काम का मित्र बना गया है । (ऐसे समय में) बताओ, तुम्हारा क्या हाल होगा ? ॥ ७२ ॥

अत्रोर्वीतिलके दृष्टिमस्यर्तो तिलकं क्रुधा ।

अयं तर्जयतीत्र त्वा वार्ताधूतलताङ्गुलि ॥ ७३ ॥

यह वायुप्रेग से कम्पमान तिलकवृक्ष स्तारूपी अंगुली दिखाकर, राजा की ओर दृष्टि डालने वाली तुम्हें मानो क्रोध से धिक्कार रहा है ॥ ७३ ॥

पथि स्मरस्य विपमे स्त्रलितायामितस्त्वयि ।

स्मितच्छदेव निर्याति सिन्दुवारस्य मञ्जरी ॥ ७४ ॥

काम के मार्ग पर चलती हुई तुम्हें इधर-उधर भटकती हुई देखकर, यह सिन्धुवृक्ष की मञ्जरी भी हँसती हुई-सी निकल रही है ॥ ७४ ॥

द्राघयत्यस्तविम्बोष्ठरुचिनिःश्वसितानि ते ।

अयं मुकुलितः किञ्चिद्भकुलो मुकुलस्तनि ॥ ७५ ॥

हे कलि के समान स्तनवाली ! यह पुष्पित मौलसरी का वृक्ष मुरभाये हुए ओठों से निकलने वाले तुम्हारे दीर्घ श्वासों को कुल्ल-कुल्ल (अपनी वायु द्वारा) बढ़ा सा रहा है ॥ ७५ ॥

लतया कर्णिकारस्य पुरः पुष्पितयाऽनया ।

अनङ्गस्यैकराज्येऽस्मिन् हेमवेत्रलतायितम् ॥ ७६ ॥

यह पोले कण्डेल की लता, जो कि सामने ही पुष्पित दिखाई दे रही है, वह इस काम के राज्य में सोने की वेत्रलता का काम कर रही है ॥ ७६ ॥

अहो न कस्य भिन्दन्ति हृदयं वीक्षिता अपि ।

निसर्गमृदवोऽप्यंते सहकारनवाङ्कुराः ॥ ७७ ॥

भला बताओ, स्वभाव से ही कोमल रहने पर भी ये आम्रवृक्ष से निकलने वाले नये अंकुर (अंखुवे) देखने पर किसके हृदय को विदीर्ण न कर देंगे ? ॥ ७७ ॥

चतुरां कोकिलामेप कृत्वा कुरवको मुखे ।

दुर्लभं याचतीव त्वां लीलालिङ्गनदोहदम् ॥ ७८ ॥

यह कुरवक वृक्ष चतुर कोकिला को अगुवा बनाकर उसके द्वारा अत्यन्त दुर्लभ आलिङ्गन की तुमसे प्रार्थना कर रहा है ॥ ७८ ॥

अशोकस्कन्वलाग्नेयं कुसुमैर्नवमाधवी ।

प्रार्थनीयप्रियस्पर्शी हसति त्वामिवोत्सुकाम् ॥ ७९ ॥

अशोक के गले लगी हुई, यह फूलों से लदी हुई माधवी लता, प्रिय के स्पर्श की कामना करने वाली, उत्सुक बनी हुई तुम्हारी हँसी-सी उड़ा रही है । ॥ ७९ ॥

विमर्श—वह माधवी लता मजाक कर रही है कि जैसे मैं प्रिय से मिली हूँ, क्या तुम भी ऐसे ही मिल सकोगी ॥ ७९ ॥

भूपतावनुरक्तायास्तव सन्तापदीपनम् ।

स्थलारविन्दं सेष्यैव सूते सखि वसुन्धरा ॥ ८० ॥

राजा (नवसाहसांक) के प्रति आसक्त मनवाली तुम्हारे (काम) सन्ताप को बढ़ाने वाले कमलों को धरती भी तुमसे मानो ईर्ष्या के कारण विकसित करने लगी है ॥ ८० ॥

अभिष्वङ्कस्थकन्दर्पजगद्विजयसिद्धिषु ।

दृष्टिस्त्रिजते तन्वि पाटलाकुट्टमलेषु ते ॥ ८१ ॥

हे सुन्दरी ! कामदेव को अपनी गोद में रखने वाली और तब समस्त सगर को जीतने की सिद्धि प्राप्त करने वाली ये पाटला की कलियाँ तुम्हारी, दृष्टि को और भी व्याकुल बना रही हैं । अर्थात् इन्हें देखकर तुम्हें कामोदीपक रहने से अधिक पीडा हो रही होगी ॥ ८१ ॥

सुन्दरि द्वितयस्यात्र ऋशिमा भूपणायते ।

राज्यावद्धभावायास्तत्र रात्रेश्च सम्प्रति ॥ ८२ ॥

हे सुन्दरी ! (इतने पर भी) आज दोनों की वृशता एक दिव्य रूप धारण कर रही है अर्थात् बहुत शोभायमान हो रही है । एक तो राजा में अनुरक्त तुम्हारी, और तदनन्तर रात की ॥ ८२ ॥

एष चैत्रोत्सवश्चित्रे नृपोऽथ नूतन वय ।

प्राप्तानकाश कामोऽपि पतितास्यतिसकटे ॥ ८३ ॥

हे सुन्दरी ! एक तो चैत्र का महीना अर्थात् वसन्तऋतु है । दूसरे यह चित्र लिखित राजा सामने है । तुम्हारी उम्र भी नयी है । राजा अत्यन्त सुन्दर होने के कारण रमण करने योग्य है । ऐसे समय काम की मी अवसर मिल गया है । इसीलिए अब तुम षड् सकट में पड़ गई हो ॥ ८३ ॥

किमालिगितरत्येषा चित्रे माल्यवती नृपम् ।

द्वारीदृतेयमथवा वामेन त्रिधिना तत्र ॥ ८४ ॥

इस माल्यवती ने राजा का यह चित्र क्या बनाया, मालूम होता है तुम्हारे दुर्भाग्य ने ही इसे (माल्यवती को) इस प्रकार का (चित्र बना कर तुम्हें कष्ट देने के लिये) साधन बनाया ॥ ८४ ॥

यहुना किं चमोराक्षि ! छलितासि मनोभुवा ।

सर्पथा ते करिष्यति कुशल कुलदेयता ॥ ८५ ॥

हे चकोर के समान नेत्रों वाली ! अधिक क्या कहूँ, अब तो कामदेव ने तुम्हें छल ही लिया है । अब तो कुलदेवता ही तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ८५ ॥

इत्यादि व्याहरन्ती सा कृन्मभूभङ्गया तथा ।

नरेन्द्रगणपुङ्गवेन कुचे त्रिञ्चिन्तुद्यत ॥ ८६ ॥

कृत्रिम क्रोध से भीहें चढाकर शशिप्रभा ने उक्त रूप से ताने दे देकर बोलने वाली उस सखि के स्तनों पर राजा के उसी (पूर्वोक्त) बाण के अगल भाग को कुछ चुमो दिया ॥ ८६ ॥

कलावतीरचनम्

अथ किन्नरराजेन्द्रकन्या नाम्ना कलावती ।

एव वच सितसुधानिषिक्ताक्षरमाददे ॥ ८७ ॥

कलावती का वचन

इसके पश्चात् किन्नरराज की पुत्री कलावती नामक सखी अमृत के समान मधुर हँसी से सिक्त मधुर वचन बोली ॥ ८७ ॥

कामं दुर्लभमेवैतच्चैत्रश्चन्द्राङ्किता निशा ।

प्रेयान्विपञ्चीरणितं पञ्चवाणाङ्कितं वय ॥ ८८ ॥

चैत का सुहावना महीना, चांदनी रात, वीणा की भंकार और काम पीड़ित नई आयु—ये सब बातें एक साथ बड़ी कठिनता से मिलती हैं ॥ ८८ ॥

अथि त्वां ग्लापयत्येप कालः कमललोचने ।

जगदाह्लादजनकः सुधासूतिरिवाञ्जिनीम् ॥ ८९ ॥

हे कमलनयनी ! जगत को प्रसन्न करने वाला चन्द्रमा जैसे कमलिनी को पीड़ित करता है अर्थात् चन्द्रोदय होते ही सारा संसार तो आनन्दित हो उठता है, पर कमलिनी कुम्हलाने लगती है, उसी तरह सकल जनानन्दकारी यह वसन्त का समय (कामपीडा के आधिक्य होने से) तुम्हें म्लान कर रहा है ॥ ८९ ॥

स्थाने तवानुरागोऽयमनङ्गस्यायमुत्सवः ।

सखि स्निह्यति निर्व्याजमिन्दावेव कुमद्वती ॥ ९० ॥

तुम्हारा यह कामानुराग उचित ही है । अर्थात् कामोद्दीपक समय होने के कारण और अति सुन्दर नायक होने से यह काम के उत्सव का समय है । हे सखी ! कुमुदिनी चन्द्र से स्नेह करती है तो यह उचित ही है ॥ ९० ॥

नृपस्यारण्यसञ्चारः शरेणानेन सूच्यते ।

मरुता द्विरदस्येव मदनिष्यन्दगन्धिना ॥ ९१ ॥

मद की सुगंध से युक्त वायु के चलने पर जिस भाँति वन में मदोन्मत्त हाथी के विचरण का अनुमान होता है, उसी भाँति इस वाण की प्राप्ति से यह अनुमान होता है कि वह राजा अवश्य इस वन में संचार कर रहा होगा ॥ ९१ ॥

अवश्यं तन्वि चिन्वाना वने हंसमितस्ततः ।

क्वचिद्विलोकयिष्यन्ति तं त्वत्परिजनस्त्रियः ॥ ९२ ॥

हे सुन्दरी ! वन में हंस को हूँदने के लिये गई हुई तुम्हारी दासियाँ अवश्य ही कहीं न कहीं उसे देखेंगी ही ॥ ९२ ॥

ज्ञातत्वदिङ्गितैवात्र तं चेद्द्रुच्यति पाटला ।

ततोऽस्य पट्पदस्येव वलाच्चेतो हरिष्यति ॥ ९३ ॥

तुम्हारे अभिप्रायों को जाननेवाली पाटला कहीं उसे देख पाएगी तो भ्रमर की भाँति अवश्य ही उसके चित्त का हरण कर लेगी ॥ ९३ ॥

स्थिरा भव नृपेण त्वामिह सयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुःखतेन शकुन्तला ॥ ६४ ॥

तुम निश्चित रहो । जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला का मिलन दुष्प्रन्त के साथ हुआ था, उसी भाँति इस राजा से तुम्हारा मिलन भी अक्षय होगा ॥ ६४ ॥

इति तद्वचस सीम्नि मसणोत्कम्पितस्तनी ।

व्याजसाचीमृतमुख निश्रयास शशिप्रभा ॥ ६५ ॥

अपनी सखी के इस प्रकार के वचनों की समाप्ति पर मधुर भाव से कम्पित कुचवाली शशिप्रभा ने किसी बहाने से ही जरा सा मुँह घुमाकर एक दीर्घ श्वास लिया ।

विमर्श—कामाकुल दशा का एक परिचायक दीर्घ श्वास लेना भी है । पर उसके सामने ऐसी श्वास लेना ठीक नहीं प्रतीत होता, इसलिये राजकुमारी ने किसी बहाने मुख को जरा टेढ़ा घुमाकर दीर्घ श्वास लिया ॥ ६५ ॥

वनश्रीरत्नमञ्जीरो लताबुञ्जोदरे तत ।

चुञ्ज मञ्जुकण्ठस्ता दक्षिणेन कपिञ्जल ॥ ६६ ॥

इसी समय वनदेवता के रत्नमञ्जीरों की सी ध्वनि करने वाला लताकुञ्ज में पैठा हुआ कपिञ्जल (पत्नी) दाहिनी ओर से मधुर कण्ठ से बूजने लगा ॥ ६६ ॥

इर्पाश्रलवकीर्णेन सत्पत्रात्रलिचारुणा ।

धामेन पस्फुरे तस्याश्चक्षुपा च म्त्नेन च ॥ ६७ ॥

तत्र वारिन्नि दुओ से युक्त कमल की भाँति शशिप्रभा के नेत्र भी हर्ष के कारण जलविन्दुओं से (आँसुओं से) भर गये । और साथ ही साथ उसका आँसु नेत्र और आँसु कुच पड़कने लगा

विमर्श—रिपयों का बाया त्रग पड़कना शुभ माना जाता है ॥ ६७ ॥

अत्रातरे समायाती ददृशे दूरतन्तया ।

नरेद्रसवितुस्तस्य पुर सन्ध्येव पाटला ॥

इसी बीच सूर्योदय के पूर्व जैसे उषा आती है, और उसके पीछे पीछे सूर्य आता है, वैसे ही राजा के आगे आगे चलने वाली पाटला को नागराज-पुत्री शशिप्रभा ने देखा ।

विमर्श—स ध्या का अर्थ यहाँ पर दो कालों के मिलने से है, जो प्रभात का सूचक है ॥ ६८ ॥

तस्यास्त्रये च त्रितयमपश्यत्कणिकयका ।

मुखे स्मित करे द्वार सितमसे च चामरम् ॥ ६९ ॥

फिर शशप्रभा ने पाटला के मुख पर हास्य, हाथ में हार और कन्धे पर चेंबर, इन तीनों वस्तुओं को देख उसे पहचान लिया ॥ ६६ ॥

सा हारहस्ता रुरुचे धृतस्तिमितचामरा ।

सरसी सुप्तहंसेव फेनाध्यासितपङ्कजा ॥ १०० ॥

चामर को कन्धे पर धारण करने वाली और हार को हाथ में धारण करने वाली पाटला ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सोये हुए हंसों वाली ओर कमलों को अपने फेन से ढँकने वाली कोई छोटी तलैया हो ॥ १०० ॥

दृष्टिः फणीन्द्रदुहितुरतिक्रम्यैव पाटलाम् ।

भृंगश्रेणिरिवाशोके पपातावनिभर्तरि ॥ १०१ ॥

पाटला पर से हटकर उस राजपुत्री की दृष्टि राजा के ऊपर उठी तरह जा पड़ी, जैसे अशोक के वृक्ष पर भ्रमरों की पंक्ति जाती है ॥ १०१ ॥

प्रियं नः सोऽयमायाति पश्य पश्य शशिप्रभे ।

परमारान्वयोदारहारमध्यमणिर्नृपः ॥ १०२ ॥

देख ! देख ! शशिप्रभे हमारा अभीष्ट प्रिय यह राजा चला आ रहा है । यह परमार वंश में उत्पन्न हुआ है । परमारवंश ही मानो एक श्रेष्ठ हार है, उसमें यह मेरुमणि की तरह शोभायमान है ॥ १०२ ॥

'सान्दानितकम्

इति प्रियसखीसूक्तिमुधानिप्यन्द्र लेखया ।

सिक्ते तदाभवत्तस्या म्मरः पल्लवितो हृदि ॥ १०३ ॥

सान्दानितकम्

प्रिय सखियों की इस प्रकार की अमृत के समान मधुर वाणी द्वारा सींचे जाने पर उनके हृदय में स्थित कामदेव पल्लवित हो उठा ॥ १०३ ॥

नुधारस इवोर्वाभृत्त्या सम्मुखमापतन् ।

दशा स्फटिकशुक्यैव वारंवारमपीयत् ॥ १०४ ॥

राजा जब उसके समीप आ गया तो वह अपनी स्फटिक की सीपियों की विस्तृत आँखों से उसे बार-बार इस तरह देखने लगी, मानो अमृतरस-पान कर रही हो ॥ १०४ ॥

वितेनेऽप्यहिकन्याभिः कौतुकेनातनीयसा ।

तस्याग्रं राजहंसस्य नेत्रेन्दीवरवागुश ॥ १०५ ॥

नागकन्याओं ने भी अत्यधिक कौतूहल से उस राजहंस के सामने अपने कमल के समान नेत्रों का जाल सा बिछा दिया । अर्थात् सभी नागकन्याएँ उसे बड़े चाव से एक साथ देखने लगीं ॥ १०५ ॥

१—सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते—अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है ।

२—'वागुरा मृगबन्धनी'—अमरकोश ।

अवतितिलकोदन्तमुपसृत्याथ पाटला ।

अनङ्गदीपन तस्यै जगादेङ्गितप्रेदिनी ॥ १०६ ॥

शशिप्रभा के इङ्गितों को जाननेवाली पाटला ने नागराजपुत्री शशिप्रभा के पास जाकर राजा के बारे में सारा हाल उससे कहा, जिससे उसका प्रेमभाव राजा के प्रति और भी बढ़ गया ॥ १०६ ॥

देव पञ्चात्स्थितोऽप्यग्रे प्राप्त पर्युत्सुको भवान् ।

इत्यभाष्यत भूपालश्चित्रे चतुरया तथा ॥ १०७ ॥

उस चतुर पाटला ने राजा के चित्र को देखकर कहा, हे देव ! मेरे पीछे रहने पर भी बड़े उत्कण्ठित होकर आप मुझसे पहले ही यहाँ आ गये ॥ १०७ ॥

अभून् पर्याकुला सा च मुहूर्तमसितेक्षणा ।

पञ्चादलज्जतालीभिस्तथा सस्मितमीक्षिता ॥ १०८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली वह थोड़ी देर बड़ी चकित सी होकर पुन पुन एकटक राजा को देखने लगी । और जब सन्धियों ने उसे हँसत हुए उस हालत में देख लिया, तब वह रुजा गयी ॥ १०८ ॥

तस्यै द्वार महीभर्तुरर्पयामास पाटला ।

आष्टय्य मूर्तमानीतमतिशुद्धमिवाशयम् ॥ १०९ ॥

राजा के पास से द्वार को आचर पाटला ने शशिप्रभा को दे दिया । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे उसने राजा के हृदय के मूर्तिमान् शुद्ध भाव को ही शशिप्रभा को हस्तांतरित किया हो ॥ १०९ ॥

सखीनामनुरोवेन सा किलानङ्गमोहिता ।

हृदि दीर्घगुण दध्ने हार प्रियमित्रापरम् ॥ ११० ॥

सखियों के आग्रह करने पर काममोहिता शशिप्रभा ने उस दीर्घ सखीवाले हार को प्रिय के समान ही वक्षस्थल पर धारण किया अर्थात् अपने प्रिय का ध्यान जिस तरह हृदय में किया जाता है, उसी तरह उस हार को हृदय पर धारण किया ॥ ११० ॥

तुषारपाण्डुना तेन ववृधेऽस्या मनोभय ।

दिगन्तरातज्योत्स्नेन महोदधिरिवेदुना ॥ १११ ॥

चारों ओर काँति (ज्योत्स्ना) का विस्तार करने वाले चन्द्रमा के कारण जिस भाँति समुद्र का जल बढ़ जाता है, उसी भाँति चन्द्रमा की काँति के समान उज्ज्वल वर्ण वाले हार को धारण करने के कारण शशिप्रभा की काम-भावना भी बढ़ने लगी ।

विमर्श— पूर्णचंद्र को देखकर समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, यह बात लोकविश्रुत है । हार को देख कर, जो अभी अभी प्रियकर के हाथ से उसे मिला था, शशिप्रभा के हृदय का कामोद्रेक भी बढ़ा ॥ १११ ॥

पुष्पोद्गमेनेव लता प्रसादेनेव भारती ।

सा तेन रेजे हारेण यशसेव नरेन्द्रता ॥ ११२ ॥

फूल खिलने से लता, प्रसाद गुण से वाणी और यश से राजत्व जैसे शोभायमान होता है, उसी तरह उस हार को धारण करने से शशिप्रभा ने भी वैसी ही शोभा धारण की ॥ ११२ ॥

ततश्शिशिलपर्यस्तविलोलकवरीलता ।

केतुयष्टिरिव श्यामपताकाङ्गा हिरण्मयी ॥ ११३ ॥

बँधी न होने से व्यस्त बेणी रूपी ध्वजा की यष्टि (छड़ी) के समान दुबली, अङ्ग पर श्यामचिह्न धारण करने वाली सोने के रंगवाली ।

विमर्श—शशिप्रभा के चाल खुले थे, वह फड़फड़ा रहे थे । उससे भंडे की छटा दीख रही थी । इधर उसके शरीर में वह हार होने से पताका का रंग श्याम अर्थात् हरा-धूपछा-सा था । वह सोने की केतुयष्टि चिह्नध्वज की तरह मालूम पड़ रही थी ॥ ११३ ॥

वसंतकमलोल्लासिमत्तभ्रमरनिःस्वना ।

दीयमानोपदेशेव स्वरहस्ये मनोभुवा ॥ ११४ ॥

वसन्त काल में विकसित कमलौ पर बैठकर फलोल करने वाले अतएव मत्त भौरों की गुंजार के समान उसके मधुर शब्द थे । ऐसा लग रहा था, जैसे कामदेव उसे अपना रहस्य समझा रहा हो ॥ ११४ ॥

उल्लसत्कुटजाच्छाच्छविलासहसितच्छविः ।

झटित्युदधिवेलेव निर्गच्छदमृतच्छटा ॥ ११५ ॥

उसके मुखपर विकसित कुटज पुष्पों के समान मधुर हास्य खेल रहा था । वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे समुद्र की वह वेला हो, जिसके आसपास चन्द्रमा का उदय होने से अमृतमय वातावरण हो गया हो ॥ ११५ ॥

सरोजिनीव हंसीभिर्भृङ्गीभिरिव मालती ।

शशिलेखेव ताराभिस्सखीभिरभितो वृता ॥ ११६ ॥

हंसियों से सरोजिनी (कमलिनी) की भाँति, भ्रमरों से मालती लता की भाँति, ताराओं से युक्त चन्द्रकला की भाँति वह सखियों से चारों ओर से घिरी थी ॥ ११६ ॥

कुलक

दृष्ट्वा नरेन्द्रमायान्तमुदस्थादुत्सुकाऽथ सा ।

दधती नूतनप्रेमपरिणीतामधीरताम् ॥ ११७ ॥

कुलकम

नवीन प्रेम के कारण अधीरता को धारण करनेवाली शशिप्रभा उत्सुक होती हुई राजा को आता हुआ जानकर सहसा उठ खड़ी हुई ॥ ११७ ॥

अथ सुतनुरलोलतारके सा मुचिरमुदञ्चितदीर्घपद्ममाले ।

शशिनइव नरोद्गतस्य दूरात् अबनिपते पथि लोचने मुमोच ॥ ११८ ॥

उस सुन्दरी शशिप्रभा ने ऊपर को पलक उठाये हुए लोचनों से दूर तक राजा के मार्ग को एकटक देखा । राजा की शोभा ऐसी थी, जैसे अमी अमी उदित चन्द्रमा हो ॥ ११८ ॥

आस नानुचरधृतेन पङ्कजिन्या पत्रेण स्फुटघटितातपत्रलील ।

सच्छायामथ सहसा हसन्दिमारो द्दमापाल पुलिनमवाप नर्मदाया ॥ ११९ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहस्रां-
कचरिते महाकाव्ये शशिप्रमादर्शन नाम षष्ठ सर्ग ॥ ६ ॥

समीपवर्ती अनुचर (रमागद) के हाथ से पकड़े हुए कमलिनी के पत्ते की छाया मर्म, जो छाते का काम कर रहा था, चलता हुआ चन्द्र के स्तेज से भी अधिक कान्तिमान् वह राजा तब नर्मदा के तट पर पहुँचा ॥ ११९ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित 'नवसाहस्रांकचरित'

महाकाव्य का शशिप्रभा-दर्शन नामक छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः सर्गः

शशिप्रभादर्शनम्

ततः स दूराद्दहिराजकन्यकां जवैकमित्रेण युतां पतत्रिणा ।
विशाम्पतिर्दीर्घगुणानुपद्भिणीम् अनङ्गकोदण्डलतामिवैक्षत ॥ १ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

तब राजा ने दूर से ही, दीर्घ गुणवाली काम के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान उस नागराजकन्या (शशिप्रभा) को देखा । उसके हाथ में एक तेज गतिवाला बाण भी था ॥ १ ॥

उपोढलावण्यतरङ्गभङ्गया सरागविम्ब्रोष्ठगलत्प्रवालया ।

अहारि लोलं नृपतेस्तया वलात् अनङ्गरत्नाकरवेलया मनः ॥ २ ॥

वह सौंदर्य की भाव-भङ्गियों से युक्त थी । विम्बफल और मृगे के पत्ते के समान रक्तवर्ण के उसके अधर थे ! कामरूपी सागर की विला के समान उसने बरबस राजा के चञ्चल मन को हर लिया ॥ २ ॥

रमाङ्गदकृतं शशिप्रभावर्णनम्

सविस्मयो लोचनमार्गमाप्तया तथा स पातालतलेन्दुलेखया ।

अथेत्थमन्तानमनोरथोद्गमो रमाङ्गदेनाभिदधे नराधिपः ॥ ३ ॥

रमाङ्गद द्वारा शशिप्रभा का वर्णन

पाताललोक की चन्द्रकलास्वरूप उस राजपुत्री को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ । वह उसको प्राप्त करने के मनसूझे बांधने लगा । ऐसे उस राजा को रमाङ्गद ने कहा ॥ ३ ॥

अवैमि सैवैयममोघमायुधं मनोभुवः पन्नगराजकन्यका ।

उदंशुलेखेन मुखेन कुर्वती जगत् विलीनेन्दुविलोकनरपृहम् ॥ ४ ॥

मालूम होता है कि कामदेव का अमोघ अस्त्र बनी हुई नागराजकन्या शशिप्रभा यही है । जिसके मुखचन्द्र से सौंदर्य की किरणें निरन्तर निकल रही हैं । वस्तुतः यह प्राणिमात्र को चन्द्र के प्रति उदासीन बनाया करती है ।

विमर्शा—अर्थात् नागराजकन्या ने अपने सौंदर्य से चन्द्र को भी हतप्रभ बना दिया है । लोग उसकी तरफ देखकर ही चन्द्रमा का काम चला लेते हैं ॥ ४ ॥

नरेन्द्र सत्य स कुतूहली भवेद् अलौकिक रूपमवेक्षितु रते ।

इय न यस्यातिथिता गता दृशोरगाधलावण्यसरिन् मुमध्यमा ॥ ५ ॥

हे नरेन्द्र ! वास्तव में वही व्यक्ति रति (कामपति) के अलौकिक रूप को देखने के लिये उत्सुक बना रहेगा, जिसने इस कृशोदरी के सौंदर्य की सरिता को न देखा होगा । अर्थात् इसका सौंदर्य रति से भी बढ़कर है ॥ ५ ॥

इय सुधा मुग्धत्रिलासजन्मभूरिय भुजङ्गालयरत्नदीपिका ।

इय जगनेत्रचकोरचन्द्रिका पुर पताकेयमयुग्मपत्रिण ॥ ६ ॥

यह वह सुधा है, जो कि मोहक हावभावों की जननी है, यह रत्नदीपिका है, जो नागलोक को प्रकाशित किया करती है । यह वस्तुतः वह चाँदनी है, जो ससार के नेत्ररूपी चकोरों को तृप्त करती है । यह काम की अग्रपताका है ।

विमर्श—‘अयुग्मपत्रिण’—अयुग्म अर्थात् विपम है ‘पत्री’ याने बाण जिसका, ऐसा कामदेव ॥ ६ ॥

इयत्तया मुक्तमवैमि नैपुण्य प्रजापतेरद्भुतशिल्पकर्मणि ।

नृपोपमानामुपमानता गत विनिमित्त येन ही रत्नमोदशम् ॥ ७ ॥

यह सभी उपमानों की भी उपमान है, (अर्थात् इससे बढ़कर कोई नहीं) ऐसे इस लोकोत्तर रत्न को विधाता ने बनाया है । इससे मालूम पड़ता है कि यह अब निर्माण पाटव की सीमा से मुक्त हो गया है ॥ ७ ॥

इय तयानेन विराजतेतराम् करस्थितेनाप्रनिपालपत्रिणा ।

उपेयुषा काञ्चनपद्ममशुना द्विमेतराशोरि जह्नुकन्यका ॥ ८ ॥

हाथ में तुम्हारे बाण को धारण करने वाली यह अत्यधिक शोभा शालिनी हो रही है । स्वर्ण कमलों के पास थिरकने वाले सूर्य की किरणों से जिस प्रकार जह्नुकन्या गंगा नदी सुशोभित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी भी इस बाण से सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

अरालकेशीयमनेन भाति ते शरेण कार्तस्वरपुद्गशोभिना ।

निसर्गगौरेण नरेन्द्ररश्मिना सकञ्जला दीपशित्तेय शर्मरी ॥ ९ ॥

हे नरेन्द्र ! चमकते हुए स्वर्णफलवाले तुम्हारे बाण से यह घुँघराले बालों वाली नागराजकन्या ऐसे सुशोभित हो रही है, जैसे स्वभाव से ही गौर वर्ण की रश्मि से रात्रि की कञ्जल युक्त दीपशिखा दीख पड़ती है ॥ ९ ॥

इय त्रिलासोमिनिमग्नशैशव विभाव्यमानस्तनकुटमलोद्गमम् ।

मर्दन्विलम्बमगृह विगाहते वयो विभस्ताङ्गमनङ्गदोहदम् ॥ १० ॥

इसका बचपन अब विलास की तरंगों में डूब रहा है । स्तनकुटमलो (स्तनरूपी कलियों) का प्रकाश होने लगा है । यह मदका त्रीडाण्ड ही

वन गई है । यह उस यौवन-श्रवस्था में प्रवेश कर चुकी है, जब अंगों का विकास होने लगता है, वह वय अब काम के दोहद का कार्य कर रहा है ॥ १० ॥

इयं नताङ्गी जगदेकमुन्दरे निदेशिते पाटलया नृप त्वयि ।

दृशौ नवेन्द्रीवरपत्रपेशले विमुञ्चति श्रीरिव शार्ङ्गधन्वनि ॥ ११ ॥

पाटला ने जगत् में सर्वमुन्दर आप के बारे में इसे बता दिया है । तब से नवीन कमल के समान कान्तिमान आप पर यह उसी तरह दृष्टि गड़ाये हुए है, जैसे लक्ष्मी भगवान विष्णु पर ॥ ११ ॥

अनङ्गसाम्राज्यविलासचामरे वनानिलव्याकुलितेऽसचुम्बिनि ।

परिश्लथे संयमनार्थमेतया सलीलमस्तः कवरीभरे करः ॥ १२ ॥

काम के साम्राज्य में चँवर-धारण का काम करने वाली वन-वायु से हिल कर जो बंधों तक फँसी हुई (कन्धों का चुम्बन कर रही) है ऐसी तथा ढीली-ढाली बनी हुई अपनी उस वेणी को बाँधने के लिये देखो, उसने वेणीभार में हाथ रखा है ॥ १२ ॥

विलोकयन्ती कुमुमं कचाप्रतश्च्युतं कुचस्पर्शधियेव वक्षसि ।

इयं कृशाङ्गी कुमुमास्त्रशङ्कया कृतप्रणामेव तवावलोकयते ॥ १३ ॥

मस्तक पर से फूल जो गिरे, सो मानो उसके कुचस्पर्श करने के लिए ही, उन फूलों को देखने के वहाने वह जो झुकी है, वह वस्तुतः उसे काम का अस्त्र समझकर । ऐसी यह सुन्दरी तुम्हें प्रणाम करती हुई सी जान पड़ती है ॥ १३ ॥

विलोकयास्याः क्षितिपाल विभ्रतीं प्रदीपशोभां कवरी निशामुखे ।

अर्मी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेरमरीचयः ॥ १४ ॥

कुङ्कुम और केसर के समान लाल वर्ण वाली माँग पर लगी हुई मणि की फिरियों की चमक तो बस देखते ही बनती है ! देखें ! हे नृप ! इसकी चमक से इसकी वेणी ऐसी शोभा पा रही है, मानो दीपशिखा से श्यामायमान रात्रि हो ॥ १४ ॥

विराजतेऽन्यास्तिलकोऽयमञ्चितो विकुञ्चितभ्रूलतिकान्तरे नृप ।

विजित्य लोकाँस्त्रितयं दिवं प्रति स्मरेण वाणो धनुषीव संहितः ॥ १५ ॥

दोनों कुटिल माँहों के बीच लगा हुआ इसका तिलक ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो दोनों लोकों को जीतकर काम ने तीमरे लोक को जीतने के लिये अपने धनुष पर वाण चढ़ा दिया हो ॥ १५ ॥

अपाङ्गसंवर्धितशोणकान्तिना मुकृष्णतारेण तुपारपाण्डुना ।

इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिर्मितेनेव चकास्ति चक्षुषा ॥ १६ ॥

जिनके अपाङ्गों पर लालिमा चढ़ी हुई दिखाई देती है, जिनकी दोनो पुतलियाँ काली-काली सुन्दर लगा करती हैं और जिनमें हिम की शुभ्रता की

एक विचित्र शोभा रहा करती है, ऐसी आँखें देखने में ऐसी लगती हैं, जैसे वह प्रवाल, नीलम और मौक्तिक—इन तत्त्वों से बनी हों ॥ १६ ॥

इय पुरो निर्यतिदूरमायते कपोलत काञ्चनकुण्डलार्चिपि ।

इषु स्पेव प्रतिमोत्तमुद्यता मनोभुवे सुप्रशिलीमुखे हृदि ॥ १७ ॥

काञ्चन कुण्डला से निकलती हुई काँति कपोलो पर पड़ती हुई ऐसी खान पड़ती है, मानो यह सुदरी क्रुद्ध होकर गण से हृदय भेदने वाले काम पर अपने बचाव के लिये बाण ही छोड़ रही हो ॥ १७ ॥

इय त्रियामापतिकान्तिपेशलम् विबुद्धमधूरुदलाधिकत्रिपा ।

विभति विम्बाधरमुद्रया मुख मनोभिराम रजनीय सन्ध्यया ॥१८॥

चंद्रमा की प्रभा के समान मृदु, इसके सुन्दर मुख पर विकसित गुलदोप हरी के फूल की पखुडियों से भी अधिक लाल विम्बोष्ठ ऐसा दिम्बाई दे रहा है, मानो सन्ध्या से युक्त रात्रि विराजमान हो ॥ १८ ॥

उपोढतारापतितारहारयोरिय युगेन स्तनयोरिराजते ।

द्वयेन देवोपसि चक्रवाक्यो सरिद् गृहीतैकमृणालयोरिज ॥१९॥

हे देव ! ताराओं के द्वार से शोभित चन्द्रमा के समान कुन्नों से यह शशिप्रभा इसी तरह शोभायमान है, जैसे प्रभात काल के समय चोंच में मृणालनादु को धारण किये हुए दो चक्रवाकों से नदी शोभित होती है ॥ १९ ॥

सुरापगाबीचिविपाण्डुरेणते चिरेण हारश्चरितार्थता गत ।

धृत च्छितीश प्रणयार्द्रयाऽनया सलीलमुत्कम्पिनि यत्कुचद्वये ॥ २० ॥

मन्दाकिनी की लहरी के समान चञ्चल और तरल यह तुम्हारा हार भी आज सार्थक हो गया है, जो प्रेमपरिपूर्य होकर इस सुन्दरी ने उसे कम्पायमान कुन्नों पर धारण कर लिया है ॥ २० ॥

इय महीपाल विलोम्बितेन ते त्रिगाहते कान्तमिद् दशान्तरम् ।

भयत्यनारुद्धविकासविभ्रमा किमुद्गमे चन्द्रमस कुमुद्वती ॥२१॥

हे नृप ! तुमने जरासे इसे देखा है, तबसे इसकी दशा ही कुछ विचित्र हो गयी है । अर्थात् यह अत्यन्त मनोह्र दशा को प्राप्त हो गई है । भला चंद्रमा के उदित होने पर भी कहां कुमुदिनी पना जिले रह सकती है ॥२१॥

किमयदुक्त मुधयेव साद्रया तदन्यथा नाथ न पाटलायच ।

स्फुटैयमस्याः कुरुते यदङ्गके वलात्परिप्यङ्गमनङ्गविक्रिया ॥ २२ ॥

अङ्ग प्रत्यङ्गों में काम क्रिया अपना प्रभाव दिखा रही है, यह स्पष्ट ही है । इससे पाटला के अमृतमय वचनों में (मुझे) सत्यता मालूम होती है ॥ २२ ॥

शशिप्रभासमीपगमनम्

इतीङ्गितज्ञे वदति प्रियंवदे रमाङ्गदेन स्मितमुद्गतस्मितः ।

अवाप पर्याप्तशशांकदर्शनः फणीन्द्रकन्यासविधं नराधिपः ॥ २३ ॥

शशिप्रभा के पास जाना

मनोगत भावों को जानने वाले राजा के प्रति रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर पूर्णचन्द्र की भाँति दिखाई देने वाला राजा नागराजकन्या शशि-प्रभा के पास पहुँचा ॥ २३ ॥

नायिकाचेष्टाः

उवाह लज्जानतमच्चितालकम् ततो भुजङ्गाधिपतेः सुता मुखम् ।

अवाञ्छितं किञ्चन मातरिश्वना सपट्पदं पद्ममिवारविन्दिनी ॥ २४ ॥

नायिका की चेष्टा

लज्जा के कारण शशिप्रभाने श्रपना मुख नीचे झुका लिया था, वाल नीचे झुका आये थे । इससे ऐसा मालूम पड़ता था कि वायु से कुछ नाचे झुके हुए तथा जिस पर भौरे बैठे हों, ऐसे कमल को कमलिनी धारण कर रही हो ॥२४॥

पतत्यधः कुङ्कुमपङ्कपाटले मयूखलेखापटले शिखामणेः ।

हृद्येव रक्तांशुकपल्लवस्तया विधातुमालेख्यनृपे न्यधीयत ॥ २५ ॥

सिर के मणि के कुङ्कुम के कारण लाल किरणों का प्रकाश-समूह जब नीचे की ओर (चित्रलिखित राजा पर) पड़ रहा था, तब मालूम होता था कि उसने मानो लज्जित होकर चित्रित राजा को रक्तांशुक से छिपा दिया हो ।

नृपस्य चित्रे मधुरेयमाकृतिर्न भिद्यते चन्द्रमसो यथाम्भसि ।

सखीजनस्तामिति नर्मपेशलः शनैस्त्रपानम्रमुखीमभापत ॥२६॥

रतिक्रीडा सम्यन्धी हँसी-मजाक करने में तब सखियों ने लज्जानत उसको कहा कि तुम्हारी इस मधुर आकृति का प्रतिबिम्ब पानी में चन्द्रबिम्ब के समान न दिखाई पड़ेगा अर्थात् तुम्हारी छाया चित्र को न ढँक सकेगी ॥ २६ ॥

यथास्मि वक्तासि तथास्य भूपतेर्यदा पुनः कर्णसमीपमास्यसि ।

इतीव निर्व्याजमुदीर्य तत्यजे तयायताद्या स नरेन्द्रसायकः ॥ २७ ॥

पुनः उस दीर्घलोचना ने यह कहते हुए राजा के वाण को राजा की ओर फेंका कि जब तू राजा के कान के पास जायगा, तब मेरी दशा का वर्णन कर देगा ॥ २७ ॥

अलं हृद्येवं समुपेक्ष्य गृह्यताम् अयं हि पाणिग्रहणोचितस्तव ।

इतीरयन्त्याः कुटिलं वचः करादनङ्गवत्याः कमलं जहार सा ॥ २८ ॥

“तुम इतना लजा क्यों रही हो ? जरा सोच-समझ कर उस वाण को फिर

से ग्रहण कर लो, क्योंकि वह तुम्हारे हाथ में शोभा पाता है”—अनङ्गवती के इस प्रकार व्यग्ररूप से मजाक करने पर शशिप्रभा ने शीघ्र ही उसके हाथ से कमल का फूल छीन लिया ।

विमर्श—पहली पंक्ति में श्लेष है, जिससे यह अर्थ भी निकलता है कि लज्जा मत करो, उसे छोड़ कर इस राजा को ग्रहण कर लो, क्योंकि यह तुम्हारे साथ पाणिग्रहण करने योग्य है ॥ २८ ॥

अथ स्वनिम्बाधरपाटलच्छद्मकरण तत्तत्सदृशेन निभ्रती ।

निपेत्रितु भूपतिमभ्युपागता रमेर राजीयमुखी रराज सा ॥ २९ ॥

अपने अधरोष्ठ की तरह लाल कान्ति वाले उस कमल का अपने कमलतुल्य हाथ में रख कर वह राजा के पास प्रणाम करने गई, उस समय वह कमलमुखी रमा (लक्ष्मी) की भाँति लग रही थी ॥ २९ ॥

दृशस्ततन्तत्परिवारयोपिता नेत्राञ्जनश्यामलपद्मराजय ।

शशिप्रभे भूमिपती सखीतुजा समापतन्कुन्द इयालिपङ्क्तय ॥ ३० ॥

चन्द्रमुन्दर राजा पर उसकी सखियों की नेत्र में लगाये हुए काजल के कारण श्यामवर्ण की पलकों वाली दृष्टियाँ एक साथ ऐसी जा गिरीं, मानो कुन्द पुष्प पर भ्रमर पंक्ति टूट पड़ी हो ॥ ३० ॥

नृपार्हणम्

निपीयमानस्य तथा शनैश्शनैरपाङ्गसञ्चारितदीर्घनेत्रया ।

उपातपुष्प क्षितिभर्तुरर्हणा चकार तस्याश्चतुर सस्त्रीजन ॥ ३१ ॥

राजा का सम्मान

जब वह इन सखियों से धीरे धीरे राजा को देखने में तल्लीन थी, तब पूज्य आदि द्वारा उसकी सखियों ने राजा का सत्कार किया ॥ ३१ ॥

पुर शिरस्याहितममथाज्ञया तथा कटाक्षै कुटजैरिवाचित ।

नृप सपर्यां पुनस्वस्तसन्निदा म तद्वयस्यानिहिताममन्यत ॥ -२ ॥

उसके पहले ही शशिप्रभा ने मानो काम की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने कुटज पुष्प-स्वरूप कटाक्षों से ही राजा की पूजा कर दी थी । अतः उस समय राजा ने पुनः प्रेमपूर्वक की हुई सखियों की पूजा को फिर पुनरुक्ति ही समझा ॥ ३२ ॥

सरागन्त्युत्कलिकाभिराकुले मृदून्यल पाटलया समर्पिते ।

अथ न्यपीडन्नवपल्लवासने फणी द्रुकन्यामनसीत्र पाथिय ॥ ३३ ॥

तब पाटला की दी हुई कलिकाओं से युक्त, कोमल नये पत्तों के आसन पर राजा वैसे ही बैठा, जैसे कि शशिप्रभा के उत्कण्ठित और प्रेमपूर्ण हृदय में बैठ चुका था ॥ ३३ ॥

अनुत्तितीशं नलिनोदलासने कयाचिदस्ते परिवारयोपिता ।
रमाङ्गदोऽप्यासनवन्धमाददे वमुन्धरायां विनयैकवन्धुरः ॥ ३४ ॥
विनयसम्पन्न रमाङ्गद भी राजा के बैठ जाने पर किसी सखी द्वारा
दिये गये कमलिनो के पत्र के आसन पर पास ही आसन जमाकर बैठ
गया ॥ ३४ ॥

श्रमानुरोधादुपविश्यतामितः क्षणं कृशाङ्गीति सखीभिरर्थिता ।
उपाविशद्वेपितयामनमन्तनी ततस्समं ताभिरद्वीन्द्रकन्यका ॥ ३५ ॥
“हे सखि ! तुम यकी हुई हो, अतः हे कृशाङ्गि, अब तुम भी इधर बैठ
जाओ” ऐसा सखीजनों के कहने पर वह शशिप्रमा भी, जिसके टेढ़े स्तन काँप
रहे थे, अपनी सहेलियों के साथ उनके सामने बैठ गई ॥ ३५ ॥

नायिकाविलसितानि

विवर्तयन्ती वदनेन्दुमण्डलं विशालनेत्रान्तनिपक्तारकम् ।
द्वयेन साऽकृष्यत मुन्दरी समं हिया नृपालोकनकौतुकेन च ॥ ३६ ॥

नायिका के हाव-भाव

अपने मुख को राजा की ओर से मोड़ने वाली, और बड़ी-बड़ी आँखों में
ही अपनी दृष्टि को छिपाने वाली शशिप्रमा के मन को लज्जा और राजा को
देखने की प्रबल इच्छा—दोनों ने एक साथ अपनी-अपनी ओर आकृष्ट किया ।
विमर्श—अर्थात् राजा की तरफ वह जब देखना चाहती, तब लज्जा उसे
अपनी तरफ खींचने लगती, पर फिर तुरन्त राजा को देखने की उत्कट इच्छा
अपना जोर करती, इस तरह वह एक ही समय दोनों ओर से खींची
जाने लगी ॥ ३६ ॥

अथावतंसीकृतलोचनोत्पलं कपोलदोलायितरत्नकुण्डलम् ।

चिरं पर्षो स स्तिमितेन चक्षुषा तदाननं मालवमीनकेतनः ॥ ३७ ॥

दोनों कमलनयन जिस पर आभूषण रूप में शोभित हो रहे थे, तथा जहाँ
पर कुण्डल लटक रहे थे, ऐसे शशिप्रमा के उस मुख को मालव देश के कामदेव
स्वरूप वह राजा सतृष्ण नेत्रों से एकटक देर तक देखता रहा ॥ ३७ ॥

कृती दृशाऽस्याः मुदृशः पिव्रत्ययं कपोललावण्यमुधां नराधिपः ।

मिथस्सखीनामिति सस्मितं वचो निशम्य साभूद्विक्राधिकत्रपा ३८ ॥

“देखो, वह पुण्यात्मा (सौभाग्यशाली) इसके (नयनों से नयन मिला-
कर) कपोलों के सौन्दर्यामृत का पान कर रहा है” इस प्रकार जब सखियाँ
हँस-हँस कर आपस में बातें कर रही थीं, तब उनकी बातों को सुन कर वह
बेचारी और अधिक लजित हो जाती ॥ ३८ ॥

मनागिवासादपवतितानना निरोक्ष्य त भूपतिमर्षितेक्षणम् ।

विहस्य लज्जामुकुले चकर्ष सा बलादपाङ्गप्रसूते विलोचने ॥ ३६ ॥

अपने कंधे की ओर बढ़ले वह देख रही थी, फिर जरा सा दृष्टि उठा कर उसने देखा तो राजा को अपनी ही ओर एकदृक् देखते पाया । तब हँस कर उसने अपने लज्जिले नेत्रों को बरबस ही दूसरी ओर फेर लिया ॥ ३६ ॥

यशोभटे रूपमत्रतिरासितु कृतस्मिते चित्रगत प्रशसति ।

करस्थित सा झटिति न्यवात्तत शिलातले तामरस त्रपायती ॥ ४० ॥

उसी समय जब रमागद हँसकर चित्रलिखित राजा के रूप की प्रशंसा करने लगा, तब लजाकर उसने अपने हाथ के कमल को उस शिला पर रख दिया (जिसपर राजा का चित्र बना था) ॥ ४० ॥

निकाममुक्त सुकुमारमङ्गना विलासिनस्तस्य जहार सा मन ।

स्मरैऋतूती सहकारशाग्निनो लसन्मधायन्यभृतेव पल्लयम् ॥ ४१ ॥

यह उचित ही है कि उस कुमारी ने इस विलासी राजा का मन ऐसे ही हर लिया, जैसे काम की अपवती कोकिला विकसित वषट्त में आम के पत्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है ।

विमर्श—वस्तुतः वसन्त ऋतु में आम के पत्ते ग्विलते हैं अपने आप, पर यहाँ कवि ने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि कोकिला को देखकर ही तथा उसके मधुर वृजन को सुनकर ही पत्ते खिल कर आम के पेड़ बौराते हैं ॥ ४१ ॥

तदीयमुद्दामरसोर्मिनिर्भर स राजहसोऽपि त्रिवेश मानसम् ।

कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिनन् मनाद् मृणालीमिव धीरतामत् ॥ ४२ ॥

उसके उद्दीप्त रसतरंगों से परिपूर्ण मानस (मानसरोवर) में वह राजा इस सहसा प्रविष्ट हो गया । और उसने उस मानस (मानसरोवर) में प्रविष्ट होकर उसकी धीरता रूपी मृणालनी को धीरे धीरे तोड़ दिया ॥ ४२ ॥

क्षणादपाङ्गस्तिमितायताक्षयो सङ्गमयो वण्टकिताङ्गलेखयो ।

अपापदन्योऽन्यनिऋद्भभाययोस्तयो प्ररोह हृदि बालमन्मथ ॥ ४३ ॥

दोनों एक दूसरे की तरफ कटाक्षों से देखने लग, जिससे दोनों की आँखें स्तब्ध थीं, दोनों के शरीर में कँपकँपी होने लगी, शरीर में रोमाञ्च हो आये । दोनों ने एक-दूसरे के भावों को जान लिया । उसी समय उनके हृदय में बालमन्मथ (कामदेव) ने अकुरित होना प्रारम्भ कर दिया ॥ ४३ ॥

नायकस्य नायिका प्रत्युक्तिः

असूययेनाथ विमुञ्चती दृश सखीषु सा सूत्रितनर्मसूक्तिषु ।

इति स्मितक्षालितदत्तवाससा नृपेण नागेऽद्रसुताऽभ्यधीयत ॥ ४४ ॥

नायक का नायिका के प्रति कथन

कुछ सखियाँ व्यंग्य कसने लगीं, तब उन पर उसने कुछ ईर्ष्यालु दृष्टिपात किया। तभी मधुर हँसी हँसते हुए राजा ने उस नागराजकन्या से कहा ॥ ४४ ॥

वदानवद्याङ्गि सखीजनाहृतः किमेव नाम व्यतिरिच्यते जनः ।

विहाय विश्रम्भविशेषमेतया यदङ्गभन्तर्विशतीव लज्जया ॥ ४५ ॥

हे निर्दुष्ट सुन्दरि ! तुम्हारी चारी सखियों ने हमारा पर्याप्त आदर किया, पर तुम्हारे मन में हमारे विषय में दूजाभाव शायद है, क्योंकि इस लज्जा के कारण तुम्हारे सारे अंग-प्रत्यंग अपने आप में ही सिकुड़ते जा रहे हैं। और तुमने हमारा कोई विशेष सत्कार नहीं किया ॥ ४५ ॥

सदा सदाचारपरेतिवार्तया वयं हृताः पन्नगराजपुत्रि ते ।

अतः किमेवं प्रतिपत्तिमूढतां विगाहसेऽस्मानु विमुच्यतामियम् ॥ ४६ ॥

तुम सदैव सदाचार अर्थात् आतिथ्य आदि भलीभाँति करने के मार्ग पर चलने वाली हो, ऐसा तुम्हारे विषय में हमने सुना है, जिससे हम आकृष्ट हैं। लेकिन तुम हमारे विषय में इतनी लापरवाह क्यों बन रही हो ? इस लापरवाही को छोड़ो ॥ ४६ ॥

अनेन ते मुन्दरि दर्शनेन वा कृतोपचारोऽस्मि कियन् कदर्थ्यसे ।

न वीक्षते वल्लु न मञ्जु भापते गता कचिल्लोचनवर्त्म मालती ॥ ४७ ॥

हे सुन्दरी ! तुम्हारे दर्शन से ही वस्तुतः हमारा अतिथि-सत्कार हो गया है। तुम इतना क्रुद्ध न करो। यदि मालती लता केवल दृष्टि में भी आ जाय तो उसके देखने से ही वृत्ति हो जाती है, वह न मधुर दृष्टि से देखती है, न बोलती ही है, फिर भी मन की वृत्ति हो जाती है ॥ ४७ ॥

अधःकृताः सत्यमधीरलोचने रसातलेन त्रिदिवस्य भूमयः ।

अनङ्ग दुर्वारशराधिदैवतं भवद्विधं रत्नमवाप्यतेऽत्र यन् ॥ ४८ ॥

हे कातर नयनों वाली ! काम के अमोघ वाणों की अधिष्ठात्री देवतास्वरूप तुम जैसी दिव्य रत्न-मणियों को उत्पन्न करनेवाले पाताललोक ने स्वर्गभूमियों को भी पराजित कर दिया, यह सत्य है ॥ ४८ ॥

कुनूहलाध्यासितमध्यलोक्या त्वया मुहुर्तं फणिलौककौमुदि ।

अवैमि पातालमवाप्तसन्धिना विलङ्घ्यते सन्तमसेन सम्प्रति ॥ ४९ ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! तुम कौतूहल से अपना देश छोड़ कर इस मर्त्यलोक में आई हुई हो तो मैं समझता हूँ कि मौका पाकर इस समय पाताल-लोक को घोर अंधकार ने घेर लिया होगा। अर्थात् तुम्हारे यहाँ आ जाने पर वहाँ घोर अंधेरा छा गया होगा ॥ ४९ ॥

इद मृणालादपि कोमल वपुस्तत्रैप दूरादरविदिनोपति ।

पुन पुन सस्पृशतीव कौतुकान् तमालगुल्मातरपातिभि करै ॥ ५० ॥

तुम्हारे कमलनाल से भी कोमल शरीर को तमालवृक्ष के गुच्छों के बीच से छूँकर आने वाली अपनी किरण रूपी हाथों द्वारा यह सूर्य भी दूर से ही बार बार छू रहा है ॥ ५० ॥

अनेन ते सश्रमप्रारिन्दिनुना नवीनपीयूषतुपारदन्तुर ।

शरीपमृद्वङ्गि तुपारपाण्डुना कपोलविभ्वेन विहम्यते शशी ॥ ५१ ॥

हे शरीपपुष्प के समान कोमल अङ्गवाली ! पसीने की बूँदों से युक्त, हिम के समान श्वेत तुम्हारे इस विभ्वरूप कपोलों से नवीन अमृत की सी धवन काण्ठिवाला चन्द्रमा भी लज्जित हो रहा है अर्थात् तुम्हारा कपोल चद्र स भी अधिक सुन्दर है ॥ ५१ ॥

इद वदाशिक्षन् कैतव कुतस्तत्रैप मुग्धे सरलाङ्गिल कर ।

इहंतदालिरय शिलातले शनैरनेन लीलाकमल यदुञ्जितम् ॥ ५२ ॥

हे मुग्धे ! यह बताओ कि सीधी अंगुलियाँ वाले तुम्हारे इस हाथ ने यह चालाकी कहाँ से सीखी ? क्योंकि पहले तो इस हाथ ने उस शिला पर यह चित्र बनाया, और फिर उसे इस कमल से ढँक लिया ? ॥ ५२ ॥

न चित्रमेव क्वचिदस्ति भूतले ममात्र तेनास्ति कुतूहल महन् ।

अत किमेतन् पिहित प्रमाश्यताम् अहेतुकुम्भन्वि क एप मत्सर ॥ ५३ ॥

इस चित्र के समान भूतल पर और आकृति ही मुझे नहीं दिखाइ पड़ती, इसलिये मुझ बहुत कौतूहल हो रहा है । अत यह क्या छिपा रखा है, उसे तो खोलो । हे तन्वि ! अकारण ही इस प्रकार छल करना (डाढ़ करना) ठीक नहीं ॥ ५३ ॥

अदृश्यमेतद्यदि मायसे तत त्रिमर्ध्यसे त्रित्वियदेव शस न ।

कृती त्ययाय भुजगाम्बरीकसाम् अलेखि चित्रे कतम कृशोदरी ॥ ५४ ॥

यदि तुम यह समझती हो कि यह किसीको नहीं दिखाया जा सकता, तो हमें इतना ही बता दो कि तुम क्या चाहती हो ? पाताललोक तथा स्वर्ग में रहने वालों में से वह भाग्यशाली कौन है ? हे कृशोदरी ! जिसका तुमने यह चित्र बनाया है ॥ ५४ ॥

लतेय सम्मीलितपटपस्वना त्रियच्चिर निर्वचनैव तिष्ठसि ।

न्दश्चकोराक्षि विचित्य सूत्रत ममोत्तर किञ्चन दातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

अपने में भ्रमरो की ध्वनि को जिसने छिपा रखा है, ऐसी लता की माँति तुम कब तक मौन रहोगी ? हे चकोरनयनी ! अच्छी तरह सोचकर मेरे वचनों का उत्तर तो तुम्हें देना ही चाहिए ॥ ५५ ॥

यथातिजिह्वे पि यथातिवेपसे यथा कपोले पुलकं विभ्रपिं च ।

तथाऽत्र मन्ये तव पक्षपातवन्नितान्तमन्तःकरणं कृशोदरि ॥ ५६ ॥

जिस भांति तुम अत्यन्त लजा रही हो, बहुत कांप रहो हो, और जैसे तुम्हारे गालों पर रोमाञ्च हो आये हैं, इस सबसे तो यही विदित होता है कि हे कृशोदरी ! तुम्हारा हृदय भी इसके प्रति पक्षपात रखता है अर्थात् तुम इस पर आसक्त जान पड़ती हो ॥ ५६ ॥

ह्रिये तवेयं यदि कल्पते कथा किमेतया नः प्रकृते यतामहे ।

यदर्थमेते वयमार्गताः स्वयं स नार्प्यते किं करभोरु सायकः ॥ ५७ ॥

हे करभोरु ! यदि यह सब बातें तुम्हें लज्जाशील ही बना रही हैं, तो जाने दो । हमारा इन बातों से क्या प्रयोजन ? हम अपने काम की बात कहें । अच्छा, तो हम लोग जिसके लिए आये हैं, क्या हमारा वह वाण हमें न दोगी ? ॥ ५७ ॥

सलीलमेवं व्रदति स्मितानने नृपे नवप्रेमरसार्द्रचेतसि ।

त्रिवर्तयन्ती मणिकङ्कणं करं मुमोच मौनं न फणीन्द्रकन्यका ॥ ५८ ॥

अभिनव प्रेमरस से आर्द्र चित्तवाले हैंसमुख राजा के ऐसा कहने पर भी अपने हाथ की चूड़ी को आगे-पीछे करती हुई शशिप्रभा ने मौन को न तोड़ा ॥ ५८ ॥

माल्यवतीवचनम्

तया तथा दृष्टमथान्तरान्तरा कटाक्षकान्तिःस्नपितावतंसया ।

इति स्मिताप्यायितदन्तदीधित्तिर्जगाद तं माल्यवती विशम्पतिम् ॥ ५९ ॥

माल्यवती के वचन

कटाक्षों की शोभा से शशिप्रभा के कन्धे सिक्त हो रहे थे, अर्थात् वह एकटक अपने कन्धों की तरफ ही देख रही थी, लेकिन बीच-बीच में राजा की तरफ भी देखती थी । उस राजा को माल्यवती ने मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए यों कहा ॥ ५९ ॥

तवैतया सत्कृतिपात्र सत्कृतं स्वयं न यत् कल्पितमल्पमध्यया ।

न सोऽवलेपो न च सा प्रमादिता न च त्रपा तत्र नृपोऽपराद्ध्यति ॥ ६० ॥

हे आदर के योग्य ! इस क्षीण कटि वाली ने जो स्वयं तुम्हारा सत्कार नहीं किया, तो इसमें न इसका गर्व ही कारण है और न लापरवाही । लज्जा भी इसका कारण नहीं । इसमें तो केवल तुम्हारा ही अपराध है ॥ ६० ॥

कृतीति वार्ता तव वेत्सि वाञ्छितं त्वमन्तरात्मेव न कस्य वा भुवि ।

अतस्सखीभावगतस्य गोपनं न युज्यते नस्त्वयि तन्निशम्यताम् ॥ ६१ ॥

हे सौभाग्यशाली ! तुम बहुत कुशल हो, यह बात तुम्हारे बारे में लोक में

विभ्रुत है, तुम अंतरात्मा की तरह किसीके मन की बात भलीभाँति नहीं जान सकते, अर्थात् तुमसे कोई बात छिप नहीं सकती। इसलिए अपनी सखी के मानों को छिपाना ठीक नहीं है। अतः तुम जो कुछ जानना चाहते हो, सुनो ॥ ६१ ॥

शिलीमुखेऽस्मिन् तव नामलाञ्छिते मृगोपनीते मृगशाखलोचना ।

प्रमोदमाप्तेयमितो त्रिलोकिते करे चकोरीव तुपारदीधिते ॥ ६२ ॥

हिरण के शावक की तरह नेत्रों वाली, यह सुन्दरी मृग द्वारा लाये हुए तुम्हारे नामांकित बाण को पाकर परम प्रसन्न हो गयी। उस बाण को हाथ पर लेकर हमारी सखी वैसे ही देवती रही है, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती है ॥ ६२ ॥

क एष राजेति मुहु कुनूहलादिय यदा पृथ्वती सखीजनम् ।

अतस्तदाऽस्यै कथितस्सविस्तर मया त्वमुर्वीतलमीनलाञ्छिन ॥ ६३ ॥

यह राजा कौन है ? जब इसने कड़वाँर हम लोगों से उत्सुक होकर यह पूछा, तब मैंने विस्तारपूर्वक इस पृथ्वी के कामदेवरूप तुम्हारे विषय में सब कुछ उसे बताया ॥ ६३ ॥

करेण सासूयमपास्य कर्णत ववणद्विरेफात्रलिनीलमुत्पलम् ।

तदैतयाभ्युद्गतपक्षपातया श्रुता गुणाढ्यस्य बृहत्कथा तव ॥ ६४ ॥

तब इंध्यालु सी होकर भ्रमर पक्षि के गुजार से युक्त कमल को अपने कान से दूर हटाकर तुम्हारे प्रति आसक्त हुई इसने गुणों से युक्त तुम्हारी बृहत् कथा को उसी प्रकार सुना, जैसे गुणाढ्य कवि की 'बृहत्कथामञ्जरी' को लोग सुनते हैं ॥ ६४ ॥

इमा त्वदाकारनिरूपणे सखीम् अवेत्य पर्युत्सुकलोचनामित्र ।

ततो मया विशत्रिलोचनोत्सन्नस्त्वमेव चित्रे लिखितोऽसि पाथिव ॥ ६५ ॥

तुम्हारी आकृति को देखने के लिए उत्कण्ठित नेत्रोंवाली अपनी सखी को जानकर, तब हे नृप ! विश्व के लोचनों को आनन्द देनेवाले तुम्हारे (इस) चित्र को मैंने इस शिला पर बनाया ॥ ६५ ॥

उदञ्चितव्यायतनरमणा तत सखीसमञ्च निभृतेन चक्षुषा ।

चिर निपीत सवृषेय मुग्धया त्वमेतया मध्यमलोकासव ॥ ६६ ॥

हे राजन् ! लगर को उठी हुई अतः फैली हुई पल्लवों वाले नेत्रों से इस (प्यासी) मुग्धा ने सखियों से आँख बचाकर तुम्हें रबी देर तक आनन्दपूर्वक देखा ॥ ६६ ॥

अतो वरोऽय युययो समागम कुमुद्वती-व द्रमसोरिवोचित ।

इय हि वालोच्छ्रवसित मनोमुवस्त्वमत्र लोकत्रितयैकमुदर ॥ ६७ ॥

अतः (मैं समझती हूँ) कुसुदिनी और चन्द्रमा के संयोग के समान ही तुम दोनों का यह समागम भी अति सुन्दर हुआ है । यह तो साक्षात् काम के हलके श्वास के समान है, और तुम भी तीनों लोकों में एकमात्र सर्व-सुन्दर हो ॥ ६७ ॥

नृप ग्रहीतुं न यमत्र कोऽप्यलं नुरेपु वा पन्नगपुंगवेषु वा ।

स एव पङ्केरुहकर्णिकामृदुस्त्वयाऽशयोऽस्याः क्रियते सकौतुकः ॥ ६८ ॥

हे नृप ! देवताओं में या नागश्रेष्ठों में कोई भी जिते ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ, तुमने इसके उसी कमल-केसर से भी कोमल भावना को कौतूहल से युक्त बना दिया है अर्थात् तुमने इसका हृदय जीत लिया है ॥ ६८ ॥

अयाचितोऽप्यर्पित एव ते शरः क्षितेरयं न्यायविदां वरैतया ।

तदेनमभ्यर्थयमे कथं पुनः कलत्रमेपाहि वमुन्धरा तव ॥ ६९ ॥

हे धरती के न्याय जानने वालों में श्रेष्ठ नृप ! इसने तुम्हारा वाग् तो विन मांगे ही तुम्हें दे दिया है । फिर तुम बार-बार उसे क्यों मांगते हो । आखिर यह सारी पृथ्वी भी तो तुम्हारी पत्नी रूप है, इसके तुम स्वामी ही हो ॥ ६९ ॥

इतीतिवृत्तं तदुपाश्रयं तथा प्रकाशयन्ती पृथिवीपतिम्प्रति ।

छलादलीकभृद्गुटिं विधाय सा तथाऽऽनुलोके फणिराजकन्यया ॥ ७० ॥

अपने सम्बन्ध की इस प्रकार की बातों को राजा से बताने वाली अपनी सखी 'को नागराजकन्या शशिप्रभा यो ही भाँहें तानकर (बनावटी क्रोध चलाती हुई नी) देखने लगी ॥ ७० ॥

अथ द्विरेफस्य मुखान्नपातिनो निवारणायोरगराजकन्यका ।

शिलातलान् सम्भ्रममीलितस्मृतिस्तदाशु लीलाशतपत्रमाददे ॥ ७१ ॥

इसी बीच मुखकमल पर मँडराने वाले भँरि को हटाने के लिये अकस्मात् सब कुछ भुलाती हुई सी शशिप्रभा ने शीघ्र ही उस शिला पर रखे हुए लाल-कमल को उठा लिया ॥ ७१ ॥

ततस्स रोमाञ्चनिपीडिताङ्गदो रमाङ्गदं व्यक्तशशिप्रभेद्भितः ।

अपश्यदिन्दीवरदामदीर्घया प्रमोदविस्तारितया दृशा नृपः ॥ ७२ ॥

तब रोमाञ्च के कारण कसे हुए वाजूवन्द वाले और शशिप्रभा के संकेत को भली-भाँति समझने वाले राजा ने कमल के समान दीर्घ दृष्टि से रमांगद की ओर देखा ॥ ७२ ॥

रमाङ्गदवचनम्

समर्पिता पार्थिवपुष्पकेतुना तवेयमार्द्रप्रणया मनस्विनी ।

असीमसौन्दर्यसुधाविलासभूरुदन्वतेवेन्दुकला पिनाकिनः ॥ ७३ ॥

रमागद का कथन

समुद्र ने जिस प्रकार भगवान् शंकर को चन्द्रकला अर्पित की, उसी तरह हे रावन् ! कामदेव ने ही मानो यह असीम सौन्दर्य रूपी अमृत के विलास का उत्पत्ति स्थानमूत, नन श्रनुरागन्ती मनस्विनी तुम्हें दी है । ॥ ७ ॥

किमयद्रोल्लसित जगत्त्रये तत्रैव सौभाग्यपताकया नृप ।

यदागता मन्मथपत्त्रिणामिय शरज्यतामेवमपि श्रुते त्रयि ॥ ७४ ॥

तुम्हारी सौभाग्यरूपी पताका का तीनों लोकों में अथ जगह इससे बढकर और क्या उल्लास हो सकता है कि तुम्हारे बारे में सुनते ही यह (प्रैलोक्य-सुन्दरी) कामदेव के राणा का निशाना उन गई ।

त्रिमर्श—अर्थात् यह जो तुमपर आसक्त हुई है, इससे बढकर और तुम्हारे सौभाग्य का विषय क्या हो सकता है ! ॥ ७४ ॥

वधूदिलीपस्य सुदक्षिणा यथा यथा मुनन्दा भरतम्य भूपते ।

रघुद्रहस्याननिकयका यथा तथा तत्रेय विधिनापपादिता ॥ ७५ ॥

दिलीप के लिये सुदक्षिणा, राजा भरत के लिये मुनन्दा, और राम के लिये जानकी को जैसे विधाता ने बनाया था, वैसे ही इसे भी मानो विधाता ने तुम्हारे लिये ही बनाया है ॥ ७५ ॥

किमयद्रस्या कृतपाणिपीडनं पद निधरसे गृहमेधिना धुरि ।

इति प्रसर्पत्स्मितचन्द्रिक शनैरभापतोर्नीतिलरु रमाङ्गद ॥ ७६ ॥

अधिक क्या कहूँ, इसके साथ पाणिग्रहण करके आप गृहस्थों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लेंगे । इस प्रकार चन्द्रकिरणों की भाँति अपनी हँसी को बिखेरते हुए रमागद ने राजा से कहा ॥ ७६-॥

त्रिलोकित चित्रमलोकभाषिणी भवत्सरीयं प्रतिभासते मम ।

उत्पीरितैव किल पार्थिवेन मा भृशं ललज्जे निभृत जहास च ॥ ७७ ॥

इसके बाद चित्र देवदर राजा ने शशिप्रभा से कहा कि मैंने इस चित्र को देख लिया है । यह तुम्हारी सखी बड़ी भूठ रोलने वाली मालूम होती है । राजा के ऐसा कहने पर शशिप्रभा बहुत लज्जित हुई, परन्तु मुँह फेर कर चुपचाप हँसने लगी ॥ ७७ ॥

त्रिलोक्यन्ती तमपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्वेदलनाङ्घ्रिवस्तनी ।

ततस्मुजातस्तनकास्तमौक्तिका लतेव सा हेममयी व्यकम्पत ॥ ७८ ॥

किर वह कनकियों से राजा को देखने लगी । उसके स्तनों पर पसीने की बूँदें उभर आयीं, जिससे उनकी शोभा मनोहर थी । तब वह सुन्दर मोती के गुच्छों से ढकी हुई स्वर्णलता की भाँति काँपने लगी ॥ ७८ ॥

मुखे तवासक्तमिदं शशिप्रभे दृशावतंसागतयैतदीयया ।
सखीजनस्सस्मितमित्युवाच ताम् अवन्तिनाथं च मिथो रमाङ्गदः ॥ ७६ ॥

तब हँसती हुई उसकी सखियों ने उससे कहा—“हे शशिप्रभा ! तुम्हारे मुख पर राजा का मन आसक्त हो गया है ।” उसी समय रमांगद ने राजा से भी कहा कि “हे नृप ! उसकी दृष्टि तुम्हारे मुख पर लगी है ।” यह बात सखियों ने शशिप्रभा से और रमांगद ने राजा से एक साथ कही ॥ ७६ ॥

अत्रान्तरे क्षणित्ति चित्तमिवाच्छमम्भः

क्षोभं जगाम सरितस्तुहिनांशुसूतेः ।

वाति स्म च प्रसभभग्नतमाल-ताल-

हिन्ताल-साल-सरलः सहसा समीरः ॥८०॥

इस प्रकार नवसाहसांक राजा का निर्मल चित्त अकस्मात् ही लुब्ध हो उठा, जैसे चन्द्रमा को देखकर नदी का जल लुब्ध होकर उच्छाल मारने लगता है । और सहसा तमाल, ताल, हिन्ताल, साल, साखू के वृक्षों को उखाड़ देने वाली वायु भी चलने लगी ।

विमर्श—अर्थात् धैर्य और संयम का बाँध तोड़ने वाली विचारों की आँधी आ गई । दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो गये ॥ ८० ॥

पयोदोदयः

उदनमदथ तत्क्षणादुदञ्चन्-

कनकपिशङ्गतद्विहितः पयोदः ।

अधरितमुरजध्वनीनि मुञ्चन्

विधुरितकर्णतलानि तर्जितानि ॥ ८१ ॥

वादल धिर आना

उसी समय स्वर्ण के समान कुल्ल पीली विजली जिसमें से रह-रहकर कड़कती थी, ऐसा वादल आकाश में उदित हो गया । वह कान के पर्दों को अधिर कर देने वाली और मुरज से भी भयंकर घनघोर गर्जना करने लगा ।

विमर्श—यहाँ पर विजली के पहले ‘पिशङ्ग’ का उल्लेख किया गया है, जिससे वर्षा की सूचना मिलती है । कहा भी गया है :

वाताय कपिला दिष्टुत् आतपाय च लोहिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया, दुर्भिन्नाय सिता भवेत् ॥ ८१ ॥

अथ समुद्रितत्रासा मेघस्वनान्ननु भूपतेर

भुजपरिघयोरन्तर्वाला प्रवेष्टुमियेष सा ।

किमसि चकिता मा त्व भैपीरितो भव लज्जया

वृत्तमिति च तामूचे देव स साहसलाञ्छन ॥ ८२ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसुतो परिमलापरनाम्न पद्मगुह्य इत्यौ

नवसाहस्राक्षरिते महाकाव्ये शशिप्रमासंलापो

नाम सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

तब उस मेघ गर्जना को सुनकर डरी हुई शशिप्रमा राजा के बाहुरूपी परिष के आदर छिपने की इच्छा करने लगी । यह जानकर नवसाहसक राजा ने उससे कहा, तुम घबरा क्यों रही हो, डरो मत, इधर आ जाओ, लज्जा क्या दो ॥ ८२ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुह्यरचित

नवसाहस्राक्षरित महाकाव्य का 'शशिप्रमासलाप'

नामक सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमः सर्गः

अष्टम सर्ग

नायिका निरोधानम्

सापदेऽथ भुजगेन्द्रकन्यका खे पयोदपटलेस्तिरोहिते ।

नर्मदापुलिनवल्लवस्थिता हंसवद्धतिरिव कम्पमाददे ॥ १ ॥

नायिका का छिपना

वह नागराजकन्या अकम्पना मेघों के समूह से आच्छादित नभ से वह भयानक रूप धारण कर लिया, तब उसी तरह छाँपने लगी, जैसे नर्मदा के किनारे पर स्थित पत्तों पर देरी हुई राजहंसों की पंक्ति छाँपनी है ॥ १ ॥

स्पर्धयेव निचयः पयोमुखां तारमन्द्रमनदन् यथायथा ।

सा नरेंद्रतिलकं तमङ्कत मुग्धलोलनयना तथा तथा ॥ २ ॥

आकाश में बादलों का समूह जैसे-जैसे मन्द और धीरे धीरे की गर्जना करने लगा, जैसे ही जैसे वह कातर नयनोंवाली शशिप्रभा राजेन्द्र (नवसाहस्राङ्क) को देखने लगी ॥ २ ॥

उल्लसन्वपयोरालसां द्यां च तां च सुमुखीं विलोकयन् ।

भूपतिः स नितराभमृद्वशे विस्मयस्य च मनोभवस्य च ॥ ३ ॥

नवीन मेघ जिसमें मँडरा रहे थे, अतएव अलस अर्थान् स्तब्ध आकाश को और नवीन स्तन जिसके उल्लसित हो रहे थे, अतएव अलसायी हुई उस नायिका को जब राजा देखने लगा, उस समय वह विस्मय और क्रम के बशीमूत हो रहा था

विमर्श—अर्थान् जब मेघाच्छादित नभ को देखता, तब उसे झुनूहल होता, और जब पुष्प-स्तनों वाली नायिका को देखता, तब क्रामाधीन हो जाता । यहाँ श्लेष का चमत्कार सराहनीय है ॥ ३ ॥

वामनत्वमलिनत्वमत्यजन् व्यञ्जितक्रम इव त्रिविक्रमः ।

क्रामति स्म सहसैव मेघभूर् अन्वकारनिकरः ॥ ४ ॥

दीर्घाकार और शेर भङ्गावात के साथ स्पष्ट रूप से मेघ अपना विस्तार वामन भगवान् त्रिपदक्रम की भाँति बढ़ा रहा था और सहसा मेघों से उत्पन्न अन्वकार धीरे-धीरे आकाश और धरती को व्याप्त करने लगा ॥ ४ ॥

नेत्ररोचिनि तयोर्न केवलं मूर्च्छिते तमसि वैशसं ह्यदि ।

यात्रदास्यविगलद्विसाङ्करे चक्रवाकमिथुनेऽप्यजृम्भत ॥ ५ ॥

राजा और शशिप्रभा के नेत्रों की शक्ति को रोकने वाले और हृदय में व्याप्त होने वाले अधकार से उनके हृदयों में ही निराशा न हुई, अपितु कमल-वन में चलने वाले चक्रवाचकवी के हृदय में भी (रात्रि की आशका से) निराशा व्याप्त हो गई ॥ ५ ॥

कर्णभूषणमणिप्रभालवै स्तोत्रलक्षितकपोलपत्रया ।

कृष्यमाणनयनोऽथ पिप्रिये पन्नगेन्द्रमुत्तया तथा नृप ॥ ६ ॥

ऐसे समय में अपने कनफूलों के मणियों की प्रभा में चमकते हुए कपोलों वाली शशिप्रभा ने अपनी ओर आकृष्ट नेत्रों वाले राजा के सौंदर्य को एक बार फिर सतृष्ण नयनों से देखा ॥ ६ ॥

त्रिमश—घोर अधकार छाया हुआ था । पर शशिप्रभा के कर्णफूल में जड़े हुए मणियों की किरणें उसके कपोल पर पड़ रही थीं, अतः वह अश राजा को साफ दिखाई पड़ रहा था । राजा उसे एकाम्र चित्त से देख रहा था और शशिप्रभा भी सतृष्ण नयनों से उसे देख रही थी ॥ ६ ॥

तेजसि स्फुरति ताडिते मुहुर् अभ्यती कनकभङ्गपिङ्गले ।

त हृदि स्थितमिवेशमीक्षितु साऽपि मीलिततिलोचनाऽभवत् ॥ ७ ॥

स्वर्ण की कान्ति के समान चमकती हुई पीली बिजली के प्रकाश से मयभीत होती हुई वह (राजा को न देखकर) आँखें बन्द करके अपने हृदय में स्थित राजा को देखने लगी

त्रिमश—सोने के खण्ड को तोड़ने से उसके अन्दर के भाग की कान्ति अत्यन्त पीत वर्ण की होती है, उस कान्ति के समान बिजली जल कड़कती थी, तब नायिका की आँखें चौंधियाकर बन्द हो जाती थीं । इस पर कवि उल्लेख करता है कि वह अपने प्रियतम को हृदयस्थित देखने के लिये ही मानी आँखें बन्द कर रही हो । क्योंकि बिना चित्त की एकाम्रता के अन्दर स्थित मूर्ति वैसे दीखेगी और आँखें बन्द करना चित्त में एकाम्रता लाने का ही एक साधन माना गया है ॥ ७ ॥

आकाशवाणी

एष ते न घटते मनोरथ पाथिवाहिपतिकन्यकम्प्रति ।

गच्छ विन्ध्यविपिनान्तदृष्टया वञ्चितोसि मृगतृष्णयैतया ॥ ८ ॥

आकाशवाणी

फिर आकाशवाणी राजा को सुनाई दी कि—हे राजन् ! नागराजकन्या के प्रति जो तुम्हारा मनोरथ है, अर्थात् उसे पाने का जो तुम अभिलाष ल्याये हो, वह पूर्ण न हो सकेगा, तुम लौट जाओ । विन्ध्याचल के इस वन में इस (शशिप्रभा रूपी) मृगतृष्णा से तुम छले गये हो ॥ ८ ॥

साहसोदधिविलोढने स्वयं यौसमंसलतयार्पयिष्यति ।

श्रीरिवोरसि मुरद्विपः पदम् तस्य निञ्चितमियं विधास्यति ॥ ९ ॥

कन्धे से कन्धा लगाकर घोर परिश्रम करके जो साहस रूपी समुद्र को मय सकेगा, यह उसी के हृदय पर विष्णु के हृदय पर लक्ष्मी की भाँति विराजित हो सकेगी । इच्छा प्राप्ति के लिये साहस-समुद्र के मन्थन जैसा घोर परिश्रम करना पड़ेगा ॥ ९ ॥

पश्य पश्य चपलेयमन्तिकान् नीयते तव यथोचितं कुरु ।

एवमेव यदियं न लभ्यते जानकीव जनकप्रतिज्ञया ॥ १० ॥

देखो देखो, तुम्हारे पास से इसे कोई लिये जा रहा है । अब तुम जो कुछ कर सकते हो, करो । जनक की प्रतिज्ञा के समान यह यों ही जानकी की भाँति नहीं मिल सकती ।

विमर्श—अर्थात् जनक की प्रतिज्ञा पूर्ण किये बिना जैसे जानकी किसी को नहीं मिल सकती थी, वैसे ही यह भी बिना घोर परिश्रम किये तुम्हें नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १० ॥

कन्यकासि किमिदं शशिप्रभे युक्तमेहि पितुरन्तिकं व्रज ।

इत्यविग्रहवती नभस्तलान् उल्लास सहसा सरस्वती ॥ ११ ॥

हे शशिप्रभा ! तुम नागराजकन्या कुमारी हो, तुम यह क्या कर रही हो, अब तुम अपने पिता के पास वापस लौट जाओ । यही तुम्हारे लिए उचित है । इस प्रकार आकाश से एक अत्यन्त संचित सी वाणी निकली ॥ ११ ॥

तां निशम्य स निकामविस्मितः साचिकार्मुकलतामलोकत ।

इन्दुमौलिगलकन्दलासितं तत्क्षणञ्च तिमिरं न्यवर्तत ॥ १२ ॥

इस वाणी को सुनकर राजा बहुत विस्मित हो गया । और उसने अपने क्रमानदार धनुष की डोरी की ओर देखा । उसी समय भगवान् शंकर के गले के पास के कण्ठ के समान कृष्ण वर्ण अन्धकार भी दूर हो गया । भगवान् शंकर का कण्ठ विषपान के कारण काला है, यह लोकविश्रुत है ॥ १२ ॥

साऽचिरांशुतपनीयमेखला शक्रचापमणिकुण्डला ततः ।

क्वापि मुद्रितमयूरताण्डवा संहतिर्जलमुचां तिरोदधे ॥ १३ ॥

फिर सूर्य की किरणों जिसकी मेखला थी, इन्द्रधनुष जिसके कुण्डल थे, ऐसी मेघपङ्क्ति भी नष्ट हो गयी, इससे जगह-जगह नाचनेवाले मयूरों ने अपना नृत्य बन्द कर दिया ॥ १३ ॥

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहन् ।

स्वाटुनिर्मलरसोर्मिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ १४ ॥

उस समय नर्मदा में भी जलवृद्धि हो गई थी, पर फिर मेघमाला के विलीन होने पर वह भी अपने पूर्वरूप में बहने लगी। उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे मधुर, निर्मल रसतरङ्गों से युक्त महाकवि की सुंदर वाणी हो ॥ १४ ॥

श्रप्यपाट्टतरय स नर्मदा वीचिलास्यरचनाकुतूहली ।

आवधौ शत्रुराजयोपिता नर्तितालकलतस्ममीरण ॥ १५ ॥

नर्मदा की तरंगों में नृत्य उत्पन्न करने में चतुर वेगविहीन मन्दपवन बहने लगा। जिससे भिल्लराज की स्त्रियों के केश त्रिलोह हो रहे थे ॥ १५ ॥

इत्यकालजलदादिवैकृते केनचिद्विरचिते गते शम्भम् ।

भूपते शशिसुखी सस्त्रीयुता नेत्रनिप्रियतामवाप सा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अकाल ही गदल रूपी ऐसे सकट के शान्त होने पर जन राजा ने सामन देखा तो अपनी सस्त्रियों सहित वह शशिसुखी राजा के नेत्रों से दूर हो चुकी थी ॥ १६ ॥

कवापि नूनमपहृत्य तन्मनो नागराजदुहिता जगाम सा ।

उत्पलस्य सरस लसत्स्पृहा चक्रवाक्यनितेव केसरम् ॥ १७ ॥

नागराजक या स्वयं तो चली ही गयी, साथ साथ राजा का मन भी हरती गयी। जिस तरह अत्यन्त उत्सुक चकवी (दिनान्त पर) कमल के सरस केसर (पराग) को लेकर विलुप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

अप्रत कृतपयोधरश्रिया धौततप्ततपनीयमन्तया ।

विद्युतेजसदृशा तयाऽऽकुलम् सोऽभयञ्जटिति दृष्टनष्टया ॥ १८ ॥

फिर स्तनों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, और बुद्ध तपाये हुए सोने की कान्ति के समान पीली बिजली जैसी उस शशिप्रभा के अन्तर्धान होने पर राजा तत्काल अव्यधिक व्याकुल हो गया ॥ १८ ॥

त्रिमर्शो—विद्युत् पक्ष में 'पयोधरश्रिया' का अर्थ होगा—मेघों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, ऐसी।

सा पुरो मम हृतेति लज्जया चिन्तया किमिव सा चरेदिति ।

सा पुनर्न सुलभेत्यसौ शुचा तप्यते स्म तिसृभि चितीश्वर ॥ १९ ॥

प्रथम—वह मेरे सामने ही हरी गयी, इसके कारण लज्जा से, द्वितीय—अब वह क्या करेगी अर्थात् कहाँ होगी, इस चिन्ता से, और तृतीय—वह अब मुझसे न मिल सकेगी—इन तीन प्रकार के शोको से राजा तप रहा था। उसे व्याकुलता हो रही थी ॥ १९ ॥

१ स्वर्ण सुवर्ण कनक हिरण्य हेम हारकम् ।

तपनीय शातकुम्भ गाङ्गेय मर्म कबुरम्—अमरकोश ।

तस्य तापजननेन मानसं तेन बालविरहेण विव्यथे ।

केतकच्छदकदर्थने परं यत् कणोऽपि शिशिरः प्रगल्भते ॥ २० ॥

केवड़े के पत्तों को बिगाड़ने में जिस प्रकार थोड़ा सा भी हिम समर्थ हो जाता है, उसी भाँति उस तापदायक थोड़े भी विरह ने राजा के मन को व्यथित कर दिया ॥ २० ॥

जित्वरं जगति पुण्यकेतुना तद्विकृष्य तरसा शरासनम् ।

ताड्यते स्म हृदये पतत्रिणा सोऽथ मालवकुरङ्गलाञ्छनः ॥ २१ ॥

उस समय कामदेव भी अपने जगत्विजया धनुष को चढ़ाकर बाण से बलपूर्वक मालवराज नवसाहसकं के हृदय को वेधने लगा ॥ २१ ॥

लज्जया बलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम् ।

तस्य वतितमित्राभवत्तदा तन्प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥ २२ ॥

लज्जा से सिर झुकाने के कारण ग्रीवा तथा कण्ठ नीचे झुक गया था, अतएव आँखों के ऊपरी भाग तक जिसका शिरोभूषण लटक रहा था, ऐसा शशिप्रभा का मुख बार-बार राजा के मन पर अपनी स्मृति का गहरा प्रभाव डालने लगा । अर्थात् उसे उसके उस कमनीय मुख की बार-बार याद आने लगी ॥ २२ ॥

म्लानिमाप स तथा विना नृपस् तत्र पन्नगपतेस्तनूजया ।

स्वां रुचि नहि कदाचिदश्नुते शर्वरी विरहधूसरः शशी ॥ २३ ॥

उस नागराजकन्या के विना राजा अत्यन्त म्लान अर्थात् तेजोविहीन हो गया । रात्रि के वियोग में फीका पड़ा हुआ चन्द्रमा अपनी शोभा से ही हीन हो जाता है । अर्थात् जिस भाँति रात्रि के वियोग में चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है, राजा भी शशिप्रभा के वियोग में म्लानवदन हो गया ॥ २३ ॥

पाण्डुपद्मलक्ष्मः परिच्युतं सोऽथ माल्यशकलं व्यलोकत ।

तादृशि व्यतिकरे विनिर्गतं हासलेशमिव पुष्पधन्वनः ॥ २४ ॥

फिर राजा ने घनी पलकों वाली दृष्टि से युक्त उस शशिप्रभा के शरीर से गिरे हुए एक माला के टुकड़े को देखा, जो उस गड़बड़ी को देख मुख से निकली हुई काम की हँसी के समान मालूम पड़ रहा था ॥ २४ ॥

शंसदुज्ज्वलकपोल-सङ्गतं कुङ्कुमेन दलकोटिचुम्बिना ।

सम्भ्रमेण गलितं नतभ्रवः कर्णतामरसमाददेऽथ सः ॥ २५ ॥

उज्ज्वल कान्ति वाले कपोलों के साथ अपने संपर्क का सूचक तथा जिसके अग्रभाग पर कुङ्कुम लगा हुआ था, और जो जल्दवाजी के कारण कान से गिर गया था, ऐसे शशिप्रभा के कान के कमल को राजा ने हाथ से उठा लिया ॥ २५ ॥

कार्मुके मति शरेषु मत्स्वपि प्रेयसी तत्र हतान्तिकादिति ।

तेन सौरभहृतालिनि स्वनेर् वाच्यतेव नृपतेर्व्यधीयत ॥ २६ ॥

तुम्हारे पास धनुष और अनेक राण होने पर भी तुम्हारी प्रेयसी तुम्हारे सामने ही हर ली गई ! इस प्रकार मकरन्द पान करने वाले भ्रमरों की ध्वनि ने मानो राजा की निन्दा सी की ॥ २६ ॥

कोप्यनि श्वसितप्रेपितच्छृद् तन्निवेश्य घदने स सादर ।

अर्धमीलितत्रिलोचनोत्पल पुस्तकल्पित इवाभवत् क्षणम् ॥ २७ ॥

बुछ-बुछ गरम श्नासों से जिसके पत्ते फाँप रहे थे, एसे उस कमल को राजा ने प्रेम से अपने मुख पर रखा । इससे उसकी आधी आँखें कमल से टँक गयीं । वह इस प्रकार ध्यानावस्थित था कि क्षणभर के लिए ऐसा लगा कि वह मिट्टी का पुतला तो नहीं है ! ॥ २७ ॥

नर्मणोमिलुलिते तदशुके पल्लवालिखितहसहारिणि ।

आहतस्तनत्रिलेपने दशा सोऽमृत प्रणयमिदुपाण्डुनि ॥ २८ ॥

नर्मदा की तरंगों के समान चञ्चल, बिजारे पर बने हुए हसों की शोभा से मन हरने वाले, और स्तनों पर लग हुए कस्तूरिकादि लेप से शुक्ल, शशि प्रभा के वस्त्र की ओर राजा का ध्यान गया अर्थात् उसने उधर दृष्टि की ॥ २८ ॥

मा त्रिपीद नमसाहसाङ्क ते कान्तया गतमनेन वर्त्मना ।

पश्य तत्पदमितीय रेवया तस्य सारसरुनैरसूच्यत ॥ २९ ॥

उस समय रवा के तटवता सारसों ने टाटसँघाते हुए राजा से मानो यह कहा कि—हे नमसाहसाक ! दु ख मत करो । तुम्हारी प्रिया इसी रागते न गई है । उसके पदचिह्न भी यहाँ बने हैं, इधर देखो ॥ २९ ॥

किं निमग्नमिह बालया तथा भीतया भुजगराजकन्यया ।

नैयमत्र नियत रसातल त्रिचते त्रिरमित्यवर्त्मयन् ॥ ३० ॥

पास ही एक विशाल त्रिल देखकर राजा ने अनुमान लगाया कि क्या वह मन्मथ पांडशी नागराजकन्या इस त्रिल में चली गयी ! इसी रागते निश्चित हो पाताललोक चली गई होगी ॥ ३० ॥

मोऽतिमात्रगहनेऽपि रहसा पाथिय पतितुमैच्छदम्भसि ।

जीवित वृणमिवावचानते साहसव्यसनिनोऽपि तादृशा ॥ ३१ ॥

१ पुस्तं लेप्यादिकर्मणि—भ्रमरकोश । मिट्टी आदि के द्वारा पुतला तैयार करने का काम को पुस्त कहते हैं ।

तत्र राजा जोश में आकर अत्यन्त गहरे नदी के उस पानी में वेग से गिरने की इच्छा करने लगा । टीक भी है, दृढ साहस वाले ऐसे व्यक्ति अपने प्राणों को तिनके की भाँति नगण्य समझते हैं ॥ ३१ ॥

तत् समीहितमवन्तिवासवस्तस्य नावददुपान्तवर्तिनः ।

एष विघ्नमिह साहसोत्सवे कल्पयिष्यति ममेति शङ्कितः ॥ ३२ ॥

अवन्तिनाथ ने अपनी इस इच्छा को अपने समीपवर्ती रमांगद से नहीं कहा । क्योंकि उसने सोचा कि यह मेरे इस साहसिक कार्य में बाधक हो जायगा ॥ ३२ ॥

उज्झति स्म स शनैः समुच्छ्वसन् पल्लवासनमुपास्यशासनः ।

अग्रहीच्च सशरं करेण तन् व्यक्तराजककुदेन कामुकम् ॥ ३३ ॥

प्रशंसनीयशासनवाला वह राजा गहरी श्वास लेता हुआ धीरे-धीरे अपने उस पल्लवासन को छोड़ने लगा । और जिसके कंधे का पुष्ट भाग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे हाथ से उसने धनुष-बाण को उठा लिया ॥ ३३ ॥

पन्नगेन्द्रद्रुहितुः करेण यः सख्यमापदरविन्दवन्धुना ।

अर्पितं प्रणयिना तमप्यसौ सायकं वनकपुङ्गमाददे ॥ ३४ ॥

नागराजपुत्री के कमल के समान कोमल हाथ की मित्रता जिसने प्राप्त कर ली थी (और फिर उस प्रेमी हाथ से जो अलग हो चुका था), ऐसे उस स्वर्णफलक वाले बाण को भी राजा ने उठा लिया ॥ ३४ ॥

सुभ्रुवः स्मरविलासदेशिकं तं शशंस सशरं पतत्रिपु ।

पीतशीतकरमूर्तितानवं भानुमानिव मयूखमंशुपु ॥ ३५ ॥

अपने सब बाणों में राजा ने शशिप्रभा के काम-भावों को व्यक्त करने वाले उस बाण की प्रशंसा उसी भाँति की, जैसे सूर्य प्रातःकाल में फीके पड़े चन्द्रमा का आस्वाद लेनेवाली अपनी अनेक किरणों में से एक किरण की प्रशंसा करता है ॥ ३५ ॥

व्यक्ततच्चरणलक्ष्मणा ततः स्वरतकेशकुसुमाकुलालिना ।

मेघसिक्तसिकतेन वर्त्मना नर्मदाजलसमीपमाप सः ॥ ३६ ॥

शशिप्रभा के वालों से गिरे हुए फूलों पर भौंरे जहाँ मँडरा रहे थे, और मेघ द्वारा बालू भिगी दी गयी थी, जिससे नायिका के पदचिह्न उसपर साफ दिखाई पड़ रहे थे, ऐसे मार्ग से होते हुए सिन्धुराज नर्मदा के जल के समीप पहुँचा ॥ ३६ ॥

एष जातु न विकथ्यते क्वचित् लक्ष्यतेऽस्य फलतः सदा क्रिया ।

तत् करिष्यति किमत्र साहसं चेतसीति विदधे रमाङ्गदः ॥ ३७ ॥

यह देखकर रमांगद ने अपने मन में सोचा कि यह राजा कभी किसी बात को पहले तो बताता नहीं । इसका विचार तभी व्यक्त होता है, जब वह

कार्यरूप में परिणत हो जाता है । पता नहीं, इस समय यह कौन-सा साहस का कार्य सोच रहा होगा ॥ ३७ ॥

नर्मदाप्रवेश.

अक्षिपत्तटशिलाप्रिटङ्कत पार्थिव स्वमथ नर्मदाग्भसि ।
वारिधे पयसि विश्वदीपक सायमद्रिशिखरादिवार्यमा ॥ ३८ ॥

राजा का नर्मदा में प्रवेश करना

पुन नर्मदा के तटवर्ती शिला के मुँदरे पर से राजा ने नर्मदा के पानी में छलांग मार दी । वह ऐसे ही उछलने लगा, जिस प्रकार चोटियों से उतर कर सायंकाल में सूर्य समुद्र में कूद पड़ता है ॥ ३८ ॥

तत्र मीनमकराकुले पतन् आससाद् स विलासमोद्वर ।
यामुनाग्भसि निपातिन पुरा गोपतामुपगतम्य शाङ्गिण ॥ ३९ ॥

उस मीन और मकरो से परिपूर्ण नदी के जल में कूदने पर राजा ने वही शोभा प्राप्त की, जो ग्वाले का रूप धारण करने वाले (कृष्ण रूप में) भगवान् विष्णु ने यमुना के जल में कूदने पर प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥

अग्भसस्तद्वपातताहितान् उर्ध्वमेत्य निपतत्सु त्रिन्दुपु ।
साहसेन परितोशितैस्मुरैर्, मौक्तिकार्घ्यमिन् तम्य चित्तिपे ॥ ४० ॥

राजा के कूदने से उछले हुए जल से अनगिनत बूँदें ऊपर उठीं, ऐसा मालूम पडा मानो राजा के साहस से प्रसन और सतुष्ट हुए देवताओं ने उसके ऊपर मोती उरसाये हों ॥ ४० ॥

किञ्चिदन्तरितमूमिमि क्षणाद् अवगच्छदथ त रमाङ्गद ।
येन यात्यरूपसारथि पथा वासरस्तमरलग्नते न किम् ॥ ४१ ॥

नर्मदा की तरंगों से छिपे हुए उस राजा का अनुसरण रमागद ने तत्काल किया । यह उचित ही था, क्योंकि जिस मार्ग से सूर्य जाता है, क्या दिन उसका अनुसरण नहीं करता अर्थात् अवश्य ही करता है ॥ ४१ ॥

कस्तुलाममधिरोप्य जीवित स्वामिन त्वमिन् सेवतामिति ।
तस्य हसनिनदेन वल्गुना साधुनादमिन् नर्मदा दटौ ॥ ४२ ॥

हे रमागद ! ऐसा कौन है, जो तुम्हारी तरह प्राणों की वाजी लगाकर अपने स्वामी की सेवा कर सकता है ! इस प्रकार नर्मदा ने हर्ष की मधुर वाणी से मानो रमागद की सराहना की ॥ ४२ ॥

मिलप्रवेश.

तौ मुहुर्जलचरैरदृश्यताम् अप्रतश्चक्षितमुक्तवर्त्मभि ।
ध्वान्तसन्वतिभिदे रसातनम् प्रस्थितौ रपिनिशाकरावि ॥ ४३ ॥

विल में जाना

जलचर उन्हें बार-बार देखते थे, उन्होंने चकित होकर उनके लिये मार्ग छोड़ दिया । उस मार्ग से पाताललोक में प्रविष्ट होते हुए वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए, मानो सूर्य और चन्द्र अन्धकारपुंज का नाश करने पाताल-लोक चल पड़े हों ॥ ४३ ॥

आश्रयत्यवनिमेघवाहने वारिगर्भमभितो गरीयसि ।

प्राप मेकलसुतासमानताम् अन्तराहितनिधानया भुवा ॥ ४४ ॥

धरती के इन्द्र अत्यन्त गुरु उस राजा नवसाहसांक के उस गहरे जल में प्रविष्ट होने पर, अपने अन्दर असंख्य रत्नों को छिपाने वाली नर्मदा धरती की समानता को धारण करने लगी ।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार धरती उस राजा से अपने को सनाय मानती थी, अब नर्मदा भी उस राजेन्द्र का सम्पर्क पाकर अपने को सनाय समझने लगी ॥ ४४ ॥

उच्चिता इति कार्यगौरवान् ईश्वरेण रुरुचे न मेदिनी ।

सोद्यमेन पुनरप्यवैष्यता भानुनेव पदवी पयोमुचाम् ॥ ४५ ॥

उद्यमी सूर्य पुनः उदित होने के लिये (श्रावण को दूर करने के लिये) जैसे मेघ-मंडल को त्याग देता है अर्थात् मेघों के बीच से बाहर निकल आता है, और तब वे बादल शोभा-रहित हो जाते हैं, उसी भाँति अपनी कार्य-सिद्धि के लिये धरती का त्याग करने वाले उस राजा के बिना धरती भी शोभा-हीन हो गई ॥ ४५ ॥

आपवात सरमाद्भदः क्षणान सर्वतस्स तमसाविले विले ।

गृह्णन्सरत्रिये विशेषवान् दुर्जनस्य मनसीव सद्गुणः ॥ ४६ ॥

मत्सर रूपी जहर जिसके अन्दर भरा पड़ा है, ऐसे दुर्जन के मन में जैसे कोई विशेष गुण प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति रमांगद सहित वह राजा भी चारों ओर अन्धकार से परिपूर्ण उस विल में प्रविष्ट हुआ ॥ ४६ ॥

यद्भूव पुरतोस्य भूपतेर् एककुण्डलपटासितं तमः ।

तस्य तद्दिनकरांशुभासुरैर्भौलिरत्नकिरणैरभज्यत ॥ ४७ ॥

राजा के सामने सारे बने अन्धकार का जो-जो भाग विर कर एकत्र होने लगता, वह सूर्य-किरणों की प्रभा के समान चमकती हुई उस राजा के शिरो-भूषण में लग्न रत्नों की कान्ति से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता ॥ ४७ ॥

सान्द्रह्रमरजसा मदीजसाम् अग्रणीरगरुधूपगन्धिना ।

सोऽथ तेन विलवर्त्मना शनैः क्रोशमात्रमगमन्नरेश्वरः ॥ ४८ ॥

१. तुरापाण मेघवाहनः—अमरकोष । (इन्द्र)

२. रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका—अमरकोष ।

दैदीप्यमान स्वर्णं की सी कान्तिवाले तथा तेजस्वियों में अग्रणी वह राजा अगर घूप की सुगन्ध से सने उस बिलमार्ग से धीरे धीरे एक कोस तक आगे बढ़ा ॥ ४८ ॥

सिंहदर्शनम्

लग्नसाद्रगजशोणितच्छट्टे शौर्यपावकशिरसाङ्घ्रैरित् ।
केसरैरतिकरालकधरो मार्गमस्य रुन्धेऽथ केमरी ॥ ४९ ॥

सिंहदर्शन

गजों के गाढ़ रक्त से सनी शोभावाली, पराक्रम स्त्री अग्नि की ज्वालाओं के समान दैदीप्यमान सटा (केसर, गर्दन के बालों) वाले, भयानक कंधे वाले एक शेर ने आगे आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ४९ ॥

मुक्तवर्णररम्स रहसा त निशामधिपमभ्यधावत ।
व्याप्तदीर्घदशनास्यकन्दर पूर्णमिदुमिर् सिद्धिकासुत ॥ ५० ॥

गम्भीर गर्जना करके वह सिंह तेजी से राजा की ओर भपटा । उसने अपना बड़े-बड़े दाँतों वाला, गुहा की तरह भयानक जबड़ा खोल रखा था, वह ऐसा मालूम पड़ रहा था, जैसे पूर्णचंद्र को प्रसने के लिए दौड़ने वाला साक्षात् राहु ही ॥ ५० ॥

अर्धचन्द्रमथ तज्जिघासया सन्दधे घनुपि यावदीश्वर ।
तामदस्फुटितकोरक पुरो बालकुदवितप तमैकत ॥ ५१ ॥

उस सिंह को मारने की इच्छा से जब राजा ने अपने अर्धमन्त्राकार बाण को घनुप पर चढाया, तो राजा ने सामने सिंह को न देखकर नयी-नयी अविकसित कलिकाओं वाले एक छोटे से कुन्द के कुञ्ज को देखा ॥ ५१ ॥

त्रिभ्रतो त्रिकटदप्रमाननम् कालमेघराक्तामितत्विप ।
आयतोऽमिमुखमीर्ष्या जवात् तेन वर्त्म मुमुचे न पोत्रिण ॥ ५२ ॥

आगे चलने पर भयानक दाढ़ वाले मुख से युक्त, प्रलयकालीन मेघखण्ड

गजदर्शनम्

किञ्चिदस्य पुस्तोऽथ गच्छत कर्णतालत्रिधुवाल्लिपङ्गितना ।
रुद्ध्यते स्म समदेन पद्धतिर् दीर्घेऽन्तमुसलेन दन्तिना ॥ ५३ ॥

के समान काली आइति वाले, ईर्ष्या से तेजी के साथ सामने से आने वाले सूअर के रास्ते को राजा ने नहीं छोड़ा अर्थात् साहसपूर्वक वहाँ डटा रहा ।

हाथी का दर्शन

तब कुछ और आगे बढ़ने पर ताडपत्र के समान अपने कानों को हिला कर भ्रमर-समूह को उड़ाने वाले दीर्घ मूसल के समान दाँतों वाले मदनोन्मत्त हाथी ने आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ५३ ॥

मन्द्रकण्ठनिनदोऽतिवेगवान् ऊर्ध्ववालधिरुदग्रलोचनः ।

कुण्डलीकृतकरस्तमभ्यगात् स क्रुधा निभृतकर्णपहवः ॥ ५४ ॥

अपने कण्ठ से गम्भीर चिंगाड़ मारकर पूँछ को ऊपर उठाकर, आँखों को भयानक बनाकर, सूँड़ को कुण्डलाकार बनाकर, कानों को निश्चल करके, क्रोध से भरा हुआ वह हाथी तेजी से राजा की ओर बढ़ा ॥ ५४ ॥

यावदङ्कुरितमत्सरोऽभवत् तस्य सम्मुखमधिज्यकार्मुकः ।

तावदैक्षत न स क्वचिद् द्विपं राजगन्धमद(वह) गन्धकेसरी ॥ ५५ ॥

जब राजा को मत्सर अर्थात् क्रोध हो आया, तब अपने धनुष को तानकर उसके सम्मुख हुआ, इतने में उसने देखा कि वह हाथी वहाँ नहीं था । वहाँ पर मदनोन्मत्त गजराजों को मारने वाला सिंह ही उसके सामने था ॥ ५५ ॥

उत्पतन्निपतदग्रतो मुहुर्मुञ्चददृहसितं सहार्चिपा ।

केवलं कपिलकुन्तलं शिरः पश्यतोऽस्य न चमत्कृतं मनः ॥ ५६ ॥

ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, दाँतों की चमक के साथ अट्टहास करते हुए उसके भूरे बालों वाले सिर को देखकर राजा का मन आश्चर्य-चकित नहीं हुआ अर्थात् राजा डरा नहीं ॥ ५६ ॥

एवमादि यदभून्महीपतेरद्भुतं पथि विभीषिकावहम् ।

तद्विभेद निजसत्त्वसम्पदा तिग्मदीधित्तिरिव त्विपा तमः ॥ ५७ ॥

मार्ग में राजा के सामने जब ऐसे भयानक दृश्य उपस्थित हुए, तो राजा ने अपना बल-सम्पत्ति से उन्हें उसी भाँति समाप्त कर दिया, जैसे सूर्य अपने तेज से अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥

सरिदुत्तरणम्

तां ददर्श सरितं सुदुस्तराम् अग्रतोऽथ विलकल्पविन्नुपः ।

स्पर्शतः किल यदम्भसां झटित्यश्मभावमुपयान्त्यसूरयः ॥ ५८ ॥

नदी को पार करना

विल की कल्पना करने वाले राजा ने उस नदी को अत्यन्त विस्तीर्ण तथा दुस्तर पाया । जिसके जल का स्पर्श करते ही साधारण लोग पत्थर की भाँति अचल से हो जाते थे

विमर्श—अर्थात् उसके पानी के पार जाने में किसी की बुद्धि काम नहीं करती थी । बड़े-बड़े तैराकों की हिम्मत वहाँ टूट जाती थी ॥ ५८ ॥

मारुतैरपरपारनुन्नया प्राशुपशक्ततया स सानुग ।

तामलङ्घयद्योपगृह्यथा जन्मभीतिमिव योगविद्यया ॥ ५६ ॥

वायु क द्वारा इस पार से उस पार तक मुक्तायी गयी लम्बी बाँस की छत्ती के सहारे राजा ने अपने अनुचर रमागद के साथ उस नदामार्ग को ऐसी शीघ्रता से पार कर दिया, मानो योगविद्या के बल से उसने अपनी जन्मजात जन्म मरण की भीति को ही पार कर लिया हो ॥ ५६ ॥

नगरदर्शनम्

प्रस्थितस्तदनु सोद्यम पुरः सोऽथ साहसवता पुरस्सर ।

निमित्त मणिमयूपल्लनैरलिमातपगिष व्यलोकत ॥ ६० ॥

नगरदर्शन

इतना उद्यम करके वह साहसी वीरों में अग्रगण्य राजा जब उस नागलोक में पहुँचा तो उसने उस नगर को मणिकिरणरूपी पत्तों से निर्मित बालमूर्य के समान देखा ॥ ६० ॥

इन्द्रनीलकपिशोर्षक तत सोऽभित स्फटिकसालमैक्षत ।

सायशेषनलनीलकोटिभि शारदैर्घटितमम्बुद्वैरिव ॥ ६१ ॥

तब उसने इन्द्रनील मणियों से जड़े हुए स्फटिक शला से निर्मित प्राकारों को देखा, जिन्हें देखकर यह आभास हुआ, मानो कुछ उंचे हुए जन की नीली पक्तियों से भरे हुए शरदकालीन मेघ से ही गने हों ॥ ६१ ॥

उत्पताकमणितोरणाङ्कित मण्डित कनकपल्लवस्त्रजा ।

क्लिञ्च काञ्चनकपाटसम्पुट तत्र गोपुरमपश्यदीश्वर ॥ ६२ ॥

जो पताकाओं की तरह पहराने वाले मणियों के तोरण से सुशोभित था, जिस पर स्वर्णपत्रों के बदनवार सजाये हुए थे, जिसके किवाड भी सोने ही के बने थे, ऐसे उस नगर के सिंहद्वार को राजा ने देखा ॥ ६२ ॥

विस्मयेन त्रिषयीकृत पुर तेन सोऽत्रिशदघन्तियासव ।

निर्वृते पदमिरोऽज्ञितावनि सूर्यमण्डलपथेन योगयान् ॥ ६३ ॥

विस्मय के बशीभूत वह राजा (रमागद के साथ) उस पुर में प्रविष्ट हुआ, जैसे कोई योगी अपनी योग सिद्धियों से धरती को छोड़कर सूर्यमार्ग से परमपद तक चला जाता है ॥ ६३ ॥

तत्र वैद्रुमगजाक्षमूर्च्छित हेमहर्म्यमयलोकते स्म स ।

मेरुपृङ्गमिव धातुताम्रया सध्वया कृतपद् कचिन् कचिन् ॥ ६४ ॥

राजा ने उस नगर में जहाँ तहाँ गौरकादि धातुओं से ताम्र वर्ण की (लाल) सध्या से युक्त, सुमेरु पर्वत की चोटियों की भाँति ऊँचे तथा मूँगों से अटित खिड़कियों वाले विशाल महल को देखा ॥ ६४ ॥

अग्रतः स च यशोभटोऽविशन् सोऽथ कौतुकहृतस्तद्गणम् ।

इन्द्रनीलमणिकान्तिमेचकं व्योम सारूण इवोष्णदीधितिः ॥ ६५ ॥

तत्र इन्द्रनील मणियों की कान्ति से चित्रित उस मकान के आंगन में यशोभट (रमांगद) के साथ वह राजा अत्यन्त कौतूहल के साथ उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ, जैसे नीले आकाश में अरुण के साथ सूर्य आता है ॥ ६५ ॥

पद्मरागरचितालवालका वेदि'कामणिविटङ्कविस्तृता ।

तेन तत्र दृष्टो कुतूहलाद् अन्तिके कनकमाधवीलता ॥ ६६ ॥

पद्मराग मणियों से जिसके चारों ओर क्यारियाँ बनायी गयी थीं, तथा चौतरे की मणियाँ जिसकी कपोतपाली तक फैली हुई थीं, ऐसी समीपवर्तिनी स्वर्ण की बनी माधवी लता को राजा ने बड़ी उत्सुकता से देखा ॥ ६६ ॥

स्त्रीदर्शनम्

तत्तले स्थितिमुपेयुषा श्रमान तेन काचिदवला व्यलोकत ।

निर्गता झटिति हेमवेश्मतः श्रीः मूर्वर्णकमलोदरादिव ॥ ६७ ॥

एक स्त्री के दर्शन

यके होने के कारण वह उस माधवीलता के नीचे बनी हुई उस वेदी पर बैठ गया । तब उसने एक स्वर्ण-भवन से निकली हुई एक स्त्री को ऐसे देखा, मानो स्वर्णकमल से लक्ष्मी निकल रही हो ॥ ६७ ॥

अंशुकेन शरदिन्दुवन्धुना त्यागितैव यशसाऽवभासिता ।

कान्तिमत्यधरनीलवाससा यामुनेन पयसेव जाह्नवी ॥ ६८ ॥

उसका अधोवसन नीलवर्ण का था तथा उत्तरीय आँचल शरदकालीन चन्द्रमा की भाँति श्वेत था । किसी द्वारा त्यक्त शुभ्र यश से भी वह सुशोभित थी । वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे यमुना के जल के मिश्रण से नील आकृति वाली जाह्नवी हो ॥ ६८ ॥

वन्धुजीवकृमुदच्छवीमुखे विभ्रतीव कुरु'विन्दकुण्डले ।

शर्वरीव सितपक्षपर्वणः शीतदीधितिपतङ्गमण्डले ॥ ६९ ॥

गुलदोपहरी के समान रक्तवर्ण वाले मुखवाली, मेघ पुष्प के कुण्डलों को धारण की हुई उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे शुक्लपक्ष की रात्रि चन्द्रमण्डल तथा सूर्यमण्डल दोनों को धारण किये हुए हो ॥ ६९ ॥

शोभिता किमपि हारलेखया भिन्नखेलमतिलोलयोरसि ।

तत्क्षणस्फुटितकुन्दशुद्धया गन्धवाहपदवीव गङ्गया ॥ ७० ॥

१. स्यात् वितर्दिस्तु वेदिका—अमरकोश ।—चवृतरा

२. कुरविन्दो मेघनामा मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्—अमरकोश । मोथा ।

जो इनर उधर हिलकर मानो झीटा कर रहा था, ऐसे उस हार की नित से वह अत्यन्त सुशोभित हुई, जैसे अभी-अभी विकसित कुन्द के फूलों के समान श्वेत, गंगा की तरंगों से शीतल पवन की पक्ति शोभित थी है ॥७०॥

आननेन ललिताक्षिपद्मणा निर्यदुज्ज्वलम्पोलकातिना ।
 कुर्मताम फणिलोकमहित यामिनीतिलकविदुनेदुना ॥ ७१ ॥
 सुन्दर पलकों वाली आँखों से उसका मुख शोभित था, गालों से श्वेत तिलक निकल रही थी । वह उसका मुख रात्रि का तिलक विदुभूत चन्द्रमा तरह मालूम पड़ रहा था । ऐसे अपने उस चन्द्रमुख से वह पाताललोक मानो अलङ्कृत कर रही थी ॥ ७१ ॥

पुष्पदाम दधती सपदपद दक्षिणेन शशिपाण्डुपाणिना ।
 साक्षत सदधिदुर्वयाञ्चित हेमपात्रमितरण त्रिभ्रती ॥ ७२ ॥
 चन्द्रमा की तरह स्वच्छ दायें हाथ से भ्रमरों से युक्त पुष्पमाला धारण करने वाली, और बायें हाथ से दही से सनी दूब से युक्त स्वर्णपात्र को धारण करने वाली उस स्त्री को राजा ने देखा ॥ ७२ ॥

तन्निरीक्षणसन्निभय तत पार्थिव जनितकौतुहलं शुरु ।
 इत्युपायं मणिपञ्जरे स्थितो बालचूतप्रिटाप्रलम्बिनी ॥ ७३ ॥
 जब राजा उसे देखकर आश्चर्य में पड़ गया, तब एक छोटे से धाम कट की शाखा पर टँगे हुए मणिमय पिण्डों में स्थित एक तोते ने उसके तूहल को और भी बढ़ाते हुए राजा से कहा ॥ ७३ ॥

शुरुवाच्यम्

सत्क्रिया रचयितु त्वातिथेर्नर्मदा भगवतीयमुद्यता ।
 श्लाघनीयचरितो जगत्त्रये कस्य नासि त्रहुमानभाजनम् ॥ ७४ ॥

तोते का कथन

हे राजन् ! तुम जैसे अतिथि का सत्कार करने के लिये यह साक्षात् भगवती नर्मदा ही उद्यत हैं । तीनों लोकों में प्रशस्तनीय चरित्रवाले आप भला कैसे सम्मान के पात्र नहीं हैं ? अर्थात् आप सभीके आदरपात्र हैं ॥ ७४ ॥

देव पद्मगवधूभिस्ज्वल वल्लकी कलरव प्रियै सह ।
 मल्लिकाधवलमत्र गीयते केलिरत्नभरणेषु ते यश ॥ ७५ ॥
 हे देव ! नागकन्याओं अपने प्रियकरों के साथ मल्लिकापुष्प के समान श्वेत तुम्हारे यश को इन रत्ननिर्मित झीटापट्टों में धीशा बजा बनाकर गाया करती हैं ॥ ७५ ॥

दुर्मना नृप पथाऽमुना गता सा विलासवसतिः शशिप्रभा ।

तत्सखीजनकथान्वयश्रुतेयुर्गमदागमनमूहितं मया ॥ ७६ ॥

हे नृप ! वह विलासिनी शशिप्रभा अभी-अभी दुखी मन से इसी रास्ते से गई है । उसकी सखियों द्वारा तुम्हारी कथा सुनकर ही मैंने तुम्हारे यहाँ आने का अनुमान किया है ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारे विषय में मैंने यह जान लिया कि तुम वही हो, जिसकी चर्चा शशिप्रभा की सखियाँ कर रही थीं ॥ ७६ ॥

दुर्लभोऽयमतिथिर्ममापि तन् गृह्यतामुचितया सपर्यया ।

पार्थिवो हि नवसाहसाङ्ग इत्यप सीयकनरेन्द्रनन्दनः ॥ ७७ ॥

सीयकनृपति के पुत्र राजा नवसाहसाङ्ग जैसा अतिथि मिलना तो मेरे लिये भी दुर्लभ है । अतः मेरी यह अतिथि-सेवा भी ग्रहण कीजिए ॥ ७७ ॥

पेशलोक्तिनिपुणस्य पक्षिणस्तस्य गामिति निशम्य सस्मितः ।

तामथ प्रणमति स्म निम्नगाम् इन्दुसूतिमवनीन्दुराहतः ॥ ७८ ॥

मृदुभाषण करने में चतुर उस तोते की ऐसी वाणी सुनकर चकित हँसते हुए राजा ने आदरपूर्वक (शरीरधारिणी) उष नर्मदा नदी का प्रणाम किया ॥ ७८ ॥

कुलकम्

नर्मदाकृतः सत्कारः

कारितासनपरिश्रंहे पुरो भूपतावपचितिं विवाय सा ।

आस्त मौक्तिकशिलातले ततश्चेतसीव सुकवेः सरस्वती ॥ ७९ ॥

कुलक

नर्मदा द्वारा राजा का सत्कार

प्रथम राजा को आसन पर बिठाकर, उसकी अर्चना (आरती) इत्यादि कर, वह नर्मदा मुक्तानिर्मित शिलातल पर उसी तरह बैठी, जैसे सुकवि के चित्त में सरस्वती बैठ जाती है ॥ ७९ ॥

स्थित्वाथ किञ्चित्तभवन्तिनाथम् अपच्छदच्छन्नकुतूहला सा ।

निवेद्यतां मानवदेव कस्मान् अलंकृता भूमिरियं त्वयेति ॥ ८० ॥

बैठने पर कुछ काल ठहरने के बाद जिसका कुतूहल अभी शान्त नहीं हुआ था, ऐसी नर्मदा ने भवन्तिनाथ (नवसाहसाङ्ग) से पूछा कि महाराज ! निवेदन कीजिये, आपने किस प्रयोजन से इस भूमि को अलंकृत किया अर्थात् आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ? ॥ ८० ॥

तस्यै शशस निजमामृगयाविहारात्
वृत्तान्तम"तविरस स प्रिशुद्धवृत्ति ।

का"तास्मृतिप्रमभरुण्टन्निताङ्गनात
लज्जावनम्ररदनो नरसाहसाङ्क ॥ ८१ ॥

इति श्रीमृगाकदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये नागलोकावतारो
नामाष्टम सर्ग ॥ ८१ ॥

उस शुद्ध हृदय वाले राजा ने अपने शिकार खेलने के वृत्तांत से लेकर शशिप्रभा के लोप होने तक का सारा हुआ वृत्तांत कह सुनाया । अपनी प्रिया की स्मृति आने से उसके शरीर के प्रत्येक भाग में रोमाञ्च हो रहा था । अतएव लज्जा के कारण उसने सिर नीचा कर लिया था ॥ ८१ ॥

श्री मृगाकदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित
नवसाहसाङ्कचरित का आठवाँ
सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥



अथ नवमः सर्गः

नर्मदावाक्यम्

अथ स्वरेणांगणदीर्घिकाणां संवाहयन्ती बलहंसनादम् ।
तमित्यवन्तीश्वरभावभासे सा मेकलक्ष्माधरराजकन्या ॥ १ ॥

नर्मदा के वचन

अपने आंगन की बाधाओं में रहने वाले हंसों की कलकण्ठ ध्वनि के समान मधुर ध्वनि से मेकल पर्वत की पुत्री उस नर्मदा ने स्वेच्छापूर्वक उस अवनतीश्वर सिन्धुराज से कहा ॥ १ ॥

नास्य क्षितीशोपकृतं जनस्य कियन् तया पन्नगराजपुत्रया ।

यस्याः कृते सम्प्राप्त भूपितेयं भूमिस्त्वया भूशशलाञ्छनेन ॥ २ ॥

हे राजन् ! जिसके लिए धरती के चन्द्रमास्वरूप तुमने इस भूमि (नागलोक) को अलंकृत किया है, उस नागराजकन्या ने क्या हमारे जैसे जन पर बहुत बड़ा उपकार नहीं किया है ? अर्थात् किया है ॥ २ ॥

इदं नृप त्वामवलोक्य जातं मनः प्रमोदेन ममास्वतन्त्रम् ।

नो कस्य लोकत्रयसन्मतानां भवेन् सतां सङ्गतमुत्सवाय ॥ ३ ॥

हे नृप ! तुम्हें देखकर मेरा यह मन प्रसन्नता से परवश हो गया है । तीनों लोकों में माननीय आप जैसे सजनों का समागम (संगति) भला किस आनन्दित न करेगा ? ॥ ३ ॥

अद्यैप कस्यापि मया शुभस्य त्वदर्शनेनानुमितो विपाकः ।

आतिथ्यमक्षणोः कथन्नन्यथैवम् आयान्ति रत्नानि भवद्विधानि ॥ ४ ॥

ऐसा लगता है कि आज मैंने अपने किसी पुण्यकर्म का यह फल पाया है कि आप जैसे व्यक्ति का दर्शन मुझे मिला । अन्यथा आप जैसे रत्न नेत्रों के आतिथ्य को कैसे प्राप्त हो सकते थे ॥ ४ ॥

स वत्स, जाते जनकः कृतात्मा सा पुण्यमूर्तिर्जननी जगत्सु ।

महीकलापोद्बहनादिपात्रो पुत्रो ययोस्त्वं नरलोकपालः ॥ ५ ॥

हे प्रिय राजा ! वह तुम्हारा पिता बड़ा पुण्यात्मा होगा और तुम्हारी वह माता भी तीनों लोकों में पुण्य की मूर्ति होगी, समस्त पृथ्वी के भार को धारण करने की योग्यता वाले तुम जैसा राजा जिनका पुत्र है ॥ ५ ॥

रूपेण तेजस्वितया जवेन प्रियवदत्वेन तवामुना च ।

दिलीप-दुष्यन्त-भगीरथादीन् तानादिराजान् झटिति स्मरामि ॥ ६ ॥

तुम्हारे इस सौन्दर्य, तेजस्विता, नम्रता और प्रिय रुभायण से मुझे एकाएक दिलीप, दुष्यन्त और भगीरथ आदि प्राचीन राजाओं की याद आ जाती है ॥ ६ ॥

समानभावैस्त्रिभिरेव मन्ये समुद्रनेमिर्मुधा धृतेयम् ।

भुजङ्गमेद्रेण च मेरुणा च टोष्णा च मौर्वीकिणशोभिना ते ॥ ७ ॥

मैं समझती हूँ कि तुम तीनों ने समान भाव से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का भार अपने ऊपर उठा रखा है—सर्पराज शेषनाग, मेरु पर्वत, और धनुष की प्रत्यन्ता से जिसमें घट्टे पड़ गये हैं, ऐसी तुम्हारी भुजा ने ॥ ७ ॥

त्वयि स्थिते सम्प्रति जागरूके जगद्विद्येत्प्रप्यप्रधृतचित्त ।

धरोति नेत्रे भगवान्मैमि स योगनिद्रामुमुले मुकुन्द ॥ ८ ॥

ऐसा लगता है कि तुम्हारे सजग होने के कारण ही जगत् की वस्तुओं के नियम में निश्चित होकर भगवान् विष्णु भी मानो अब योगनिद्रा में आँसु पड़ कर हुए हैं ॥ ८ ॥

न क्रिञ्चिदिद्वेषाकुमुलापतीर्णात् रथाङ्गपाशे परिहीयते ते ।

अजायताम्भोनटशा त्रियोगो वने यथा तस्य तथा तथापि ॥ ९ ॥

द्वेषाकु वश में उत्पन्न होने वाले विष्णु (राम) से तुम किसी भी बात में कम नहीं हो । अर्थात् इस समय तुम्हारी स्थिति ठीक उन्हीं की तरह है । जैसे उनको वन में कमलनयनी सीता का त्रियोग सहना पड़ा, वैसे ही तुमको भी शशिप्रभा का त्रियोग हो गया है ॥ ९ ॥

अट्टत्रिमोऽय गुण्यमु जाने जात्यैव ते पार्थिव पक्षपात ।

या प्रौढलाजण्यमुधास्त्रयत्या तथा विना चेतसि ताम्यसीत् ॥ १० ॥

विदित होता है कि गुणशालिनी वस्तुओं से तुम्हारा स्वाभाविक प्रेम है । इसीलिए तो अत्यधिक सौन्दर्यामृत का स्नान करने वाली उस शशिप्रभा के त्रियोग में तुम अतने दुःखी हो रहे हो ॥ १० ॥

अल विपादेन घनादिरूढा ललामभूता जगतोऽस्त्रिलस्य ।

तवाङ्कमभ्येप्यति साचिरेण शशिप्रभा पार्थिवकैरदम्य ॥ ११ ॥

हे वृषति ! तुम ही न होओ, सारे विश्व में श्रेष्ठ सुन्दरी, मेघमण्डल में प्रसिद्ध शशिप्रभा के समान यह शशिप्रभा भी उसी भाँति तुम्हारे पास आयेगी, जैसे चंद्रकांति श्वेतकमल के पास जाती है ॥ ११ ॥

इतोऽद्य याता पुरतो मया सा दृष्टा भुजङ्गाधिपतेस्तनूजा ।

उदम्रभोगैरहिभि परीता लतेः तयी हरिचदनरय ॥ १२ ॥

हरिचदन की लता की भाँति मयानक पखा फैलाये हुए सर्पों से घिरी हुई उस नागराजपुत्री शशिप्रभा को मैंने आब दधर से ही जाते हुए देखा है ॥ १२ ॥

उदण्डहेमान्धुरहासु खेलन् एतासु लीलागृहदीर्घिकासु ।

समुत्कयन्ती कलहंसयूथम् आमञ्जुना नूपुरसिञ्चितेन ॥ १३ ॥

महाराज ! वह शशिप्रभा लम्बे मृणाल वाले स्वर्णकमल जिसमें शोभित थे, ऐसी क्रीडागृह की इन वावाड़ियों में किलोल करने वाले हंस-समूह को अपने पैजान की अत्यन्त मंजुल आवाज से समुत्सुक करती हुई इधर ही से गयी है ॥ १३ ॥

व्यापारयन्ती वलिताननेन्दुः पश्चाद् दृशो केतकपत्रदीर्घे ।

इतस्ततः शून्यतयास्खलन्ती समेपि मार्गे ददती पदानि ॥ १४ ॥

कभी कभी अपना मुखचन्द्र मोड़ कर जब वह केवड़े के पत्रों के समान अपनी तीखी नजर से पीछे घूमकर देखती थी, तब उस समय शून्य हृदय होने से वह सममार्ग पर भी ठोकर खाती हुई चल रही थी ॥ १४ ॥

विस्त्रस्तमाल्यां श्लथवन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कवरीं वहन्ती ।

कलिन्दकन्यामसृणोर्मिनीलां निस्त्रिशलेखामिव मन्मथस्य ॥ १५ ॥

वेणी में जो माला गुंथी थी, वह ढीली हो जाने से वेणी छूट गयी और कंधों पर लटकने लगी । कंधों पर लटकती हुई उस वेणी से वह ऐसी सुशोभित हुई, मानो यमुना की सिन्धु-श्यामल लहर के समान नील वर्ण की काम की खङ्गलेखा को कन्धे पर लिए चल रही हो ॥ १५ ॥

मुखं निशाघ्रातमिवारविन्दं विपाद्वीतप्रभमुद्वहन्ती ।

विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥ १६ ॥

दुःख के कारण जिसपर की कान्ति नष्ट हो गयी थी, ऐसे और सन्ध्या-कालीन मुरभाये हुए कमल के समान मुखवाली वह दीर्घ उष्ण श्वास ले रही थी, जिससे उसके लाल अधरोष्ठ की कान्ति भी नष्ट हो रही थी ॥ १६ ॥

उन्मोचयन्तीमलकाग्रमेत्य लगनं चलत्कुण्डलरत्नकोटौ ।

किमप्युदञ्चदशानांशुलेखा सखीं शनैस्सस्मितमालपन्ती ॥ १७ ॥

और कभी-कभी उसके चंचल रत्नकुण्डलों में उलभते हुए उसके बालों को जब उसकी सखी सुलभाया करती है, तब अपनी दन्तकान्ति को बिखेरती हुई वह उससे मन्दसुस्कान के साथ धीरे-धीरे कुछ कहती रहती ॥ १७ ॥

सुधासितं क्षौममिवास्तृतं तं नखांशुरेखावलयच्छलेन ।

कृतं दधानोपरि पाणिपद्मम् उदग्रकम्पस्य कुचद्वयस्य ॥ १८ ॥

अत्यन्त कम्पित अपने दोनों कुचों पर जब वह अपने कर-कमल को रखती थी, तब ऐसा मालूम पड़ता था जैसे उसके नखों की किरणों की गोलाई के बहाने कुच पर सुधा की तरह श्वेत दुकूल डाल दिया हो ।

निर्माणा—अपने कुर्चों पर उसने अपना हाथ जो रखा, उसमें से जो किरणें गोलार्द्ध में निकल रही थीं, वह ऐसी मालूम पड़ रही थीं, जैसे स्तनों को टँकने के लिए अत्यन्त सफ़ेद कपड़ा ही डाल दिया हो ॥ १८ ॥

गतानि सद्यः श्लथता सखीभिर्विहस्य साकृतविलोकितानि ।
क्रमेण किञ्चिन् प्रतिसारयन्ती त्रिलज्जमाना मणिकङ्कणानि ॥ १९ ॥
कभी कभी जब उसकी सर्पियाँ उसकी दुर्बल कलाइयों पर ढीले पड़े मणि ककण को देखकर मन ही मन हँस उठतीं, तब लज्जित होती हुई थी वह किसी प्रकार उन ककणों को मेँभालती हुई दिखाई देती ॥ १९ ॥

अशोकपुष्पप्रथिता दधाना प्रालम्बमालामप्रलम्बमध्या ।
आरोपितज्येय जगज्जयाय म्वचापलेखा मकरध्वजेन ॥ २० ॥
इह कृशोदरी अशोक पुष्पों से गुँथी हुई उदरभागतक टँकने वाली लम्बी माला को पहनकर जब चलती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जगत् विजय के लिए काम ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा चढा ली हो ॥ २० ॥

आर्द्रघ्रणाङ्गस्य कृपात्रिचिन्ता केलीमृगम्य स्त्रयमेव तस्या ।
आचुम्बती पाण्डुकपोललेख प्रतसदूर्वाङ्कुरमपयती ॥ २१ ॥
दयावती वह न गीन जन (घाम) युक्त श्रीढामृग के पीले गालों को चूमती हुई और अपने कर्णाभरण में दूर को निकाल कर उसे खिलाया करती है ॥ २१ ॥

मार्गेषु स्ढासु निरूढभावात् द्विरेफसम्पातसमाकुलाऽपि ।
लतासु पुष्पावचयच्छलेन पदे पदे घत्स त्रिलम्बमाना ॥ २२ ॥
भ्रमर समूह से यद्यपि उसे दुरुप उठाना पड़ रहा था, किन्तु मार्ग में पड़ने वाली लताओं के प्रति स्नेहवश वह फूल तोड़ने के बहाने उनके पास कुछ देर तक ठहर जाया करती है ॥ २२ ॥

त्वदायविश्लेषमवाप्य बाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिर्वृतेव ।
भवाद्दशामेवपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो दुनोति ॥ २३ ॥
तुम्हारे वियोग को पाकर यह बेचारी कुछ अशान्त मनवाली सी जान पड़ती थी । आप जैसे का एकाएक होने वाला वियोग मन्ना किसके मन को दुखी न बना देगा ॥ २३ ॥

पृथुप्रतापस्सप्रिता यथैव यथा क्लाना निधिरोपधीश ।
यथा वसन्त सुमनोनुकूलस्तथाऽसि भूमि स्पृहणीयताया ॥ २४ ॥
प्रचण्ड प्रतापी सूर्य, सपूर्ण कलाभा का आकर चन्द्रमा और पुष्पों के लिए अनुकूल वसन्त को जैसे सभी चाहते हैं, वैसे ही आप को भी सभी चाहते हैं ॥ २४ ॥

नायकाव्यम्

इति क्षितीश्वरत्रिभुक्तिपेयाम् उदीर्य वाचं विरराम रेवा ।
स च स्मितद्योतितदन्तमेवम् उवाच तां मध्यमलोकपालः ॥ २५ ॥

नायक के वचन

इस प्रकार राजा के सीप के समान कानों से पी जाने वाली वाणी कह कर रेवा मौन हो गई । तब मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए भूपति ने उससे कहा ॥ २५ ॥

स्थाने यदाह्लादयसि प्रपन्नं पीयूषधारामधुरैर्वचोभिः ।

सुधैकसूतिस्स यदाकरस्ते चण्डीशचूडाभरणं शशाङ्कः ॥ २६ ॥

तुम जो इस प्रकार के अमृत की धारा के समान मधुर वचनों से मुझ दुखी को प्रसन्नतापूर्वक आनन्दित कर रही हो, यह तुम्हारे योग्य ही है, क्योंकि शिव के शिर का भूषणभूत तथा अमृत को उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही तो तुम्हारा जनक है ॥ २६ ॥

ऋजुः प्रकृत्यासि परं तदम्ब वीचीपु पर्याप्तमनार्जवं ते ।

न केवलं सा पयसि प्रसक्तिरालक्ष्यते ते व्रत मानसेऽपि ॥ २७ ॥

हे माता ! यद्यपि तुम सरल स्वभाव की हो, पर तुम्हारी लहरों में अत्यन्त देहापन है । यह बात तुम्हारे पानी में ही नहीं, मनमें भी है, ऐसा मुझे लगता है ॥ २७ ॥

या जूटमध्ये च शशाङ्कमौलेरुन्निद्रकुन्दरुगिवाऽवभाति ।

तामप्यतीव त्रिजगत्प्रतीच्यां त्रिःश्लोतसं पुण्यतयाऽतिशेपे ॥ २८ ॥

विकसित कुन्दपुष्पों की माला के समान जो शिवजी की जटाजूट में शोभा पा रही है, उस तीनों जगत की वन्दनीया गंगा को भी तुमने अपने पुरखों से जीत लिया है ॥ २८ ॥

या साऽस्य शक्तिः प्रसराम्बुपङ्के त्वया वृता धर्मविहारवीथिः ।

सलीलमुद्गलकुलाचलेयं मही महासूकरदंष्ट्र एव ॥ २९ ॥

तुमने कैले हुए जल के कीचड़ में भी धर्मचारियों के विचरण का मार्ग बना दिया है । तुम्हारे ऊपर इस पृथ्वी का भार ऐसे मालूम पड़ता है, मानो महापर्वतोंवाली पृथ्वी को बराहावतार ने अपनी ठुड्डी पर रखा हो ॥ २९ ॥

भवाद्दशीनां महतां नदीनाम् अद्रिर्जगत्यस्तमितोपसर्गे ।

सुखं सदैवामुरजिन् समुद्रं निद्राति पर्यङ्कितपन्नगेन्द्रः ॥ ३० ॥

आप जैसी नदियों के पुरखजल से समस्त संसार का उत्पात नष्ट हो जाने

पर देखो को भीतने वाले भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या पर सुख से सोते रहते हैं ॥ ३० ॥

वसन्तमयम्न भयि प्रसन्ना सम्भावनाभारमहो निधत्से ।

अस्त्येव भक्तेष्वतिप्रसलत्वाद्बलाद् गुणारोपणशैतुक ते ॥ ३१ ॥

प्रसन्न होकर ही तुम मुझ अयोग्य पर इतनी कृपा और आदर का भार धर रही हो । भक्तों के प्रति अति वात्सल्यभाव के कारण ही तुम उनमें हठात् गुणों का आरोप करने के लिये उत्सुक रहती हो ॥ ३१ ॥

विमर्श—अथात् भक्त बेचारे कुछ योग्य भी नहीं होते, पर तुम अपनी वात्सल्य दृष्टि के कारण ही उन्हें गुणशाली समझने लगती हो ॥ ३१ ॥

अनेनमेकोऽपि हृदि प्रहर्षन्तत्र प्रसादातिशयेन जात ।

अनार्द्रतामिन्दुमरीचिसरये कियन्चिर चन्द्रमणिबिम्बिति ॥ ३२ ॥

तुम्हारी इस अत्यन्त दयादृष्टि के कारण मेरे हृदय में बड़ी प्रसन्नता हो रही है । भला चन्द्र की किरणों का सम्पर्क पाकर चन्द्रकान्तमणि कब तक न पिग्लेगी ॥ ३२ ॥

त्रिधाय त्तादृशमिन्द्रजाल सा येन नीता फणिराजकन्या ।

अपश्यतो हेतुमिदोपपन्न किमप्यहो विम्मयते मनो मे ॥ ३३ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि इस प्रकार का इन्द्रजाल रचकर उस नागराजकन्या को कौन कहाँ ले गया । उसका कुछ भी कारण मैं नहीं देख पाया, अतः यहाँ आया हूँ ॥ ३३ ॥

अज्ञानमस्मिन्विषये किमयत् ममैतदर्हस्यपनेतुमम्ब ।

दिनान्तसम्मूर्च्छितमन्धकारं निशामुत्स्येव शशाकलेरा ॥ ३४ ॥

हे अम्बा ! और क्या कहें । इस सम्बन्ध में मेरा अज्ञानान्धकार तुम्हीं दूर कर सकती हो । क्योंकि प्यारना में ही वह शक्ति है कि वह निशामुख अर्थात् सायकाल का पना अन्धकार दूर कर दे ॥ ३४ ॥

पुनर्नर्मदायाम्यम्

उक्त्वेति तूष्णीमभवन्सोम मा सोमसूतिम्सरिदित्युत्राच ।

अत्रेतिवृत्त कथयाम्यत्रोप निशम्यता मालप्रलोम्पाल ॥ ३५ ॥

पुन नर्मदा का कथन

इतना कहकर राजा के मौन हो जाने पर पुन चन्द्रपुत्री नर्मदा नदी ने उसमें कहा कि मैं हमसे सम्बद्ध सारा वृत्तांत आपको सुनाती हूँ, आप सुनें ॥

गृहदेवतायाच

यदैव सा तजितचन्द्रकान्तिरजायते दीवरपत्रनेत्रा ।

चित्रस्थिताना गृहदेवतानामिति स्फुरन्ति स्म तदैव वाच ॥ ३६ ॥

गृहदेवताओं के वचन

हे राजन् ! चन्द्रमा की कान्ति को निज कान्ति से जीतनेवाली उस शशिप्रभा के पैदा होने पर गृहभित्तियों पर बने गृहदेवताओं की वाणी स्पष्ट रूप से सुनाई दी अर्थात् शशिप्रभा के जन्म लेते ही प्रसूतिगृह की भीतों पर बनी गृहदेवताओं ने मानव वाणी में इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

रत्नाकरत्वं भुजगेन्द्र जातं कन्या तव श्रीः शुभलक्षण्येयम् ।

वक्षःस्थलं मध्यमलोकभर्तुर्विभूषयित्री पुरुषोत्तमस्य ॥ ३७ ॥

हे नागराज ! तुम को तो समृद्धत्व प्राप्त हो गया है, क्योंकि तुम्हारी यह शुभ लक्षणों वाली कन्या साक्षात् लक्ष्मीस्वरूप ही है। यह किसी पृथ्वी-पालक पुरुषोत्तम राजा के वक्षःस्थल को सुशोभित करेगी ॥ ३७ ॥

भुजङ्गवंशार्णवकौमुदीयम् इयं पताकाऽस्य रमातलस्य ।

उपागतेयं निधनाग्रदूती वज्रांकुशस्यासुरपुङ्गवस्य ॥ ३८ ॥

यह नागवंश रूपी समुद्र में उत्पन्न होने वाली चन्द्र की चाँदनी सी है। यह इस नागलोक की ध्वजा है। यह वज्रांकुश नामक श्रेष्ठ दैत्य की मृत्यु की अग्रदूती बन कर आई है। अर्थात् यहाँ यह जो शशिप्रभा के रूप में आई है, इसीके कारण वज्रांकुश मारा जायगा ॥ ३८ ॥

स्ववीर्यपर्यस्तपुरन्दरेण तेनासुरेन्द्रेण कदर्थितस्य ।

तेजश्चिरादुच्छ्वसितं तदाऽभून् इति श्रुते भोगभृतां कुलस्य ॥ ३९ ॥

गृहदेवता की उपर्युक्त बात सुनकर संव्रत नागकुल ने अपने पराक्रम से इन्द्र की भी परास्त करनेवाले दैत्यराज वज्रांकुश के द्वारा बहुत दिनों के बाद छुटकारे की साँस ली ॥ ३९ ॥

तद्देहकान्तिस्तिमिरं व्यनैपीत् यदत्र मोषीकृतरत्नदीपा ।

पित्रा तदस्याः कृतमर्थयुक्तम् आह्लादनं नाम शशिप्रभेति ॥ ४० ॥

इसकी देह की कान्ति ने पाताललोक के अन्धकार को मिटा दिया, और यहाँ के रत्नदीपो को (अपनी प्रभा से) बेकार कर दिया। इसलिए इसके पिता ने इसका सार्थक और आनन्ददायक 'शशिप्रभा' नाम रखा ॥ ४० ॥

ततस्सुधासूतिकराभिरामैर्गुणैः परीता सहजन्मभिः सा ।

शनैः शनैर्वृद्धिमवापदत्र रसातले वालमृणालिकेव ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा की गुण किरणों के समान जन्मजात सुन्दर (आह्लादकत्वादि) गुणों से परिपूर्ण वह शशिकला पाताललोक में उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगी, जैसे जन्मजात तन्तुओं से युक्त कोमल मृणालिका बढ़ती है ॥ ४१ ॥

शशिप्रभापितुः प्रतिज्ञा

यदर्थिताऽभूदनुजडमानसै सुरेश्च सिद्धेश्च महोरगेश्च ।

तेषां पुरस्तादकृतं व्यग्रस्थाम् इत्येकदा सप्तदि पन्नगेन्द्र ॥ ४० ॥

शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा

जब वह नवयुग्मी हां गई, तब उसके रूप पर मुग्ध हुए देवतागो, सिद्धा और महाप्रतापी नागों ने उसको (पाणिग्रहण के लिए) मांगने की इच्छा की । तब उनके सामने ही एक बार सभा में नागराज ने ऐसी प्रतिज्ञा की ॥ ४० ॥

गुमाभितो यत्त्रिदशारिवीरेर्ज्जाडकुशारयस्य महामुरम्य ।

असूत लीलागृहदीधिकेह हंस हरेर्नाभिरिभारिन्दम् ॥ ४१ ॥

उस पाताललाक में चारा ओर में वज्राकुश नामक महाराज्म क वीरों से रक्षित लीलागृह की प्राप्ति ने एक स्पर्णकमल पैदा किया है । वह ऐसा लग रहा है, मानो विष्णु की नाभि में निकला हुआ स्पर्णकमल हो ॥ ४१ ॥

आनीय तद्यो दुहितुर्ममास्या वर्णावतमप्रगथीकरोति ।

तन्म्येयमिध्यासभृत कलत्र पार्यस्य पाञ्चालनृपात्मजेत् ॥ ४२ ॥

जो कौड़ उस स्पर्णकमल को लेकर मेरी पुत्री के कानों को अलङ्कृत कर देगा, वह जैसे धनुर्वर अर्जुन ने पान्चालराजपुत्री द्रौपदी का पाया था, वैसे ही हमें भी स्वीकार न पायेगा ॥ ४२ ॥

कुलक

तेनैवमुज्जते च तदा परेषु तमयंमज्जोक्तमात्र कोपि ।

वन्यद्विपादुद्गतदानराजे क कुम्भमुस्ताफलमाददीत् ॥ ४५ ॥

उसके इस प्रकार कहने पर उनमें से किसीने भी उस कार्य को नहीं उठाया । जिसने गण्डस्थल से मद्गज की धारा उड़ रही है, ऐस मदीमत्त जगली हाथी के कुम्भमथल (सिर) को पिदीर्ण करके उसके मोतियों को भला कौन निकाले ॥ ४५ ॥

तत्र प्रभृत्यद्भुतरूपरेया सा वालिनाभूद्गुरा वरापि ।

चित्ते वचस्तन् कुलदेवनाना कृत्यापि तस्यां स च नाज्येत ॥ ४६ ॥

तबसे लेकर वह वरा (ससुन्दरी) होते हुए भी अवरा (वरजिहीन) ही रही । और कुलदेवा गृहदेवियों की उस वाणी को चित्त में रखकर भी नागराज फिर चैन से सो नहीं सका, अर्थात् अपनी पुत्री के विवाहबद्ध न हो सकने का दुःख उसे निरंतर होता रहा ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्यैवैमि प्रथिता यदाऽत स्वर्गे च भूमौ च मुपस्तले च ।

नीतोऽसि नेत्रातिथिता त्वमस्या पुण्येन जन्मा तरसम्भृतेन ॥ ४७ ॥

अब तो मैं समझती हूँ कि स्वर्ग लोक और भूलोक में अब इसके समान कोई दूसरी स्त्री न होगी, क्योंकि किसी पूर्वजन्म के संचित पुण्य के कारण तुम जो इसकी दृष्टि में आ गये हो ॥ ४७ ॥

आनेतुकाभेन भवन्तमत्र निजं वचस्तत्रयता प्रतिष्ठाम् ।

आप्तप्रयत्नेन तथा स मन्ये फणीश्वरेणोपकृतः प्रपञ्चः ॥ ४८ ॥
मालूम होता है कि अपनी प्रतिष्ठा पूर्ण करने के लिए तुम्हें यहाँ लाने के लिए ही शायद नागराज ने वह ताग प्रपञ्च (इन्द्रजाल) रचा होगा ॥ ४८ ॥

एकः क्षिती साहसिकस्त्वमेव नान्योऽस्ति राजत्रयसाहसाङ्कः ।

निसर्गदुर्गामपि भूमिमेतां स्वोद्यानवीथीमिव यः प्रविष्टः ॥ ४९ ॥
हे नवसाहसिक धर्ती पर एकमात्र तुम्हीं वास्तविक अंमत साहसी हो, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि तुम इस प्रकृति से ही दुर्गम भूमि को भी अपने दगीचे की पगडंडी की भाँति पार करके यहाँ आ गये हो ॥ ४९ ॥

तदस्य कार्यस्य पुरस्कृतस्य यतस्व सीमान्तावलोकनाय ।

विगाहमानोऽश्वरमर्धमार्गं निवर्तते जातु किमुष्णरश्मिः ॥ ५० ॥
यहाँ आने के जिस कार्य को तुमने शुरु किया है, अंतिम सीमा गाँठने के लिए अर्थात् उसकी पूर्ति के लिए उद्योग करना प्रारम्भ कर दो । नभोमण्डल की ओर प्रस्थान करने वाला सूर्य क्या कभी आधे रास्ते से ही वापस लौटता है ?

इतोऽस्ति गन्ध्यूतिशतार्धमात्रं गत्वा पुरी रत्नवतीति नान्ना ।

विनिर्मिता शिल्पकलामयेन मयेन या नाकजिगीपयेव ॥ ५१ ॥
यहाँ ने पञ्चान गन्ध्यूति (२०० मील चलकर) मात्र आगे जाकर रत्नवती नाम की एक नगरी है, जिसे अमरावती को जीतने की इच्छा से ही मानो शिल्प कलाकुशल मयनाम के दानव ने बनाया था ॥ ५१ ॥

तस्याऽसुरेन्द्रस्य नराधिपेन्द्र जगद्द्रुहः सा किल राजधानी ।

समेधितस्याञ्जभुवा वरेण रणेध्ववध्यो मरुतां भवेति ॥ ५२ ॥
हे नृपेन्द्र ! तुम्हें देवता भी युद्ध में न मार सकेगे, इस प्रकार ब्रह्मा के वरदान को पाकर अत्यन्त बड़े हुए बल वाले एवं संसार को त्रास पहुँचाने वाले असुरराज की वह राजधानी है ॥ ५२ ॥

स मौलिरत्नानि महोरगाणाम् उत्खाय चोत्खाय च कौतुकेन ।

करोति निर्वासितनायकेषु निजाङ्गनाहारलतान्तरेषु ॥ ५३ ॥
वह महासर्पों के शिरःस्थित रत्नों को उखाड़-उखाड़ कर जिनके प्रियकरों को निकाल बाहर कर दिया है, ऐसी अपनी रानियों की हारलता के बीच लगाता है ॥ ५३ ॥

स वाष्पपर्याकुललोचनानि निश्वासभिन्नाधरपल्लवानि ।

करोति वक्त्राण्यमरागनानाम् उत्सन्नलीलाग्मितचन्द्रिकाणि ॥ ५४ ॥

आंसुओं ने पूर्ण नेत्रों वाले, दीर्घ निश्वास से जिनके अधरोष्ठ मलीन हो
 दे हैं, ऐसे देवस्त्रियों के मुखों को वह विनासक्रीडाओं की मधुर हँसी रूपी
 चन्द्रिका जिनकी नष्ट हो गई है, ऐसे बना देता है ॥ ५४ ॥

त्रिमूर्ति—प्रियकर के युद्धाहत होने से देवाङ्गनाओं की सुरतक्रीडा का
 आनन्द नहीं मिलता ॥ ५४ ॥

कृताङ्गद कम्बल कालियाभ्या यज्ञोपवीतीनीकृतशङ्खचूड ।

स तक्षत्रापादितकण्ठभूपो विभति लीलामशिरः शिवस्य ॥ ५५ ॥

वह कम्बल और कालिया नाम वाले दो महानागों का वाज्ररुद के रूप
 में धारण करता है । शंखचूड नाग को उसने यज्ञोपवीत बना रखा है । तक्षक
 नाग उसका कण्ठाभरण बना पड़ा है और इस भाँति वह अकल्याणकारी
 दुष्ट राजस शिव की लीलाओं को क्रिया करता है ॥ ५५ ॥

आस्ता किमयै फणिभि स चिन्त्यस्तरयापि शेषस्य च तामुद्देश्च ।

राहुर्यथा त्रिदशभयैकहेतु ताराधिपस्याह्विमनीधितेश्च ॥ ५६ ॥

और नागों की तो बात ही जाने दो, शेषनाग और वासुकी नाग के
 लिए भी वह उसी भाँति भय का कारण बन गया है, जैसे सूर्य और चन्द्रमा
 के लिए राहु ॥ ५६ ॥

रगोद्रभङ्गे न तथा तथा च न सर्पयज्ञे जनमेजयस्य ।

निधानमातङ्कपरम्पराणा जातो यथा सम्प्रति नागलोक ॥ ५७ ॥

गरुड पक्षी के द्वारा नागों के खाये जाने से और जनमेजय के यज्ञ के कारण
 भी नागलोक प्रथम इतना भयाङ्कुर नहीं था, जितना आज इस भय से उसमें
 आतंक छाया हुआ है ॥ ५७ ॥

हरेस्त्वमशोऽत्र कृताप्रतारम्बस्याऽमुरेन्द्रस्य निर्वहणाय ।

अवेमि लोकरत्रयकण्ठकस्य लङ्काधिपस्येव स मैथिलीश ॥ ५८ ॥

मैं समझती हूँ, जैसे तीनों लोकों के लिए काटा देने हुए रावण के नाश
 के लिए रामचन्द्र ने अन्तार लिया था, उसी तरह तीनों लोकों को दुख देने
 वाले इसके विनाश के लिए भी तुमने भगवान के अशाक्तार में काम
 लिया है ॥ ५८ ॥

श्रीकण्ठ त्रिकण्ठपुरन्दराद्यैरुपेक्षित यत्त्रिदशैरशस्त्या ।

कृतस्य तम्यास्य भर त्रिसोडु सम्भाव्यसे मे नृपते त्वमेव ॥ ५९ ॥

भगवान् शंकर, विष्णु इंद्र आदि देवताओं ने उसे उसका कुछ न विगाड

सकने के कारण छोड़ दिया, उसीके संहार रूपी कार्यभार को उठाने के लिए तुम्ही मुझे समर्थ मालूम पड़ रहे हो ॥ ५६ ॥

किमन्युदुत्तिष्ठ गृहाण यात्रां वज्राङ्कुशं प्रत्यमितप्रताप ।
तच्चावतंसीकुरु हंमपद्मम् आनीय भूशक्र शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥
और क्या कहूँ, हे अतिपराक्रमशाली ! तुम वज्राङ्कुश को मारने के लिए यात्रा प्रारम्भ कर दो । हे धरेन्द्र ! तुम उसके यहाँ से उस स्वर्णकमल को लाकर शशिप्रभा के कान का आभूषण बना दो ॥ ६० ॥

सा ते समाप्ताद्भुतसाहसस्य वत्साङ्गमभ्येतु फणीन्द्रकन्या ।
सीता यथा दाशरथेः सलीलम् आरोपितत्रयम्बककार्मुकस्य ॥ ६१ ॥
जिस भाँति शिवधनुष को चढाने वाले रामचन्द्र को सीता मिली, उसी भाँति अपना साहसिक कार्य करने पर वह नागराजकन्या तुम्हारी गोद की शोभा बढ़ायेगी ॥ ६१ ॥

अगाधपातालतलोद्गतानि विनिद्रकुन्दच्छदसुन्दराणि ।
लोकद्वये सम्प्रति ते यशांसि आकल्पवल्लीफलवच्चरन्तु ॥ ६२ ॥
अगाध रसातल तक विकसित होने वाले, विकसित कुन्दपुष्पों के समान श्वेत, तुम्हारे यश इस लोक और उस लोक तक व्याप्त होकर ऐसे चिरस्थायी हो जायँ, जैसे कल्पकल्पान्त तक रहने वाले कल्पलता के फल ॥ ६२ ॥

प्रसादमाप्तेन चिराद्विलीने तस्मिन् सुरारातिवनोपरोधे ।
मुखेन्दुना पन्नगसुन्दरीणां पुनः समागच्छतु पत्रलोखा ॥ ६३ ॥
देवताओं के शत्रु उस दैत्य रूपी वादल के उपद्रव के नष्ट हो जाने पर प्रसन्नता को प्राप्त नागस्त्रियों के मुखचन्द्र पर एक बार फिर पत्ररचना की शोभा छा जाय ॥ ६३ ॥

आसीत् पुरस्तात्त्रिपुरावभङ्गे यन्मंगलं वालमृगाङ्गमौलेः ।
महासुरैर्भाविनि साम्पराये तवास्तु तन् संयुगजामदग्न्य ॥ ६४ ॥
प्राचीन समय में त्रिपुरासुर को नष्ट करते समय चन्द्रमौलि भगवान् शंकर को जो मंगल हुआ था, संग्राम में विजय पाने वाले परशुराम के समान पराक्रमी राजन् ! वही मंगल तुम्हारा राज्ञों के साथ होने वाले युद्ध में भी हो ॥ ६४ ॥

पन्थाश्शिवोऽयं पुरतोऽत्र गन्ता वङ्कमुनिर्लोचनगोचरं ते ।
उपाचरेस्तं च तथाविधानां भक्ति हि गां कामदुहामुशन्ति ॥ ६५ ॥
यात्रा के लिये ध्वज प्रस्थान करो । यह मार्ग कल्याणकारी है । जब तुम यहाँ से कुछ दूर जाओगे, तो तुम्हें वङ्कमुनि के दर्शन होंगे । उस मुनि की तुम अवश्य सेवा करना, क्योंकि ऐसे लोगों की भक्ति ही वस्तुतः इच्छित वस्तुएँ देनेवाली कामधेनु कही गयी है ॥ ६५ ॥

इत्युदीर्य मणिकांतिकन्दली कल्पित त्रिदशचापमस्य सा ।

अमुमोच निजमङ्गल भुजे ज्याक्रिणाङ्ककठिणीकृतत्रचि ॥ ६६ ॥

इस प्रकार के वचन कहकर नर्मदा न माणकिरणों से इन्द्रधनुष की काँति को पैलाने वाल अपन दक्षिण को, धनुष के खान्चने से घट्टे क चिह्नो से वर्कश बने हुए राजा के हाथ में पहना दिया ॥ ६६ ॥

नर्मदोक्तिस्वीकार.

अवददथ स साहसोन्मुखस्ताम् इह हि वय वचसि स्थितामन्तवेति ।

तद्विदिव न चिरादुदीरिताशी सरिदपि साऽन्य पुरस्तिरोबभूय ॥ ६७ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य तृती

नवसाहस्राङ्कचरिते महाका ये नर्मदासदादो नाम

नवम सर्ग ॥ ६ ॥

नर्मदा के कथन को स्वीकार करना

पश्चात् उस साहसी राजा ने नर्मदा से कहा कि मैं आपकी बात को पूरा रूप से स्वीकार करता हूँ । राजा क इतना कहने पर राजा को आशीर्वाद देकर बट नर्मदा नदी भी विजयी की भाँति राजा के सामने से अतर्हित हो गई ॥ ६७ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नव

साहसक चरित महाकाव्य का नर्मदासदाद नामक

नवम सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

अथ दशमः सर्गः

नायकस्य रमाङ्गदं प्रति प्रश्नः

अथ मेकलाचलमुतातिरोहतौ अतिमात्रविस्मयरसार्द्रमानसः ।

दशानच्छविच्छुरितपाटलाधरः स रमाङ्गदं नृपतिरित्यवोचत ॥ १ ॥

नायक का रमाङ्गद के प्रति प्रश्न

इसके पश्चात् मेकल पर्वत की पुत्री नर्मदा के अन्तर्हित हो जाने पर अत्यन्त विस्मय-रस से भरे मन से, दाँतों की चमक से रक्तवर्ण के ओठों को लुशोभित करते हुए सिन्दुराज ने रमाङ्गद मंत्री से कहा ॥ १ ॥

अधिरोहति स्वयमचिन्विताऽप्यहो शुभसन्पदं पराङ्मुखे विधौ ।

सवपुर्विलोचनपथं यदावयोरमृतांशुसूतिरियमापदापगा ॥ २ ॥

जब भाग्य अनुकूल होता है, तब जिनके बारे में कुछ सोचा भी नहीं गया हो, ऐसी सब सम्पत्तियाँ अपने आप (मानव के) पास आ जाती हैं। अब यही देखो न, यह चन्द्रपुत्री नर्मदानदी शरीरधारिणी बनकर हमारे दृष्टि गोचर हुई अर्थात् बिना किसी कल्पना के ही इसनी म्लाकात अपने साथ हुई ॥ २ ॥

इदमिन्द्रजालमिति मे समुत्थिताम् मतिमेद्रपितमुदारया तथा ।

विकसन् मरीचिरचितेन्द्रकार्मुकं करवर्ति रत्नवलयं विलुम्पति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार विकसित सूर्य-किरणों से जिस पर इन्द्रधनुष की शोभा है, ऐसा रत्नकंकण इन्द्रजाल के रूप में हाथ पर आते ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस उदार विचारधारा वाली ने मुझसे जो कुछ कहा, मुझे तो सब इन्द्रजाल का मालूम होता है ॥ ३ ॥

विमर्श—हम अक्षर देखते हैं कि सूर्य की किरणों में रंग-विरंगे अणु होते हैं। इन रंगों से इन्द्रधनुष की छटा भी देखने में आती है। बीच-बीच में गोल बलय भी दीखते हैं। लेकिन जब हम उसे पकड़ने लगते हैं, तब वह गायब हो जाता है। उसी तरह नर्मदा ने भी जो कुछ कहा, वह राजा को इन्द्रजाल मालूम पड़ रहा है ॥ ३ ॥

अयि मेकलाद्रितनयापुरस्कृते क्रियते किमत्र वद कृत्यवस्तुनि ।

तव यन् सदा नयरहस्यवेदिनो न वियञ्चरन्त्यनपांसुले पथि ॥ ४ ॥

वताओ भाई! नर्मदा की बताई हुई बात के विषय में क्या किया जाय। क्योंकि तुम जैसे नीतिरहस्य जानने वाले व्यक्तियों की बुद्धि अन्याय रूपी धूलि से धूसर मार्ग पर नहीं जाती है ॥ ४ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति पाथिवेन कथिते दधन्मनाक् पुलकेन चुम्बितकपोलमाननम् ।

इदमात्तनीतिपथमाददे वच स्मितपुष्पिताधरदलो रमाङ्गद ॥ ५ ॥

रमाङ्गद का कथन

सिन्धुराज के ऐसा कहने पर (आत्मप्रशसा सुनने के कारण) जिसके गालों पर लब्जा से रोमाच हो आया था, ऐसे मुखवाले तथा हँसी से विकसित अधरोष्ठ वाले रमाङ्गद ने न्यायमार्ग सगत वचन कहे ॥ ५ ॥

इह किं प्रतिस्फुरति मे तत्रागतो नयशास्त्रनीरनिधिपारदृश्वन ।

अत्रलीढविश्वतमस पुरो रवेर्न हि जातु दीपकशिखा प्रकाशते ॥ ६ ॥

न्यायशास्त्ररूपी समुद्र को पार करनेवाले आपके सामने भला मेरी बुद्धि कहाँ तक सफल हो सकेगी ? भला सभार के समस्त अघकार को नष्ट करने वाले सूर्य के सामने दीपशिखा का प्रकाश कैसे हो सकेगा ! अर्थात् आपकी बुद्धि के आगे मेरी बुद्धि क्या काम देगी ॥ ६ ॥

विषयेऽत्र मौनमुचित हि मादृशाम् अवशास्तथापि कथयामि किञ्चन ।

क्षितिपालमौलिमणिवेणिकातिथेस्तव केन शासनमिद विलङ्घयते ॥ ७ ॥

इस विषय में मुझ जैसे लोगों का मौन रहना ही ठीक है । फिर भी लाचारी से कुछ कहता हूँ । क्योंकि समस्त बड़े-बड़े राजाओं के सिर पर की वेणिका का आतिथ्य स्वीकार करने वाले अर्थात् समस्त राजा लोग अपना मस्तक जिसके सामने झुकाते हैं, ऐसे आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने की शक्ति किसकी है ? ॥ ७ ॥

प्रथम हि मण्डलमण्डशक्तिभिर्विजिगीषुभि स्वमभित प्रसाध्यते ।

परमण्डले तदनु नीतिपारगौरवनोपुरन्दर कर प्रसार्यते ॥ ८ ॥

हे घरती के इन्द्र ! अखण्ड शक्तिशाली, विजय की इच्छावाले नीति-निपुण राजाओं को सर्वप्रथम अपने आस-पास के मण्डल (शक्ति) को साधना चाहिए, तब उसके बाद दूसरे मण्डल को अपनाने के लिए हाथ बढाना चाहिए ॥ ८ ॥

तद्पास्तमेरमवितर्कितोत्थिते परिपन्थिनामिह विधेयवस्तुनि ।

यदि नाभ्रिप्यदभिमानशालिनस्तर राज्यमुद्धृतसमस्तकण्टकम् ॥ ९ ॥

जिसकी कमी कल्पना भी नहीं की गयी थी अर्थात् अचानक अग्न कोड़ शत्रुओं से सम्यक् बात खड़ी हुई तो उसके निवारण आदि कार्य में आपने कमी देर न कर उसका निवारण किया है । यदि ऐसा न हुआ होता तो अभिमानशाली आपका राज्य समस्त शत्रुरूपी कष्टकों से रहित न हो सकता ॥ ९ ॥

अतशक्तिसङ्कलितमत्र निश्चयैरुपलब्धपद्गुणविवेकवर्त्मभिः ।
 तदुपायतत्त्वमधिगम्य धूः क्षितेस्तत्र मन्त्रिभिर्नृप दुःखद्वहो ह्यते ॥ १० ॥

हे नृप ! अध्ययनशील, राजशक्ति और मंत्रशक्ति का निश्चय करने वाले, तथा उससे प्राप्त षड्गुणरूपी विचार-मार्ग पर चलने वाले आपके मन्त्री लोग राजसत्तारक्षण के सभी उपायों को जानकर ही तुम्हारी शासित धरती के (राजमार) भार को दो रहे हैं ।

विमर्श—आपके मन्त्री आपकी अनुपस्थिति में भी आपके राज्य का सारा काम सुचारु रूप से चला रहे हैं । राजशास्त्र के बल पर उन्होंने राजनीति के तमाम मन्त्रों को जान लिया है । और किस जगह वैसा व्यवहार करना, इस बारे में भी वे निश्चयी हैं । राजनीति के गुणों का कहां किस तरह प्रयोग करना—यह बात भी उन्हें विदित है ॥ १० ॥

अतिसान्द्रकाञ्चनमरीचिपिङ्गलं दिग्गुपाहितप्रचुरपत्रशोभिनः ।

तत्र कोशमुत्सृजति न क्षणं रमा परमारवंशसरसीसरोरुहः ॥ ११ ॥

हे परमारवंशरूपी तडाग के कमल ! चारों दिशाओं से प्राप्त किये हुए जाना प्रकार के श्राण तथा वाहन आदि से सुशोभित आपके, घने स्वर्ण-किरणों से पीत वर्णवाले कोश को लक्ष्मी क्षणभर के लिए भी नहीं त्यागती है ॥ ११ ॥

प्रियकीर्तयो जयपवित्रिताशयास्तरसा नृणीकृतजगत्त्रया युधि ।

जगतीविशेषक तवानुजीविनो निवसन्त्यवन्तिविषये सहस्रशः ॥ १२ ॥

हे जगत् के तिलकभूत राजन् ! विजय (की भावना) से जिनके हृदय पवित्र हैं, ऐसे तथा, कीर्ति चाहनेवाले, युद्ध में वेग से तीनों जगत् को तिनके के समान समझने वाले, आपके सहस्रों सेवक उज्जयिनी में रहते हैं ॥ १२ ॥

पृथिवीभृतः प्रथितविक्रमेण ते गमितास्त्वया वशमुपायसम्पदा ।

नयवर्त्मगाः क्षितिपते तवान्यथा न भवन्ति भाविसमराभिःशङ्कया ॥ १३ ॥

उपाय-सम्पत्ति से जिन राजार्थों को प्रसिद्ध पराक्रम वाले आपने अपने वश कर लिया है, न्यायमार्ग पर चलते हुए वे विरोधी राजा भी हे राजन् ! भविष्य में होने वाले युद्ध की शंका करके तुम्हारे विरोध में नहीं उठेंगे ॥ १३ ॥

अपकर्तुमत्र समये तवात्तभीर्मनसापि हूणनृपतिर्न वाञ्छति ।

इभकुम्भभित्तिदलनोद्यमे हरेर्न कपिः कदाचन सटां विकर्पति ॥ १४ ॥

इस समय आपसे डरा हुआ हूणराजा मन से भी आपका कुछ अपकार करना नहीं चाहता, मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थलों को फाड़ते समय शेर की जटा को क्या कभी बन्दर खींचता है ? ॥ १४ ॥

असितकान्तिजालजटिलाप्रवाहना रणसीम्नि नाथ ! निहतेषु भर्तृषु ।

भवताऽत्र वागहवधूजनं कृतो रतिसन्धिविप्रदक्यापराङ्मुख ॥ १५ ॥

श्यामवर्ण की कान्ति के समूह वाली तलवारों से जिसके हाथों के आगे का भाग व्याप्त हो गया था, ऐसे आपने रणभूमि में वागडराज के लोगों को मारकर उनकी वधुओं को रतिक्रीडा की संधि विग्रह सम्बन्धी बातों से भी विमुख कर दिया ।

विमर्श—रतिकाल में जो मान, राग आदि होता है, वह अब नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

अधुनापि देव मुरलाङ्गनाचनेविजयपशन्तिरिव लिख्यते तव ।

गलदम्बनाश्रुपुपतात्रलिच्छलालनसदिन्दुपाण्डुषु कपोलमिच्छिषु ॥ १६ ॥

हे राजन् ! आज मी मुरल देश की नारिया उहत हुए कञ्जलयुक्त आँसुओं की विन्दुपच्छि क बहाने अपने सफेद कपोलों पर मानो स्याही से आपके विजय की गाथा लिख रही हैं ॥ १६ ॥

रभसादपाम्य मणिकङ्कणावली कनकारचिन्दकटकेषु तेऽसिना ।

न किमर्पितानि नृप लाटयोपितां स्फटिकाक्षसूत्रवलयानि पाणिषु ॥ १७ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी तलवार ने मणिकणों को भटके से दूर करके और पीतकमलों के समान मुनहले बलयों की जगह क्या लाट देश की स्त्रियों के हाथों में स्फटिकयुक्त रुद्राक्ष की मालायें न पहना दीं अथात् उनके पतियों को रण में मारकर उन्हें वैधव्य प्राप्त कराकर योगियों का जीवन बिताने में तुम कारण हुए हो ! ॥ १७ ॥

नयनाम्बुभि स्नपितधूसराधरा प्रतिनद्धरुक्षमालिनैकवेण्य ।

निहिता न किं महति शोकसागरे जगतीन्द्र कौशलपते पुरन्ध्रय ॥ १८ ॥

हे जगत् के इन्द्र ! कौशल देश के राजा की रत्नयों को आँसुओं से मलिन अधरों वाली सूखी और मलिन बेणी बांधने वाली बनाकर क्या आपने महान् शोकसागर में नहीं डुबो दिया ? ॥ १८ ॥

उदितेन वैरितिमिरद्रहाऽभितस्तत्र नाथ विक्रममयूत्रमालिना ।

गमिता प्रभाजलयशूच्यता झटित्यपरान्तपार्थिवधूमुरेन्दव ॥ १९ ॥

हे नाथ ! चारों ओर से वैरी रूपी अन्धकार के साथ द्रोह करने वाले तुम्हारे विक्रम रूपी सूर्य ने उदित होकर क्या अपरान्त राजाओं की वधुओं के मुख-नन्दमाओं को शीघ्र ही कान्तिमूह से शून्य न कर दिया ? अर्थात् क्या वैरियों का नाश करके उनकी स्त्रियों के मुख की शोभा न छीन ली ॥ १९ ॥

अतिप्रेक्षमुत्तरदिगन्तवर्तिना सभरश्रमाभ्युदितर्षमिन्दुना ।

शरदिन्दुर्नर्मलम्पायि भूभृताम् असिपत्रपात्रपतित त्वया यश ॥ २० ॥

उत्तर दिशा के अन्त तक व्याप्त यश वाले, युद्धस्थल में परिश्रम से उत्पन्न पसीने से सने हुए आपने अपनी तलवार की धार से क्या शत्रु राजाओं के बड़े-चढ़े शरदकालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ यश को दूर नहीं किया ? अर्थात् किया ही ॥ २० ॥

निजरन्ध्रगोपनपटीयसाऽभितः पररन्ध्रदृष्टिपटुचारचक्षुषा ।

नयभिन्नसाहसभुवा भुवस्तले भवता समं कथय को विरुद्धयते ॥ २१ ॥

अपने छिद्रों अर्थात् कमजोरियों को गुप्त रखने में चतुर, तथा दूसरों के गुप्त रहस्यों का चतुर गुप्तचरों द्वारा पता रखने वाले, न्याय से पूर्ण साहस-वाले आपके साथ कहिये, इस धरती पर कौन विरोध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

नरदेव दैवमधिकृत्य या विपन निपतत्यवन्तिविपये कथञ्चन ।

शिखिमुत्तमन्त्रहविषा विहन्यते तव सा वसिष्ठमहसा पुरोधसा ॥ २२ ॥

हे नरेश ! यदि भाग्यवश अवनित देश पर कोई आपत्ति आ भी गई तो तुम्हारी उस आपात्त को अग्नि में मन्त्रपूर्वक हवि छोड़ने वाले, महर्षि वशिष्ठ के समान तेजवाले आपके पुरोहित दूर कर देते हैं ॥ २२ ॥

नृप वासराणि निरूपत्नवाः प्रजाः सुखमात्मकर्मणि रता नयन्ति यत् ।

विजयं जयैकसुहृदोऽस्य सर्वदा ननु कार्मुकस्य तव सद्विजृम्भितम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! आज तुम्हारे राज्य में निरुपद्रवी प्रजाजन सुख-शान्तिपूर्वक अपने-अपने कामों में जो लगे हैं, जो सुख से दिन बिता रहे हैं, यह हमेशा विजय ही प्राप्त करने वाले आपके इस धनुष का ही जृम्भण अर्थात् प्रवल प्रताप है ॥ २३ ॥

इति किञ्चिदेव न तव स्वमण्डले नृप चिन्त्यमस्त्युदितशक्तिसम्पदः ।

अधुना तु नीतिनिहितेन चेतसा फणिलोककृत्यमिदमेव चिन्त्यताम् ॥ २४ ॥

श्रीमान्, जिसकी शक्ति-सम्पत्ति पूर्व उदित है, ऐसे आपके अपने राज्य में कोई चिन्ताजनक बात अब नहीं रह गई है। अतः अब तो न्यायपूर्ण दृष्टि से आपको पाताललोक के इस कार्य के विषय में ही विशेष विचार करना चाहिए ॥ २४ ॥

प्रभुशक्तिरुद्यमपरत्वमर्पितत्रिजगच्चमत्कृतिरहङ्कृतिश्च सा ।

असुरस्य तस्य कथिता नरेन्द्र ते नगरी च मेकलनगेन्द्रकन्यया ॥ २५ ॥

मेकलनकन्यया नर्मदा ने उस दैत्य वज्रांकुश की प्रभुशक्ति (सेना, क्रोध आदि), उद्यम पूर्वक कार्य करने का लगन और तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले उसके अहंकार तथा उसकी नगरी के सम्बन्ध में आपको सब कुछ बता ही दिया है ॥ २५ ॥

अभिगम्य एव स तवाधुना रिपुर्मरुतामुदारनिजकार्यसिद्धये ।
श्रुतिलग्नगन्धगजवृद्धित^१ क्षण नृप केसरी कथय किं विलम्बते ॥ २६ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! अपने पवित्र कार्य की सिद्धि के लिए आपको अब देवताओं के शत्रु उस असुर पर आक्रमण कर ही देना चाहिए । इसमें देर नहीं करनी चाहिए । जिसके कानों ने गन्धगज को चिंगाड़ सुन ली है, ऐसा सिंह उस हाथी पर आक्रमण करने में क्या क्षण भर का भी विलम्ब करता है अर्थात् अब तुम उस पर आक्रमण करने में देर न करो ॥ २६ ॥

ननसाहसाङ्क न तवामुरादहं कलयामि सम्प्रति किमप्यतादृशाम् ।
विधुति वदाचन विमो न भूभृत कलत्रि^२ङ्कपक्षपवनेन शङ्कते ॥ २७ ॥

हे ननसाहसाङ्क ! उस दैत्य से आपके लिए मैं किसी प्रकार की विपत्ति नहीं समझ रहा हूँ अर्थात् वह दैत्य सम्प्रति आपका कुछ भी नुकसान नहीं कर सकता । एक य कश्चित् चटक (गौरैया) पक्षी के पंखों की हवा से पर्वतों के हिल जाने की शङ्का भी नहीं की जा सकती ॥ २७ ॥

भवता यदोच्चलित एष दक्षिणश्चरणस्तदैव सुरवैरियोपिताम् ।
विगलन्ति देव नयनोदप्रिन्दव शरदिन्दुपाण्डुनि कपोलमण्डले ॥ २८ ॥

हे देव ! आप जब (आक्रमण के लिये) केवल अपना दाहिना पैर उठा लेते हैं, उसी समय देवताओं से वैर करने वाले दैत्यों की स्त्रियों के शरदकालीन चंद्रमा के समान स्वच्छ गालों पर आसुओं की बूँदें छलकने लगती हैं ॥ २८ ॥

विजयैकसद्धानि गुण शरासने तव यावदत्र न नृवाधिरोहति ।
सुहिनच्छटाधवलचामरस्मिता प्रिलसन्ति तावदसुरालये श्रिय ॥ २९ ॥

जब तक विजय के एकमात्र स्थान आपके इस धनुष की प्रत्यञ्चा खोंची नहीं गयी है, तभी तक असुरों के घरों में हिम की मूर्ति श्वेत चँवरों के समान स्मित वाली स्त्रियाँ या सम्पत्तियाँ शोभायमान हैं ।

त्रिमर्श—उसके बाद तो वहाँ सारा वातावरण नि शीक हो जाता है ॥ २९ ॥

वनकारविन्दमरविन्दलोचन प्रणयेन नैर स समर्पयिष्यति ।
सुरनिर्जयाजितमदावृतेऽन्तर लभते न ताम किल तादृशा हृदि ॥ ३० ॥

हे कमल के समान नेत्रवाले राजा ! वह प्रेमभाव से स्वर्णकमल को तुम्हें नहीं देगा । क्योंकि देवताओं पर विजयी होने के कारण मदपूर्वक ऐसे लोगों के हृदय में शान्ति की बात के लिए कोई स्थान नहीं होता अर्थात्

१ वृद्धित करिगजितम्—अमरकोश ।

२ चटक कलविङ्क रथात्—अमरकोश ।

वह सामोपाय से कभी नहीं मानेगा । उस स्वर्णकमल को प्राप्त करने के लिए तुम्हें दण्ड का उपयोग करना पड़ेगा ॥ ३० ॥

भवतः कुतोऽपि नृप यावदागमं न स वेत्ति तावदभियोक्तमर्हसि ।

सहसाऽन्यथा रहसि मन्त्रिवोवितः परितः स्वदुर्गघटने यतिप्यते ॥ ३१ ॥

वह जब तक आपके आगमन (आक्रमण के लिए) के विषय में नहीं जानता अर्थात् आप उस पर आक्रमण करने वाले हैं, इस बात में वह जब तक देखबर है, तब तक आपको शीघ्र उस पर आक्रमण कर देना चाहिए । नहीं तो फिर मन्त्रियों द्वारा इस रहस्य से एकाएक अवगत कराने पर वह चारों तरफ किले को मजबूत बनाने में लग जायगा ॥ ३१ ॥

कृतनूतनार्गलकपाटसम्पुटां सुभटैस्दायुधकरैरधिष्ठातम् ।

परितः सुखातपरिरवां पुनः पुरीं रचितैकदुर्गमपथां विधास्यति ॥ ३२ ॥

फिर वह अपनी नगरी के नई अर्गला वाले किवाड़ों को बन्द कर देगा, जहाँ-तहाँ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वीर पुरुषों की नियुक्त कर देगा, नगरी के चारों ओर अच्छी प्रकार से खाई खोदकर उसे घेर देगा । इस तरह वह अपनी नगरी को अत्यन्त कठिन मार्ग वाली बना देगा ॥ ३२ ॥

वलितेऽपि किञ्चन धनुःपरिग्रहे भुवनत्रयप्रथितसाहसे त्वयि ।

अपि जायते धृतिविपर्ययो हरेरसुरेषु कैव गणना तपस्विषु ॥ ३३ ॥

तीनों भुवनों में प्रसिद्ध साहस वाले आपके अपने धनुष को संभालते ही तो भगवान् विष्णु भी घबड़ा उठते हैं अर्थात् उनका भी धैर्य छूट जाता है, फिर उन वेचारों दैत्यों की तो गिनती ही क्या है ॥ ३३ ॥

नियतं नरेन्द्र विदधत्फणामणिस्फुरदंशुसूत्रितनवातपं नभः ।

सुरवैरिवीर्यदृढमत्सरं पुरः फणिसैन्यमाजिभुवि ते भविष्यति ॥ ३४ ॥

हे नरेन्द्र ! यह निश्चित है कि अपनी फणाओं की मणियों से निकलनेवाली कांति से आसमान को प्रदीप्त करने वाले दैत्यों के पराक्रम से अत्यन्त द्वेष रखने वाले, नागों की सारी सेना के साथ यह पातालपुरी भी युद्धस्थल में आपके साथ होगी ॥ ३४ ॥

अधुनैव तेऽत्र निजतां व्रजन्ति वा सुभटाः स्वयं विधिवशेन केचन ।

कपयः पुरा रघुपतेर्यथा वने हनुमत्पतङ्गतनयाङ्गदादयः ॥ ३५ ॥

इसी समय कुछ अन्य वीर भी स्वयं ही और कुछ भाग्यवश आपके पक्ष में हो जायेंगे । जैसे वन में रामचन्द्र के साथ हनुमान, सुग्रीव अङ्गदादि हो गये थे ॥ ३५ ॥

यदुदीरितश्च पुरुकुत्सकान्तया सरिताऽसि बद्धुमुनिदर्शनम्प्रति ।

प्रतिभाति किञ्चन ममैव तत्र ते किमु निर्मु खेङ्गितविदस्तदिङ्गितम् ।

पुरुकुरस की स्त्री नदी नर्मदा ने बहू मुनि के दर्शन के विषय में जो कुछ भी तुमसे कहा है, उसमें मुझे कुछ सार मालूम होता है। मुँह से कुछ न बोले जाते पर भी केवल इशारों को भी समझने वाले आपके लिए वह जरूर कोई इशारा ही रहा होगा ॥ ३६ ॥

अथैक एव विभुरस्यरेवधे ननु धाम तन् स्फुरति शार्ङ्गिणस्त्वयि ।

उदितक्रुधस्त्रिपुरदाहदम्बरे शरतामयाप किल यन् पिनाकिन ॥ ३७ ॥

अथवा एक अकेले आप ही शत्रु का नाश करने में पूर्ण समर्थ हैं। आप में भगवान् विष्णु का वही तेज विद्यमान है, जो त्रिपुरासुर का नाश करते समय अत्यन्त क्रुद्ध हुए भगवान् शिव का बाण हो गया था।

त्रिमूर्ति—त्रिपुरासुर का नाश करने जब भगवान् त्रिपुरारि प्रवृत्त हुए, उस समय भगवान् विष्णु ने स्वयं अपना तेज उनके बाण में संक्रान्त किया था, ऐसी पौराणिक कथा है ॥ ३७ ॥

अत्रलोकयामि शकुन यथा तथा तदयमि पद्मलदश सभान्तरे ।

न चिरादुपोढपुलकेन पाणिना कनकारविदमप्रतंसयिष्यसि ॥ ३८ ॥

जैसे जैसे मैं होनेवाले सगुनों पर विचार कर रहा हूँ, वैसे वैसे मेरी समझ में यह आ रहा है कि आप अवश्य शीघ्र ही अपने रोमाञ्चित हाथ मे सभा के बीच ही, सुन्दर पलकों वाली उस शशिप्रभा को स्वर्णकमल से विमूषित कर देंगे ॥ ३८ ॥

त्वमिहैव नाथ मणिधाम्नि तिष्ठ वा नहि नाम तादृशमिद प्रयोजनम् ।

असुर निहत्य सहसैव तक्षणाद् अहमनियामि तपनीयपङ्कजम् ॥ ३९ ॥

अथवा आप इसी मणिभवन में ठहरें। यह कोई ऐसा बड़ा भारी काम नहीं है। मैं ही सहसा क्षणभर में उस दैत्य को मारकर उस स्वर्णकमल को ले आता हूँ ॥ ३९ ॥

विजयी यदस्मि समरेषु जित्वर प्रभवन्ति तत्र तव पादपासव ।

अरुणो यदन्धतमस निषेधति स्फुरित नराधिप तदर्कतेजसाम् ॥ ४० ॥

हे राजन्! मैं युद्ध में जो सदैव विजयी होता रहा हूँ, वह आपके चरणों की धूलि का ही प्रभाव है। अरुण जो अंधकार को नष्ट करता है, उसमें भी तो सूर्य के तेज का ही प्रभाव है ॥ ४० ॥

नायकवाक्यम्

सिन्धुराज का कथन

मसृणोक्तिपल्लवितनीतिविक्रमक्रमित्युदीर्य विरते रमाङ्गदे ।

स सरस्वतीमुग्गररत्ननूपुरध्वनिपेशलं नृपतिराददे वच ॥ ४१ ॥

मृदु उक्तियों से राजनीति और पराक्रम के परस्पर क्रम (औचित्यानौचित्य) आदि को बतलाते हुए जब रमाङ्गद अपना क्रथन कहकर चुप हो गया, तब सरस्वती (वाणी) के मंजुल नाद करते हुए पैंजन की ध्वनि के समान मधुर वचन राजा ने कहे ॥ ४१ ॥

त्वद्वृत्ते मुखात् सुखनिरस्तसंशयप्रसरेयमुत्तलसति कस्य भारती ।

शशलक्ष्मणः परमखर्वशर्वरीतिमिरच्छिदुच्छलति कान्तिकन्दली ॥४२॥

अच्छी तरह से जिसने संशयो दूर किया है, ऐसी निदुष्ट वाणी तुम्हारे सिवाय और किसके मुख से निकल सकती है ? रात्रिजन्य अत्यधिक अन्धकार को दूर करने वाली चन्द्रमा की कान्ति के अतिरिक्त और किसकी कान्ति उल्लसित हो सकती है ?

विमर्श—रात्रि के भयानक अन्धकार को चन्द्र-प्रकाश के अतिरिक्त और कोई दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह प्रौढ वाणी तुम्हारे सिवा और कौन कह सकता है ? ॥ ४२ ॥

तव वेद्मि पौरुषमहं त्वया विना न वपुःस्थिति क्वचन कर्तुमुत्सहे ।

धनुषीव दीर्घगुणसङ्गते यतस्त्वयि मे दृढप्रणयवासितं मनः ॥४३॥

मैं तुम्हारे पुरुषार्थ को जानता हूँ । तुम्हारे विना तो मेरी शरीर-स्थिति भी नहीं हो सकती अर्थात् विना तुम्हारी सम्मति और सहायता के मैं किसी काम को करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता । जिस प्रकार मौर्वी से युक्त धनुष पर मेरा मन रहता है, उसी प्रकार महान् गुणों से युक्त तुम्हारे प्रति मेरा मन आसक्त रहता है ।

विमर्श—नीतिशास्त्र का नियम है कि राजा का अस्त्रबल तथा मन्त्रिवल दृढ़ रहना चाहिए । प्रस्तुत में भी राजा का अपने धनुष पर अपार प्रेम व्यक्त होता है । साथ ही मन्त्री पर भी उसका मन विश्वस्त है, इस वर्णन से राजा की योग्यता तथा शक्तिशालिता अभिव्यक्त होती है ॥ ४३ ॥

गमने तदेहि सहितौ यतावहे झटिति त्रिविष्टपरिपोः पुरीम्प्रति ।

अपदे यदुद्यमकथाविरोधिनी नाह सिद्धये भवति दीर्घसूत्रता ॥४४॥

तो आओ, हम दोनों साथ ही तुरत उस देवताओं के शत्रु की नगरी की ओर जाने का प्रयत्न करें । व्यर्थ की दीर्घसूत्रता उद्योग में बाधा डालने वाली होती है, जिससे कि कोई भी सिद्धि (कार्यसिद्धि) नहीं हो सकती ।

विमर्श—कार्य के उद्योग में बाधक बनने वाली दीर्घसूत्रता जो कि अस्थान तथा अकाल में ही की गई हो, कार्यसिद्धि में खलल डालती है । अतः अब इस विषय में अधिक विचार न कर हमें कार्यारम्भ कर देना चाहिए ॥ ४४ ॥

शुकनाभ्यम् तोते का वचन

इति पार्श्ववतिनमुदीर्य मौनवान् अवदत् स मालवकुरङ्गलाञ्छन ।
त्वरयाऽवतीर्य स च रत्नपञ्जरात् पुरतः शुकोऽस्य पुनरित्यभाषत ।

इस प्रकार अपने साथी रमाङ्गद से कहकर जब वह मालवराजेन्द्र
नवसाहसाङ्ग मौन हो गया, तब उसी समय रत्नजटित पिंजरे से निकल कर
शीघ्र ही उस तोते ने (जिसका प्रसङ्ग पहले आ चुका है) राजा से
यो कहा ॥ ४५ ॥

शृणु शङ्खचूडशुचिवशभूरहं नृप रत्नचूड इति नागदारक ।

उदपादि कण्ठमुनिशिष्यशापतः शुक्ता मयेयमनिमीलितस्मृति ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! सुनिये, मैं शङ्खचूड के पवित्र वश में पैदा हुआ एक नाग
पुत्र हूँ । मेरा नाम रत्नचूड है । कश्यपमुनि के शिष्य के शाप से मैंने तोते की
यह योनि पाई है । इस योनि में भी मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है ॥ ४६ ॥

प्रणयोक्तिभिर्मुनिरथ प्रसेदिवान् इति मे स शापतिमिरात्रधि व्यधान् ।

वशिना रूपो मत्पिपु नाऽसते चिरं जल त्रिप्रप^१श्च नृप सस्यसूचिपु ॥ ४७ ॥

फिर मेरी भक्तियुक्त तथा मीठी वाणी से मुनि प्रसन्न हुए और
उन्होंने मेरे इस शापरूपी अधकार के दूर होने की एक समयावधि बाँधी
अर्थात् एक समय तय कर दिया । ठीक ही कहा है, समयी महापुरुषों की बुद्धि
में क्रोध उसी प्रकार देर तक नहीं टहर सकता, जैसे घान की बाली पर पानी की
बूँदें ज्यादा देर तक नहीं टहर पातीं ॥ ४७ ॥

त्वमफल्गु नेष्यसि शशिप्रभान्तिक नवसाहसाङ्गनृपतेर्यदा वच

नियत भविष्यति तदा कुमार ते शुकरूपपरिवर्तनोत्सव ॥ ४८ ॥

उन्होंने मुझसे कहा कि जब तुम राजा नवसाहसाङ्ग के सार्थक वचनों
को शशिप्रभा के पास तक ले जाओगे अर्थात् राजा के सत्यस देश को शशिप्रभा
तक पहुँचा दोगे, तब हे बालक ! निश्चित ही तुम्हारे इस तोते के रूप
का रूपान्तर हो जायगा अर्थात् फिर तुम अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ
जाओगे ॥ ४८ ॥

तदनङ्गपद्मशर सन्दिश स्वयं शनकै किमप्युरगवालिकाम्प्रति ।

दृदि यन्निधाय सहसैव याम्यह फणिनामनम्रमणितो रणा पुरीम् ॥ ४९ ॥

हे कामदेव के छूटे वाणस्वरूप राजन् ! तुम स्वयं ही नागकन्या

१ शृण्वन्ति विन्दुष्वता पुमांसो विप्रुष स्त्रियाम्—अमरकोश ।

२ तोरणोऽस्त्री बहिर्दारम्—अमरकोश ।

के लिए शीघ्र कोई सन्देश दो, जिसे अपने हृदय में रखकर मैं नागों की ऊँचे-ऊँचे मणिजटित द्वारों वाली नगरी में जाऊँ ॥ ४६ ॥

अयि मौनमेतदवनीन्द्र मुच्यताम् द्रुतमुच्यतां च किमियं मयि त्रपा ।
पृथगस्मि देव नहि ते परिच्छदान् उचितं न तन्मयि रहस्यगोपनम् ॥ ५० ॥

राजन् अब अपना यह मौन तोड़िये, शीघ्र ही कुछ कहिए । मुझसे इतनी लजा क्यों ! हे देव, मैं आपके सेवक परिजनों से बाहर नहीं हूँ, इसलिए मुझसे अपने रहस्य को छिपाना ठीक नहीं है ॥ ५० ॥

नायकवाक्यम्

इति वल्गु जल्पति शुकेऽथ विस्मयात् अपि विस्मयं परमवाप पार्थिवः ।
अवदच्च पञ्जरमिवास्य कल्पयन् दशानांशुभिः स्फटिकसूचिकोमलैः ॥५१॥

नायक का वाक्य

इस प्रकार जब वह तोता आश्चर्यपूर्वक बोल रहा था, उस समय राजा को और भी अधिक आश्चर्य हुआ । फिर अपने दाँतों की उज्ज्वल कान्ति से उस सुग्गे के चारों तरफ स्फटिक-शलाकाओं का पिञ्जरा सा बनाते हुए राजा ने कहा ।

विमर्श—जब राजा बोलने लगा, तब उसके दाँतों की फिरण-पंक्तियाँ सुग्गे के आस-पास चारों तरफ छिटकीं, जिससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उस सुग्गे के चारों तरफ मानो स्फटिक-शलाकाओं वाला पिंजड़ा तैयार हो गया हो ॥ ५१ ॥

विपदं विलोक्य तव दुःसहामिमाम् अयि रत्नचूड भम दूयते मनः ।
पतितं कुकूज दहने न कस्य वा मृदुमालतीमुकुलमाल्यमाधये ॥ ५२ ॥

हे रत्नचूड़ ! तुम्हारी इस भयंकर असह्य विपत्ति को देखकर मेरा मन अत्यन्त दुखी हो रहा है । भला कोमल मालती की कलियों की माला को आग में दहकते देखकर किसकी मनोव्यथा चीत्कार न कर उठेगी अर्थात् किसे ग्लानि नहीं होगी ? ॥ ५२ ॥

नायिकां प्रति सन्देशः

घटितं विधेरिदमजर्यमावयोर्न रमाङ्गदानमम सखेऽतिरिच्यसे ।
इदमार्यं तत्त्वयि विमुक्तयन्त्रणो ननु सन्दिशामि हरिणीदृशम्प्रति ॥ ५३ ॥

नायिका के लिये सन्देश

हे मित्र ! भाग्यवश ही हम लोगों की यह मित्रता हुई है, मेरे लिये तुम रमाङ्गद से कुछ कम नहीं हो । इसीलिए हे प्रिय ! मैं निःसंकोच तथा यन्त्रणा

१. पुंस्याधिर्मानसी व्यथा—अमरकोश

रहित होकर तुम्हें उस हरिणी के समान नेत्र वाली (शशिप्रभा) को बताने के लिए वृद्ध सन्देश देता हूँ ॥ ५३ ॥

विरतेऽपि मेघतिमिरे नटाङ्गि मे न गतासि लोचनपथ यदा तदा ।

फणिलोकभूमिमतिदुर्गमामिमाम् अविश तवानुपदमेव सुन्दरि ॥ ५४ ॥

तुम शशिप्रभा से कहना कि ! “ह सुन्दर लचीले शरीर वाली ! जब बादलों क उस घने अंधेर के दूर हो जाने पर भी तुम मुझे न दिखाइ दी, तब मैं तुम्हारे पीछे पीछे ही नागों क इस भयानक दुर्गम लोक में आ पहुँचा ॥ ५४ ॥

नगरीं त्वदात्तहृदयोऽपि भोगिनाम् अहमागतो न मृगदीघलोचने ।

श्रुतये दुसूतिसरतितोन्यतो हत सदस्य हेमशतपत्रनातया ॥ ५५ ॥

हे मृग के समान दीर्घ नेत्रवाली ! मैं तुम्हारे प्रति मेरा चित्त आसक्त होने पर भी नागों की इस नगरी में आकर भी तुम्हारे पास नहीं आया, किन्तु चन्द्रपुत्री नर्मदा से स्वर्णकमल की बात सुनकर अब मैं अत्र जा रहा हूँ ।

विमर्श—इससे राजा का केवल कामासक्तत्व नहीं प्रतात होता, वह धीरोदात्त तथा आर्त्तत्राणपरायण है, यह बात भी इससे व्यक्त होती है ॥ ५५ ॥

अतिपाटलाधरमवाञ्छित द्विया स्मितकान्तिमन् स्तिमितरत्नमुण्डलम् ।

तदपाङ्गसङ्कलितलोचनोत्पलम् फणिलोककौमुदि मुरं स्मरामि ते ॥ ५६ ॥

हे नागलोक की चाँदनी । लाल लाल ओठों वाले, लज्जा के कारण श्रवणत, मन्द मन्द मुस्कान से जिस पर कान्ति झलक रही थी, ऐसे निश्चल रत्नमुण्डलो वाले तथा जिस पर कमलरूपी नयन सहस्र कटाक्षों से युक्त होने से अत्यधिक शोभित थे, ऐसे तुम्हारे मुख की मुझे सदैव याद आती रहती है ॥ ५६ ॥

द्वितये द्वयेन सहसोज्झितस्तदा शशिसूतिसिन्धुपुलिनोन्ने शर ।

जगदेकविभ्रममुवा भुजस्तले सुतनु त्वया मयि च पुष्पध्वना ॥ ५७ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! उस समय चन्द्रपुत्री नर्मदा के किनारे दो व्यक्तियों ने ‘दो’ पर एक साथ ही बाण छोड़ा । सारे ससार की एकमात्र शाभास्थान तुमने मूलतः पर और कामदेव ने मुझपर ॥ ५७ ॥

धृतमूमिहस्तनिग्रहेन रेवया ननु फेनकात्तिकरभोर मे पतन् ।

विपये दृशोरुपदर्श मन शिलालिखितैकहसमिधुन तत्राशुकम् ॥ ५८ ॥

हे हस्तिमुँड के समान जंघाओं वाली ! तरगरूपी हाथों के समूह से रेवा-नदी ने फेन के समान श्वेत कान्तिवाले, मनशिला (मेनसिल) से उने

हुए हंस के जोड़ों से युक्त तुम्हारे जिस वस्त्र को पकड़ा था, वह वस्त्र मेरी आँखों के सामने ही दिखाई दे रहा है ॥ ५८ ॥

मणिकान्तिलुमतिमिरे रसातले भवतीमिहानुसरता तनूदरि ।
अवलोकितान्यथ मया पदानि ते सहसा सुवर्णसिकताङ्किते पथि ॥ ५९ ॥

हे क्षीण कटि वाली ! तुम्हारा पीछा करते हुए मैंने मणियों की कान्ति से जहाँ अन्धकार नष्ट हो गया था, ऐसे रसातल में सुनहले बालू वाले मार्ग पर तुम्हारे पदचिह्नों को देखा ।

विमर्श—बालुकामय प्रदेश पर पद-चिह्नों का उठ आना स्वाभाविक ही है । राजा जब पाताललोक में आया, तब उसने बालुई जमीन पर शशिकला के पदचिह्न देखे ॥ ५९ ॥

सरले झटित्युदितकार्यदोर्लतागलितानि रत्नवलयानि ते मया ।
कथमप्युदश्रुपतं पदे-पदे चकितेन चन्द्रमुखि वीक्षितानि च ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमा के समान मुख वाली ! सरलहृदये ! दुर्बलता बढ़ जाने के कारण तुम्हारे हाथों से गिरे हुए रत्नजटित कंगनों को मैं बड़ी कठिनाई से आँसू पोंछ-पोंछकर पद-पदपर चकित होते हुए देखता रहा ।

विमर्श—विरहजन्य दुर्बलता के कारण कृशता आ जाना स्वाभाविक है । कृशता से हाथों के कंगन गिर गये थे, जो राजा को रास्ते में मिले थे ॥ ६० ॥

मनसा किमालिखति कि समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्ति सा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्तया हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥ ६१ ॥

वह चन्द्रमुखी मन में क्या सोच रही होगी, उसके मन में किसका ध्यान चल रहा होगा, क्या कर रही होगी, क्या कहती होगी—इस प्रकार की तुम (शशिप्रभा) से सम्बद्ध चिन्ता ने मेरे हृदय में एक काँटा सा चुभो रखा है । अर्थात् जबसे इस चिन्ता ने व्यापा है, तब से हृदय एक क्षण भर के लिए भी आश्रय नहीं है, वैचैन है ॥ ६१ ॥

परितापयत्यविरलोच्छलत्प्रभातुहिनच्छटाभिरसिताञ्जलोचने ।
शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरस्तव द्वार एष हृदि सिञ्चतीव माम् ॥ ६२ ॥

बराबर निकलने वाली अपनी शीत कान्ति से जब यह चन्द्रमा जलाने लगता है, तब शरद्कालीन चन्द्रमा की किरणों से सुन्दर उज्ज्वल तुम्हारा यह द्वार ही मेरे हृदय को सान्त्वना देता है । चन्द्र आदि चीजें विरह में दाहक मानी जाती हैं, उस समय अपने प्रियजन सम्बन्धी कोई वस्तु पास रहे, तो वह आनन्द देती है, यह कविसमयसिद्ध बात है ॥ ६२ ॥

कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रवशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।
मम हारयष्टिरपि सा सखीव किं मदनाभितापमपट्टकरोति ते ॥ ६३ ॥

हे प्रिये, बोलो । घने चन्दन का लेप करने से टरही और उज्ज्वल किरणों वाली मेरी वह हारयाष्टि भी सखी की भाँति क्या तुम्हारी कामपीडा को कुछ दूर कर देती है ?

विमर्श— राजा ने अपनी हार शशिप्रभा को दे रखा था, उसी के बारे में वह सन्देश देते समय कह रहा है कि क्या वह नायिका की कामपीडा को कुछ हल्का कर रहा है ॥ ६३ ॥

क्षणमप्यहो पतसि मे शुचिस्मिते न समुत्सुकस्य तत्र त्रिस्मृते पथि ।
हृदिति प्रविश्य हृदये मयाऽत्र किं लिखितासि पद्मसुरि पुष्पकेतुना ॥ ६४ ॥

हे शुद्ध हास्यवाली । मैं उत्सुक हृदयवाला तो तुमको क्षण भर भी नहीं भूल सक रहा हूँ । हे कमलमुखी । क्या कामदेव ने मेरे हृदय में प्रवेश कर तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में अङ्कित कर दी है ?

त्रिमश— नायिका का ध्यान नायक के हृदय से एक क्षण के लिए भी नहीं हट रहा है । ऐसा लग रहा है, जैसे कामदेव ने स्वयं उसके हृदय में प्रवेश कर नायिका की मूर्ति उसके हृदय पर खोद दी हो ॥ ६४ ॥

समुद्रहती स्रग्दञ्जनाश्रुधारोत्करश्यामितकङ्कणेन ।
करारविन्देन मुरेन्दुबिम्बम् आपाण्डुरक्षामकपोलमिति ॥ ६५ ॥

कुछ पीलापन लिये हुए और दुर्बल गात्रों वाले मुखचन्द्र को काजल के साथ बहते हुए काले आँसुओं के धारापुञ्ज से जिसके बङ्कण काले हो गये थे, ऐसे हाथ से पोछती हुई ॥ ६५ ॥

नये नये पङ्कजिनीपलाशमृणालहारादिसनाथपार्श्वे ।
प्रवत्सलीलास्तरणे निपण्णा सिंहासने ममथपाथिनस्य ॥ ६६ ॥

नये नये कमलिनी के पत्ते और कमल के डठल के हार उसके आस पास पड़े थे, ऐसे अतएव मूँगे के समान शोभायमान बिल्लौने पर वह ऐसी बैठी होगी, जैसे कामदेव रूपी राजा के सिंहासन पर ही विराजमान हो ॥ ६६ ॥

यालप्रयालाङ्कुरपाटलस्य लावण्यरत्नाकरकौस्तुभस्य ।
उदष्मणा निश्वसितेन कार्ति कर्दर्थयती दशनच्छदस्य ॥ ६७ ॥

कोमल मूँगे के अङ्कुर के समान लाल सौंदर्यसमुद्र के कौस्तुभमणिवस्त्र धोठ को गहरी और गर्म रवाओं से मलिन करती हुई ॥ ६७ ॥

कलापकः^१

अनल्पसंकल्पविकल्पजाल-विलोडनैर्न स्वमपि स्मरन्ती ।
ससाध्वसेनाविरतं मया त्वम् उत्प्रेक्ष्यसे पन्नगराजपुत्रि ॥ ६८ ॥

कलापक

विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्पों के संघर्ष में पड़ी अपनी सुध-बुध भी भूली हुई, हे नागपुत्रि मैं तुमको धराया हुआ सा बराबर देखा करता हूँ ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी क्या स्थिति है, इस बारे में मैं बहुत शंकित रहता हूँ ॥ ६८ ॥

ऋमः कियन्नथ कथञ्चन कालमल्पम् अत्राञ्जपत्रनयने नयने निमील्य ।

हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसाऽपहत्य देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेदि ॥ ६९ ॥

श्रीर क्या कहूँ, किसी न किसी तरह आँख मूँद कर थोड़ा सा समय और काट लो । हे कमल के समान नेत्रवाली, इस बीच शीघ्र ही उस दैत्य के पास से उस स्वर्णकमल को लेकर मुझे पास आया हुआ ही समझ लो ।

विमर्श—कुछ काल तक और धैर्य धारण किये रहो, तब तक मैं उस राक्षस को मार कर स्वर्णकमल तुम्हारे पास ले आऊँगा । ॥ ६९ ॥

भद्रैतद्ब्रज रत्नचूडनिविटप्रेमाद्रमस्मद्वच-

स्तस्यास्तत्र कुरङ्गशावकदृशः कर्णावतंसीकुरु ।

शापान्ते वत त्रिस्मरिष्यसि यदि भ्रातस्तदेकं किम-

प्यादाय स्वयमेव तत्प्रतिवचः पार्श्वं ममाभ्येष्यसि ॥ ७० ॥

प्रिय रत्नचूड ! शीघ्र जाओ, घने प्रेम से परिपूर्ण मेरे इन वचनों (सन्देश) को हरिणी के बच्चे के समान नेत्रवाली उस सुन्दरी के कानों तक पहुँचा दो अर्थात् इन वचनों से उसके कानों की शोभा बढ़ाओ । यदि तुम शाप खत्म होने पर हमें भूल भी जाओ तो भी अवश्य ही उसके उत्तर को मेरे पास पहुँचा देना ॥ ७० ॥

इति नरपतेः स्वान्ते कृत्या मनोमृगवागुरां

गिरमुदकमन्निस्त्रिशाभे नभस्यशनैः शुक्रः

चिरविनिहितां दृष्टिं तस्मान्निवर्त्य तथोत्सुको

झटिति गमने देवोऽप्यासीत्स साहसलाञ्छनः ॥ ७१ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसुनोः परिमलापरनाम्नः पन्नगुत्तस्य

वृत्तौ नवसाहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये 'रत्नचूड-

सम्प्रेषणं' नाम दशमः सर्ग ॥ १० ॥

१. जहाँ चार श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ कलापक होता है ।

इस प्रकार राजा की बात को मनरूपी मृग के लिए जाल बनाकर अर्थात् अपने मन को उस वाणी में अच्छी तरह बाँधकर, ताकि इधर-उधर का ध्यान न धाये, वह रत्नचूड़ तोता निर्मल आकाश में शीघ्र उड़ गया । तब (शशि-प्रभा-सगम के लिए) उत्सुक बने उस साहसाक राजा ने बहुत देर से उसकी ओर लगी अपनी दृष्टि को उसकी तरफ से हटाकर शीघ्र ही दैत्यराज के यहाँ जाने का विचार किया ।

विमर्श—अर्थात् भव वह अपने कर्तव्य के बारे में सोचने लगा ॥ ७१ ॥

मृगाङ्गदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित

नवसाहस्राङ्कचरित महाकाव्य का रत्नचूड़

प्रेषण नामक दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥



अथैकादशः सर्गः

शत्रुजयाथेप्रस्थानम्

शत्रु विजय के लिये जाना

अथ विभ्रत् सरागेण हृदयेन कृशोदरीम् ।

स प्रतस्थे महीनाथः करेण च धनुर्लताम् ॥ १ ॥

फिर राजा सिन्धुराज प्रेमपूर्ण चित्त में शशिप्रभा के स्वरूप को धारण कर और हाथ में धनुष की डोरी को थामकर वज्रांकुश की ओर चल पड़ा

विमर्श—इस बात से स्पष्ट है कि उसके हृदय में उस सुन्दरी का ध्यान एक क्षण के लिए भी नहीं हटा है । पर वह अपने कर्तव्य में लगा है, यह बात भी स्पष्ट है ॥ १ ॥

इन्द्रनीलप्रतो'लीतः स निर्गच्छन् पतिः श्रियः ।

तत्कान्ति श्यामतां गत्वा क्षणं कृष्ण इवावभौ ॥ २ ॥

इन्द्रनील से बने गलियारों से जब वह शोभाशाली राजा गुजरने लगा, तब उस क्षण इन्द्रनील मणियों की कान्ति के प्रभाव से उसकी शोभा लक्ष्मी से सुशोभित भगवान् कृष्ण की तरह थी, उस समय वह कृष्णवर्ण का सा प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

आसन्नपद्मसरसा कुसुमानभ्रशाखिना ।

स नर्मदोपदिष्टेन गन्तुं प्रवृत्ते पथा ॥ ३ ॥

तब वह राजा जिसके इधर-उधर कमल से भरे-पूरे तालाब शोभा पा रहे थे, जिसके समीपवर्ती वृक्षों की डालियाँ फूलों से लदी होने के कारण झुक गयी थीं, ऐसे नर्मदा के ब्रताये हुए उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुआ ॥ ३ ॥

यान्तमेकान्तशिशिराः समीरास्तं सिपेचिरे ।

एला-लवङ्ग-कङ्कोल-जातीफलसुगन्धयः ॥ ४ ॥

इलायची, लौंग, सुपारी तथा तथा जायफल की सुगन्ध से युक्त वहती हुई अत्यन्त टंडी-टंडी हवा (के भोंको) ने प्रस्थान करते हुए उसके शरीर को शीतल किया ॥ ४ ॥

विमर्श—मन्द-मन्द शीतल समीर आदि का किसीके प्रस्थान के समय चलना शुभसूचक माना जाता है ॥ ४ ॥

चक्रुस्तस्यानिलस्पर्शकवणत्काञ्चनपत्तवा ।

मौक्तिकस्तरकस्मेरा विस्मय रत्नवीरुघ ॥ ५ ॥

सुन्दर रत्नसमान पुष्पोवाली, वायु के स्पर्श से हिलने के कारण जिनके सोने के समान पीले पत्ते शब्द कर रहे थे, ऐसी तथा मोती के गुच्छ के गुच्छ खिलने के कारण जो स्मित करती हुई थी मालूम पड़ रही थी, ऐसी रत्न की लताओं ने सिंधुराज को विस्मित कर दिया ।

विमर्श—पाताल-लोक के ऐश्वर्यशालित्वातिशय को रताने के लिए कवि ने यह अतिशयोक्ति की उठान मरी है ॥ ५ ॥

अमन्दमास्ताक्षेपमुक्तमुक्ताफलच्छलात् ।

चलद्विशलना मूर्ध्नि तन्म्य लाजानिवाकिरन् ॥ ६ ॥

तेज हवा के झोंकों से हिलने के कारण गिरे हुए मातियों के बहाने, बाँस की चंचल लताओं ने मानो उसके ऊपर लावा ढिखेरी ।

विमर्श—अर्थात् बाँस के पेड़ों से मुक्ताफल गिर रहे थे, उसमें उत्प्रेक्षा यह की गयी कि वह लतायें राजा का मंगल मनाने के लिए मानो उसपर लावा की वर्षा कर रही हों ॥ ६ ॥

अगलन् कुमुमव्यापात् तन्मिभ्रभ्यर्णगामिनि ।

पातालकल्पवृक्षाणामानन्दाश्रलया इव ॥ ७ ॥

जब राजा पेड़ों के पास से जाता था, तब उसके ऊपर फूलों के रूप में नागलोक के कल्पवृक्षों ने मानो आनन्दाश्रुओं की वर्षा की ॥ ७ ॥

अरविन्दमुखकोदक्रीहन्मुखरपट्टपदा ।

अनामयमिवापृच्छत्तमभ्यागतमञ्जिनी ॥ ८ ॥

जिसके कमलों के भीतर बैठे हुए भौरे गुझार कर रहे थे—ऐसी कमलिनी (कमललता) ने मानो उस अतिथि की कुशल-वार्ता पूछी ।

विमर्श—भौरे गुँज रहे थे, मानो इस बहाने राजा से कमलिनी ही उसका कुशल ज्ञेय पूछ रही हो ॥ ८ ॥

शशिप्रभाक्षिप्रिस्तारसवादिन्य पदे पदे ।

त किमप्यार्द्रता निन्युररप्यदृरिणीदृश ॥ ९ ॥

शशिप्रभा के नेत्रों की विशालता को बतलाने वाली अर्थात् शशिप्रभा के नेत्रों के समान ही बड़ी-बड़ी जगली हरिणियों की दृष्टियों ने उसके हृदय को कुछ-कुछ शीतल किया ।

विमर्श—प्रेयसी के विरह में कातर राजा को तरसदृश दृष्टि देखकर कुछ राहत मिलती थी ॥ ९ ॥

उपयुक्तामृतस्पर्धि नारिकेलफलोदकान् ।

आस्वादितलवङ्गैलापूगनागलतादलान् ॥ १० ॥

लौंग, इलायची, सुगरी, पान आदि का रसास्वाद लेता हुआ वह सिन्धुराज अमृत के साथ स्पर्धा करने वाले अर्थात् तसदृश नारियलों के पानी को भी पीता था ॥ १० ॥

शय्यीकृतातनुस्वर्णकदलीवालपल्लवान् ।

विष्ट्रीकृतविस्तीर्णचन्द्रकान्तशिलातलान् ॥ ११ ॥

बड़े-बड़े केले के खंभों के कोमल पत्तों को चिछौने की तरह और बड़ी-बड़ी चन्द्रकान्त-रत्न से शोभित चट्टानों को आसन की तरह उपयोग में लाता हुआ वह राजा चलने लगा ॥ ११ ॥

तत्कालोचितकर्तव्यव्यावृत्तैकरमाङ्गदान् ।

आवृत्तिविहितप्रेयः फणिराजसुताकथान् ॥ १२ ॥

उस समय (रास्ता काटने के लिए) करने योग्य अतएव रमाङ्गद द्वारा बार-बार कही गयी नागराजपुत्री की सुन्दर कथा को सुनता हुआ चला । बार-बार उन कथाओं की आवृत्ति होने से राजा को अच्छा लगता था ॥ १२ ॥

हृदयन्यस्तकर्पूरमृणालनलिनीदलान् ।

पुंस्कोकिलकुलोल्लापजनितस्मरसञ्चरान् ॥ १३ ॥

कमलिनी के दलों के मृणालों को हृदय पर रखता हुआ, नर-कोकिलों के समूह की कूक से जहाँ कामपीड़ा उत्पन्न की जा रही थी, ऐसे मार्गों में विश्राम करता हुआ चला ॥ १३ ॥

जाम्बूनदलतागुल्मविहिताश्रयसौहृदान् ।

गच्छन् स तत्र कतिचिन्निवासान् व्यधिताध्वनि ॥ १४ ॥

सुनहरी लतागुल्मों में विश्राम करने से उसने जिन रास्तों से दोस्ती कर ली थी, ऐसे उन रास्तों पर उसने कई जगह तम्बू डाले । अर्थात् रास्ते में कई जगह रुकता हुआ वह राजा अपने गन्तव्य स्थान की ओर जा रहा था ॥ १४ ॥

वङ्कुमुन्याश्रमप्राप्तिः

कुलकम्

सम्प्राप्य पृथिवीपालः कालेन कियताऽप्यथ ।

स कूलोपान्तविचरन्यङ्क वङ्कुतपोवनम् ॥ १५ ॥

वङ्कुमुनि के आश्रम का मिलना

इस प्रकार चलता हुआ नदीतट पर विचरण करता हुआ वह राजा कुछ समय पश्चात् वङ्कुमुनि के सुन्दर आश्रम में पहुँचा ॥ १५ ॥

आश्रमवर्णनम्

हृत कुतूहलेनाऽल तदालोकनजन्मना ।

पतिं मध्यमलोकस्य त जगाद रमाङ्गद ॥ १६ ॥

आश्रम का वर्णन

उस आश्रम को देखने से उत्पन्न कौतूहल से जो आकृष्ट कर लिया गया था, ऐसे उस पृथ्वीपति नवसाहसार्क को रमाङ्गद बोला ॥ १६ ॥

सीमा सती तिशन्दस्य सकुशाङ्काल्पेपल्लना ।

मैथिलीव श्रिय धत्ते कामप्याश्रमभूरियम् ॥ १७ ॥

कुशा अर्थात् कांटों से अङ्कित छाटे-छोटे पत्तों वाली, (मुनिप्रताप के कारण) 'सती' इस शब्द की मानो सीमा अर्थात् अत्यन्त पवित्र यह आश्रम भूमि सीता की तरह किसी अनिर्वचनीय शोभा को धारण कर रही है ।

सीतापक्ष में—कुशा नामक प्रिय पुत्र से जिसकी गोद भरी हुई है, (निर्वाचिता होने के कारण) जिसने पत्तों के अलङ्कार भी बहुत कम धारण किये हैं तथा जो स्वयं 'सती' इस शब्द की सीमा है, अर्थात् जिसमें आकर वह शब्द समा जाता है—सीता से बढ़कर सती अन्य कोई नहीं हो सकती—ऐसी सीता के समान ॥ १७ ॥

इतो वान्ति हविर्धूमलतालास्यप्रदा इमे ।

मरुत पायना पक्कपुरोडाशसुगन्धय ॥ १८ ॥

हवन करते समय जो धूमलता ऊपर की ओर सीधी उठ रही थी, उसे कॅपाने वाली तथा पके हुए हविष्यान्न की सुगन्ध से सनी ये पवित्र हवाएँ चल रही हैं ॥ १८ ॥

इतो हिरण्मयी भूमिस्तरनो हेमवल्कला ।

उन्निद्रहेमपद्मानि पयासीव पदे पदे ॥ १९ ॥

एक तरफ यह सुनहली भूमि, दूसरी तरफ सुनहली छालवाले पेड़ तथा जगह जगह पर विकसित स्वर्ण कमल वाला पानी ही पानी था ।

विमर्श—उस पाताललोक का यह सब प्राकृतिक सौन्दर्य तो इस देखते ही बनता था ॥ १९ ॥

काकपक्षोद्भूर्धानि पश्यैते गुरुशिक्षया ।

वटव खण्टयन्त्यत्र समिधश्च पदानि च ॥ २० ॥

जिनके तिर काकपक्ष से चिह्नित हैं, ऐसे बालबटु गुह की आज्ञा और सीख के अनुसार एक ओर हवन के लिए लकड़ियों को तोड़ रहे हैं, और श्लोकों का पदच्छेद भी कर रहे हैं ।

विमर्श—जब बालक का पहली बार मुडन कराया जाता है, उस समय

सिर पर के बाकी सारे बाल छाँट दिये जाते हैं, पर सिर पर एक जगह थोड़ा सा बाल अवश्य रख छोड़ते हैं, यह प्रथा अब भी प्रचलित है। उन्हीं रखे हुए बालों के पुंज को 'कौवा' अर्थात् 'काकपत्न' कहते हैं। वह बालक समिधायें भी तोड़ते जाते थे और साथ ही श्लोकों का पदपाठ आदि भी करते जाते थे ॥ २० ॥

अनया साम गायन्त्या स्वरसंशयवानयम् ।

इतः करोति कलहं शुकः सारिकया समम् ॥ २१ ॥

सामवेद की ऋचा गानेवाली इस कोयल के स्वर पर शंका करने वाला यह तोता तो देखो, इस कोयल से कलह कर रहा है ।

विमर्शा—अर्थात् सामगायन करते-करते सारिका ने जहाँ स्वर की गलती कर दी है, ऐसी शंका समीपस्थ सुग्गे को होती है, और वह उसके साथ शास्त्रार्थ करने लगता है ॥ २१ ॥

इदमत्राद्भूतं पश्य मदक्लिन्नां गजस्य यत् ।

गण्डलेखां नखाग्रेण शनैः कण्डूयते हरिः ॥ २२ ॥

इधर इस आश्चर्यजनक दृश्य को तो देखो—मदजल से परिप्लुत हाथी की गण्डलेखा (मस्तक) को यह शेर अपने नाखूनों के अग्र भाग से खजुआ रहा है ॥ २२ ॥

प्रभामण्डलपर्यस्ततमसः शतशः पथि ।

तवापतन्ति पातालरवयोऽभी महर्षयः ॥ २३ ॥

अपने प्रभापुञ्ज से बराबर पथ के घोर अन्धकार को दूर करने वाले, पाताललोक के सूर्य के समान ये महर्षि लोग आप ही की तरफ आ रहे हैं ॥ २३ ॥

एषां द्वितयमेताभिः कपिलाभिरलङ्कृतम् ।

उटजप्राङ्गणं गोभिर्जटाभिरभितः शिरः ॥ २४ ॥

इन मुनियों की दो वस्तुएँ कपिलाओं अर्थात् कपिला नाम की गायविशेष तथा कपिशवर्ण) से समलङ्कृत हैं। कुटियों के अँगने गायों से तथा मस्तक कपिश जटाओं से ॥ २४ ॥

इतो गात्रपरावृत्तिभग्नास्थिपरूपेतरेण ।

मुनेः शय्याकुशानन्ति बालः कस्तूरिकामृगः ॥ २५ ॥

शय्या पर सोने वाले मुनि के इधर-उधर करवट बदलने से जिनका कड़ा भाग टूटा जा रहा था, ऐसी कोमल कुशाओं को बाल कस्तूरीमृग खा रहा है ॥ २५ ॥

इतोप्ययमृपिः पश्य जपापाटलयाऽनया ।

गवानुगम्यते सायं सन्ध्ययेव दिवाकरः ॥ २६ ॥

इधर इस ऋषि के पीछे वह ज्वाकुसुम के फूल की भाँति लाल रंग की गाय वैसे ही जा रही है, जैसे दिन के पीछे रक्तवर्ण की सन्ध्या ॥ २६ ॥

सहसैवातिथि प्राप्त कोप्यय भवतामिति ।

एष प्रत्युत्पन्न वक्ति ससम्भ्रममय शुक्र ॥ २७ ॥

इधर देखिए, प्रत्येक कुटीर में एक एक तोता मानो सहस्राकुटीरवासियों से यह कह रहा है कि देखिये, आप लोगों के यहाँ कोई अतिथि आ गया है ॥२७॥

अत सम्प्रति वीक्षन्ते कौतुकोत्तानितेक्षणा ।

त्वामिन्दुमिव पर्याप्तमण्डलं मुनिकन्यका ॥ २८ ॥

इसीलिए ये मुनिकन्यायें अब आश्चर्य से आँखें पाह पाह कर पूर्णचन्द्र के समान तुम्हें देख रही हैं ॥ २८ ॥

भूदत्तस्मरसाम्राज्य मुखश्रीतजितेन्दु च ।

आमामिदीवराक्षीणामलङ्कारो नय वय ॥ २९ ॥

इन कमल के समान नेत्रवाली सुन्दरियाँ को नई उम्र ही इनका सर्वोत्तम आभूषण है । इस वय के कारण ही इनकी मुख की शोभा से चांद्र भी तिरस्कृत हो रहा है, और इन्होंने तमाम धरती में मानो कामदेव की साम्राज्य दे दिया हो ॥ २९ ॥

मुक्तास्त्र स्त्रीषु कन्दर्पो देवात्रानुशयादिव ।

शङ्के सन्त्यज्य कोदण्डमात्तदण्डस्तपस्यति ॥ ३० ॥

हे देव ! प्रतीत होता है कि कामदेव इन स्त्रियों पर कामराग छोड़ कर फिर पश्चात्ताप के कारण मानो अपने घनुष को छोड़कर प्रायश्चित्त स्वरूप सजा ग्रहण करने के लिये ही तपस्या करने चला गया है (अर्थात् इनका सौन्दर्य कामभावना रहित है) ॥ ३० ॥

वङ्गमुनिदर्शनम्

तस्मिन्नित्युक्तवत्येष तथा सविधवर्त्मनि ।

तत पृथ्वीशशाङ्केन वङ्गमुनिरदृश्यत ॥ ३१ ॥

वङ्गमुनि का दर्शन

जब वह रमाज्ञद ऐसा कह ही रहा था, कि इतने में पृथ्वीचन्द्र सिन्धुराज ने पास के रास्ते पर वङ्गमुनि को देखा ॥ ३१ ॥

असायलम्बिनीर्निभ्र्ण् सन्ध्याभ्रकपिशा जटा ।

प्रसृता इव निर्गत्य परमज्योतिष शिखा ॥ ३२ ॥

उन मुनिजी ने सन्ध्या के समान धूसर वर्ण की, कंधों तक लटकती हुई जटाओं को धारण किया था । मालूम पड़ रहा था कि जैसे महाअग्नि की शिखाय बाहर निकल कर फेल गयी हो ॥ ३२ ॥

दधद्यज्ञोपवीतेन सीमन्तितमुरःस्थलम् ।

जाह्नवीनिर्झरेणैव नभः प्रालेयपाण्डुना ॥ ३३ ॥

यज्ञोपवीत से उनका दक्षःस्थल सुशोभित हो रहा था, मानो जाह्नवी की हिमधवल धारा से आसमान शोभा पा रहा हो ॥ ३३ ॥

शुद्धैकगुणसम्पृक्तामक्षमालां दधत् करे ।

मूर्तां तीव्रतपःसिद्धिमात्मनः फलितामिव ॥ ३४ ॥

उन्होंने शुद्ध एक गुण (तागे) से युक्त (गुंथी) अक्षमाला हाथ में धारण की थी । वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो उनकी घोर तपस्या की सिद्धि ही मूर्तिमती होकर फलित हुई हो ॥ ३४ ॥

योगक्षेमोपपत्यर्थमुपचिष्टः कुशासने ।

नप्तेव मैथिलीभर्तुरतिथिर्नाम पार्थिवः ॥ ३५ ॥

योगक्षेम के लिये कुशासन पर बैठे हुए वह मुनि ऐसे लग रहे थे, मानो अग्निमित्र राजा जनकल्याण के लिए आसन पर बैठा हो ॥ ३५ ॥

प्रियसोमः सदा युक्तः प्रियया चानसूयया ।

पात्रमत्रिरिवोप्राणां तपसां तेजसामिव ॥ ३६ ॥

अत्रि ऋषि का सोम अर्थात् चन्द्र नामक एक पुत्र था, उससे अत्यन्त प्रेम करने वाले, तथा अपनी प्रिया अनसूया से सदा युक्त महामुनि अत्रि की तरह ही सोमरस से प्रेम करनेवाले वह ब्रह्ममुनि भी उग्र प्रताप तथा तपस्या की खान थे ॥ ३६ ॥

स दृष्टिपथमायाति ययातिप्रतिमे नृपे ।

तुतोप कस्य वा न स्यादाकृतिस्तस्य सा मुदे ॥ ३७ ॥

ययाति के समान वह राजा उन ब्रह्ममुनि के दृष्टि गोचर हुआ, तब मुनि अत्यन्त तृप्त हुये । भला ऐसी सुन्दर आकृति किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं होती । अर्थात् ऐसी आकृति सबको प्रसन्न कर देती है ॥ ३७ ॥

ततः कृतप्रणामस्य तस्य प्रणतभूभृतः ।

विदधे स विशाम्पत्युरातिथ्यमतिथिप्रियः ॥ ३८ ॥

अतिथियों को प्रिय मानने वाले अर्थात् अतिथिसेवापरायण उस ऋषि ने प्रणाम करनेवाले अतएव विनम्र उस राजा का अतिथि-सत्कार किया ॥ ३८ ॥

अथाऽदूरे सुखासीनः सुखासीने महीभृति ।

इति सूनृतया वाचा स वक्तुमुपचक्रमे ॥ ३९ ॥

राजा के सुख पूर्वक बैठ जाने पर राजा के पास ही सुख से बैठे हुए उस ऋषि ने मृदुवाणी में इस तरह बोलना प्रारम्भ किया ॥ ३९ ॥

अथ न० पुण्ययोजेन मुक्तो यन् सत्यमङ्कर ।

ललाम लोकात्रितये येन त्वमवलोकित ॥ ४० ॥

सचमुच ही आज हमारे पुण्य का बीज अङ्कुरित हो आया है, जो तीनों लोकों में परम सुन्दर आपको हमने देखा ॥ ४० ॥

तव शसति सौभाग्यमधिजातेयमावृति ।

इन्दो सुधानिधानत्व ज्योत्स्नया यन् प्रतीयते ॥ ४१ ॥

उच्चकुलीन तुम्हारी यह आवृति तुम्हारे सौभाग्य अर्थात् महत्त्व को बता रही है । जैसे कि चाँदनी से ही यह प्रतीत हो जाता है कि चन्द्रमा सुधा का भण्डार है ॥ ४१ ॥

यथाप्रदेशमायातैर्व्यक्ति वज्राङ्गुशादिभि ।

चक्रवर्तीरियनुक्तोऽपि चिह्नमन्वमनुभीयसे ॥ ४२ ॥

वज्र, अकुरा आदि योग्य स्थानों पर स्थित चिह्नों के द्वारा बिना कहे भी यह अनुमान हो जाता है कि तुम चक्रवर्ती हो ॥ ४२ ॥

त्वदर्शनोऽसवेनैव वृत्तायं चक्षुरथ न ।

विमुञ्चति शरच्चन्द्रे चिरकालमपि स्पृहाम् ॥ ४३ ॥

तुम्हारे दर्शन के आनन्द से ही आज हमारे नेत्र सफल हो गये हैं । अतः वह नेत्र चिरकाल तक शरदकालीन चन्द्रमा में लगी स्पृहा को छोड़ रहा है, अर्थात् आपको देखकर अब हम शरदकाली चन्द्र को भी देखना नहीं चाहते ॥

हेतुद्वितयमेवात्र परमानन्दमम्पद ।

परब्रह्मोपलब्धिर्वा सङ्गतम् वा भवाद्दशाम् ॥ ४४ ॥

हमारे परम आनन्दरूपी सम्पत्ति के केवल दो कारण हो सकते हैं— एक तो आप जैसे लोगों का दर्शन या परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ॥ ४४ ॥

अकृत्वा भवत प्रश्न न स्यातुमहमुत्सहे ।

धीरता मम भिदति या कौतुकसोर्भय ॥ ४५ ॥

आप से बिना प्रश्न किये तो मैं रह नहीं सकता । क्योंकि मेरी धीरता को कौतुहल रस को लहरें तोड़ रही हैं । अर्थात् धीरता का बाँध कौतुक रस के तेज आघात से टूट रहा है ॥ ४५ ॥

त्वया महीभृतामत्र वश केपामलङ्कृत ।

श्रोत्रपीयूषगण्डूष कानि नामाक्षराणि ते ॥ ४६ ॥

आपने (अपने ब्रह्म से) भिन राजाओं के वश को अलङ्कृत किया है । और कानों में अमृत-रस घोल देने वाले आपको नाम के कौन-कौन अक्षर हैं । अर्थात्—आप किस वश के हैं और आपका नाम क्या है ? ॥ ४६ ॥

अनेन गुणिना सार्धं धनुषाऽनुचरेण च ।

केन कार्यातिभारेण त्वमेतामागतो भुवम् ॥ ४७ ॥

इस गुणशाली पुरुष तथा प्रत्यञ्चायुक्त धनुष के साथ आप किस विशेष कार्यभार से यहाँ इस जगह आये हैं ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् राज्ञा सस्मितमौचितः ।

स्थित्वा क्षणमुवाचेदमिङ्गितज्ञो रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वाक्य

उस मुनि के इस प्रकार कहकर मौन हो जाने पर राजा ने जिसकी ओर हँसकर देखा था, ऐसा रमाङ्गद राजा के इशारे को समझ कर कुछ क्षण चुप रहकर फिर बोला ॥ ४८ ॥

अर्बुदाचलवर्णनम्

ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः ।

उपोढहंसिका यस्य सरितः सालभञ्जिकाः ॥ ४९ ॥

अर्बुद पहाड़ का वर्णन

ब्रह्माण्ड रूपी मण्डप का खम्भा बना हुआ एक अत्यन्त शोभाशाली अर्बुद नाम का पहाड़ है । जिसकी नदियों के किनारे अनेक हंस हैं तथा जो इतने वेग से बहती हैं कि बड़े-बड़े साल वृक्ष भी उसके प्रवाह से टूट जाते हैं ॥ ४९ ॥

यः सूर्यांशुशलाकस्य विश्वस्योपरि तिष्ठतः ।

व्योमनीलाक्षपत्रस्य दण्डत्वमधिरोहति ॥ ५० ॥

सूर्य की किरणों जिसकी कमानियाँ (शलाकाएँ) हैं तथा जो इस संसार के ऊपर विराजमान है, ऐसे आकाश रूपी छत्र के नीचे वह पर्वत दण्ड की शोभा धारण करता है ।

विमर्श—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का चमत्कार पर्याप्त है ॥ ५० ॥

आदातुमवतंसाय स्वर्णदीहेमपुष्करम् ।

यः सेन्द्रनीलकटको भुवो भुज इवोद्धृतः ॥ ५१ ॥

जो नीलमणियों से युक्त धरती के उस उठे हुए हाथ की भाँति है, जो स्वर्ग की नदी मंदाकिनी के कमल को तोड़कर धरती को सजाने के लिये उत्सुक हो ॥ ५१ ॥

शिखरासन्ननक्षत्रौ लक्ष्यते यः प्रतिस्रपम् ।

सशीकर इवोदस्तो हस्तः पातालदन्तिनः ॥ ५२ ॥

हर रात्रि को शिखर के समीपवर्ती नक्षत्रों के द्वारा वह ऐसा प्रतीत होता

है, मानो जैसे नन्हीं-नहीं पानी की बूंदों से युक्त उठायी हुई पातालाज की सूँड हो ॥ ५२ ॥

यस्य शृङ्गेन्द्रनीलाशुश्याममादित्यमण्डलम् ।

क्षणं पुटकिनीपत्रछत्राकृति विलोम्यते ॥ ५३ ॥

जिसके शिर पर स्थित इन्द्रनील मुखियों की नीलकिरणों से श्यामल सूर्यमण्डल जरा देर ऐसा दिखाई देता है, माना कमलिनी के पत्तों का छत्र हो ॥ ५३ ॥

नीलकण्ठप्रिया काम कृतपञ्चाननस्थिति ।

यस्यामभूमिर्गौरीय गुहापीतपयोधरा ॥ ५४ ॥

जिसकी भ्रमभूमि नीलकण्ठप्रिया = मोरों की प्यारी है, (पार्वती पद्म में—शिव की प्यारी) और कृतपञ्चाननस्थिति = जहाँ शेरों ने अपना अङ्ग बना रखा है, (पार्वती पद्म में = जो शिव के साथ रहती है), गुहापीत-पयोधरा = जिसकी गुफाओं में बादल भरे रहते हैं । (पार्वती पद्म में—भगवान् कार्तिकेय ने जिसका दूध पिया है, उस पार्वती की माँति) ॥ ५४ ॥

अथ सन्नद्धमेघेषु स्थिता यस्याममानुषु ।

प्रावृष्टत्रिलासलास्यानामनभिज्ञा कलापिन ॥ ५५ ॥

जिनके ऊपर मेघ मँडरा रहे होते हैं, ऐसे ऋम शिरों पर बैठे हुए कुछ मोर वर्षाकालीन विलास क नृत्य को न जानने के कारण विमूढ़ रहते हैं ॥ ५५ ॥

इन्दु कटकमाणिक्य यस्य तुङ्गस्य भूभृत् ।

भुजो यस्य च काताया मेखलामणिरशुमान् ॥ ५६ ॥

वह परत पतना ऊँचा है कि उसकी प्रियतमा भूमि के हाथ का मणिकण तो चन्द्रमा है, और सूर्य करधनी क मुख का काम करता है ॥ ५६ ॥

क्वचित्क्वचिन् पतन्त्या यं कृष्णसार शशित्विषा ।

कण्ठयुत इयासन्ना शृङ्गेण हि मृगीं निशि ॥ ५७ ॥

इस पत पर जय चाँदनी छिटकी रहती है, (चाँदनी रात में) तब कहीं-कहीं पर कृष्णसार मृग समीपवर्ती मृगी को मस्ती के साथ सींग से खुजलाता रहता है ॥ ५७ ॥

पाण्डु शरदूघनैरूर्ध्वमधस्तालीजनासित ।

य कैलास इयाश्लिष्ट पौलस्त्यभुजसम्पदा ॥ ५८ ॥

जिसे ऊपर से तो शरदूकालीन मेघों ने श्वेत और नीचे ताड़ के बन ने

नीला बना दिया है, वह ऐसा मालूम पड़ रहा है, जैसे रावण की भुजाओं में फसा हुआ कैलाश पर्वत हो ॥ ५८ ॥

हरयः शेरते यस्य मत्तेभवधनिःस्पृहाः ।

गुहासु नखनिर्मुक्तमुक्तादन्तुरभूमिषु ॥ ५९ ॥

यह ऐसा पर्वत है, जहाँ नाखूनों से गिरे हुए गजमुक्ताओं से व्याप्त भूमिवाली गुफाओं में शेर हाथियों को मारने की इच्छा से विरत होकर सोते रहते हैं ॥ ५९ ॥

अलकच्युतमन्दारमकरन्दसुगन्धिभिः ।

अमर्त्यमिथुनक्रीडानिकुञ्जैर्यस्य सूच्यते ॥ ६० ॥

उस पर्वत की घनी भाड़ियाँ (रतिक्रीडा के समय) देवस्त्रियों के वालों से गिरे हुए मन्दारपुष्प के केसर की सुगन्धि से इस बात की सूचना देती रहती हैं कि यहाँ पर देव-गन्धर्व के जोड़ों ने रतिक्रीडा की है ॥ ६० ॥

उदञ्चदिन्द्रचापानि नानारत्नांशुपल्लवैः ।

सानूनि यस्य सेव्यन्ते द्वये चित्राशखण्डिनः ॥ ६१ ॥

नाना प्रकार के रत्नों के किरण रूपी पत्तों से युक्त, जिनपर अनेक इन्द्र-धनुष उठ आये थे, ऐसे उस पर्वत के शिखरों पर विचित्र वर्ण के मोर रहा करते हैं ॥ ६१ ॥

पत्या सह वनान्तेषु विहरन्त्याऽद्रिकन्यया ।

नीयन्ते शोणतां यस्य शिलाः सालक्तकैः पदैः ॥ ६२ ॥

जंगलों के बीच अपने पति के साथ विचरण करने वाली पर्वतकन्या अपने अलता से युक्त चरणों से शिलाओं को लालवर्ण की बना देती है ॥ ६२ ॥

प्रतिभान्ति पुरस्तेऽपि यस्य वल्मीकवामनाः ।

शैलाः सुवेल-कैलास-महेन्द्र-मलयादयः ॥ ६३ ॥

जिस पर्वत के सामने वे लोकप्रसिद्ध सुवेल, कैलास, महेन्द्र, मलय आदि पर्वत भी दीमक के बनाये हुए छोटे-छोटे ढूहों की तरह दिखाई देते हैं ॥ ६३ ॥

वशिष्टाश्रमवृत्तवर्णनम्

अति स्वाधीननीवारफलमूलसमितकुशम् ।

मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेच्चाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥

वशिष्ट आश्रम का वृत्तान्त-वर्णन

स्वच्छन्द रूप से धान्य, फल-मूल, लकड़ी, कुश जहाँ सुविधा से मिल

सकते हैं, ऐसे उस परांत पर श्वाकु वंश के पुरोहित वसिष्ठ मुनि ने भी अपना आश्रम बनाया था ॥ ६४ ॥

हृता तस्यैकदा धेनु कामसूर्गाधिसूनुना ।

कार्तवीर्याजुर्नेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥

एक समय उन वसिष्ठ मुनि की कामधेनु को गाधिपुत्र विश्वामित्र उसी माँति छीनकर ले जाने लगे, जैसे कार्तवीर्य अर्जुन नामक राजा जमदग्नि ऋषि की गाय कामधेनु को छीन कर ले गया था ॥ ६५ ॥

स्थूलाश्रुधारासन्तानम्नपितस्तनवल्कला ।

अमर्षपावकस्याभूद्भृत् समिदरुधती ॥ ६६ ॥

तब बड़े-बड़े आँसुओं की निरन्तर धारा गहाकर स्तन पर के बल्कल वृक्ष को गीला करती हुई वसिष्ठपति अरुधती अपने स्वामी की क्रोधाग्नि के लिए समिधा का काम करने लगी । अर्थात् उसे रोते देखकर ऋषि का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया ॥ ६६ ॥

अथाथर्वविदामाद्य समन्त्रामाहुतिं ददौ ।

विभ्रसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥

तब अथर्ववेद जाननेवालों में अग्रगण्य ऋषि ने भयानक ज्वालाए जिसमें से निकल रही थीं और अतएव अत्यन्त घने अग्नि में मन्त्रपूर्वक आहुति दी ॥ ६७ ॥

तत क्षणात् सकोदण्ड किरीटी काञ्चनाङ्गद ।

उज्जगामाग्निं त कोऽपि सहेमकवच पुमान् ॥ ६८ ॥

तब क्षणभंग में धनुष हाथ में लिए, मुकुट पहने, घने के बाजू-बन्द धारण किये हुए, सुनहला कवच पहने हुए कोई पुरुष अग्नि से निकला ॥ ६८ ॥

दूरं स तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता ।

तेनानिन्ये मुनेर्धेनुदिनश्रीरिव भानुना ॥ ६९ ॥

विश्वामित्र जिस (गाय) कामधेनु को अपहरण कर ले गया था, उस गाय को वह पुरुष उसी माँति लौटा लाया, जिस माँति अश्वकार से अपहृत दिन की शोभा को सूर्य लौटा लाता है ॥ ६९ ॥

ततस्तापसकन्याभिरानदाश्रुललाङ्कित ।

वपोल पाणिपर्यङ्कान् साश्रुलेखादपाम्यत ॥ ७० ॥

तब आश्रमवासिनी तमाम तापसकन्याओं ने, जिन्होंने दुःख के कारण अपने जिन गालों को अश्रुलेखासयुक्त हथेलीरूपी पर्यङ्क पर अवतक रखा था, अश्रु ऊपर उठा लिया और अब उन पर आनन्दाश्रु बहने लगे ॥ ७० ॥

परमारवंशवर्णनम्

परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत् ।

मीलितान्यनृपच्छत्रमात्पत्रं च भूतले ॥ ७१ ॥

परमारवंश का वर्णन

मुनि वशिष्ठ ने उसका परमार अर्थात् शत्रुओं को मारनेवाला यह सार्थक नाम रख दिया । जिसने धरती के समस्त नृपतियों के छत्र-चामर सम्पन्न राज्य को मिटा कर स्वयं राज्य किया ॥ ७१ ॥

प्रावर्तितातिविस्तीर्णसप्ततन्तुपरम्परः ।

पुराणकूर्मशेषं यद्द्वचकाराम्भोनिधेः पयः ॥ ७२ ॥

उसने अत्यन्त विस्तीर्ण अपनी वंशपरम्परा का सातगुना प्रवर्तन किया । तथा समुद्रजल को मथकर उसने समुद्र को ऐसा बना दिया कि उसमें तो केवल प्राचीन कूर्म भगवान ही बचे रहे ॥ ७२ ॥

स्थापितैर्मणिपीठेषु मुक्ताप्रालम्बमालिभिः ।

भूरियं यज्वना येन हेमयूपैरपूर्यत ॥ ७३ ॥

यज्ञ करनेवाले उसने मणिमण्डित पीठों पर स्थापित तथा जिन पर मोतियों की झालरें लटकती थीं, ऐसे सुवर्णनिर्मित यज्ञ के खम्भों से सारी धरती को भर सा दिया

विमर्श—अर्थात् उसने अतगिनत यज्ञ किये, उस समय जो यज्ञस्तम्भ लगाये गये, उनसे सारी धरती व्याप्त हो गयी ॥ ७३ ॥

प्रशान्तचिन्तासन्ताने चिरेण नमुचिद्विपि ।

अमोच्यतास्तदैत्येन येनेर्ष्याकलहं शची ॥ ७४ ॥

चिरकाल से प्रभूत चिन्तासमूह के नष्ट हो जाने पर आनन्दित इन्द्र को उससे मुक्त कराकर इन्द्राणी का जो इन्द्र के प्रति इर्ष्या और कलह था, उसे दूर कर दिया । अर्थात् दैत्यों के मारे जाने पर इन्द्र और इन्द्राणी आनन्द से रहने लगे ॥ ७४ ॥

वंशः प्रवृत्ते तस्मादादिराजान्मनोरिव ।

नातः सुवृत्तैर्गुरुजां नृपैर्मुक्ताफलैरिव ॥ ७५ ॥

उस राजा से एक बड़ा भारी वंश उसी तरह बढ़ा, जिस भाँति आदि राजा मनु से । फिर उस वंश के सदाचारी राजाओं ने अपने मोतियों के समान स्वच्छ आचरण से उस वंश को गौरवशाली बनाया ॥ ७५ ॥

तस्मिन् पृथुप्रतापोऽपि निर्वापितमहीतलः ।

उपेन्द्र इति सख्त्रज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥

उस वंश में बहुत बड़ा प्रतापी, धरती को अपने पराक्रम से तृप्त करने-वाला, सूर्य-चंद्र के समान दैदीप्यमान उपेन्द्र नाम का राजा उत्पन्न हुआ ।

विमर्श—इस श्लोक में विरोधाभास है । प्रथुप्रताप अर्थात् प्रखर घामवाला, श्रौर निर्वापितमहीतल अर्थात् पृथ्वी को शान्त शीतल करने वाला । जो प्रखर घामवाला है, वह शान्त करने वाला कैसे हो सकता है ? पर बाद में सूर्येन्दु पद का प्रयोग कर इस विरोध का परिहार किया गया है । अर्थात् सूर्य के समान प्रखर प्रताप अर्थात् यश वाला श्रौर चंद्र के समान पृथ्वी को शान्त करने वाला ॥ ७६ ॥

सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्च्वसितहेतुना ।

हनूमतेन यशसा यस्याऽलब्ध्यत सागर ॥ ७७ ॥

वायु के द्वारा प्रवृत्त अथवा वायु के समान प्रवृत्ति वाले, सीता को राहत दिलाने के कारण यश स्वरूप श्री हनूमान् जी तरह उस राजा व यश ने भी समुद्र पार किया, अर्थात् सागरपर्यन्त उसका यश फैला ॥७७ ॥

शक्तिन्द्रेण दधता पूतामग्रभृथैस्तनुम् ।

अकारि यञ्चना येन हेमयूपाङ्किता मही ॥ ७८ ॥

अनेक यज्ञ करके जिसने इन्द्र के जन में भी मय उत्पन्न कर दिया था तथा अनेक अवभृथस्नानों से पवित्र शरीर वाले उस यज्ञकर्ता राजा ने सोने के यज्ञस्तम्भों से धरती को सजा दिया । अर्थात् उसने इतने यज्ञ किये कि सारी पृथ्वी में यज्ञस्तम्भ छा गये ॥ ७८ ॥

अत्यच्छदशानोद्गच्छद्दशुलेखातरङ्गिभि ।

दीर्घैर्यस्यारिनारीणा नि श्वासैश्चामरायितम् ॥ ७९ ॥

अत्यन्त स्वच्छ दाँतों से निकलती हुई श्वेत रेखाओं की दीर्घ तरङ्गों वाले शत्रुनारियों के गहरे श्वासों ने उसके श्वेत चामरों का काम किया ।

विमर्श—उसने तमाम शत्रुओं को जीत लिया था । मृत शत्रुओं की पत्नियों का दुःखावेग के कारण नि श्वास उसके लिए चामर का काम करने लगा—यह उल्लेख है ॥ ७९ ॥

तस्मिन् राते नरेन्द्रेषु तदन्येषु गतेषु च ।

तत्र वाक्पतिराजाख्य पाथिवेदुरजायत ॥ ८० ॥

उस राजा की मृत्यु के पश्चात् तथा उसके बाद के अनेक राजाओं के बाद राजाओं में श्रेष्ठ वाक्पतिराज नामक एक राजा उस वंश में उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥

दीर्घेण चक्षुषा लक्ष्मीं भेजे कुवलयस्य च ।

नारीणां दिशताऽऽनन्दं दोषणा सत्तारकेण च ॥ ८१ ॥

वह कुवलय (नीलकमल) की शोभा को अपने दीर्घ नयनों में धारण करता था । अर्थात् उसके नेत्र कमल जैसे थे । और राजनों को तारनेवाली अपनी मुञ्जा से नारियों को वह आनन्द देता था ॥ ८१ ॥

शिथिलीकृतजीवाशाः यस्मिन् कोपान्नतभ्रुवि ।

निन्युःशिरांसि स्तब्धानि न धनूंषि नतिं नृपाः ॥ ८२ ॥

क्रोध से जब वह भौंहें चढ़ा लेता था, तब अपने जीवन की आशा त्यागने-वाले राजा लोग शीघ्र ही उसके सामने अपने सिर मुक्का देते, पर अपने धनुष न मुक्काते, अर्थात् धनुष पर दारण न चढ़ाते ॥ ८२ ॥

वैरिसिंह इति प्रापज्जन्म तस्माज्जनाधिपः ।

कीर्तिभिर्यस्य कुन्देन्दुविशदाभिः सदायितम् ॥ ८३ ॥

उस राजा से वैरिसिंह नाम के राजा ने जन्म लिया, जिसकी कुन्द-पुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश की चाँदनी का चारों ओर विस्तार हुआ ॥ ८३ ॥

पौलोमीरमणस्येव यस्य चापे विलोकिते ।

चकितैः सरसीव क्षमाराजहंसैरमुच्यते ॥ ८४ ॥

उस राजा के धनुष को देखते ही चकित राजा लोग जहाँ-तहाँ धरती को छोड़कर उसी भाँति भागते थे, जैसे शरदकाल में इन्द्रधनुष को देखकर राजहंस तडानों को छोड़ने लगते हैं ॥ ८४ ॥

श्री सीयक इति क्षेत्रं यशसामुदभूततः ।

दिलीपप्रतिमः पृथ्वीशुक्तिमुक्ताफलं नृपः ॥ ८५ ॥

उस राजा से यश का मानो क्षेत्रभूत भी सीयक नामक राजा हुआ । वह दिलीप के समान अत्यन्त प्रतापी तथा धरतीरूपी साँप का अमूल्य मोती था ॥ ८५ ॥

लक्ष्मीरधोक्षस्येव शशिमौलेरिवास्त्रिका ।

वडजेत्यभवद्देवी कलत्रं यस्य भूरिव ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार विष्णु भगवान् की स्त्री लक्ष्मी थी, जिस प्रकार शंकर की स्त्री पार्वती थी, उस राजा की भी "वडजा" नाम की स्त्री थी, जो उसे धरती के समान ही प्यारी थी ॥ ८६ ॥

अखण्डमण्डलेनाथ प्रजापुण्यैर्महोदयम् ।

कलिसन्तमसं येन व्यनीयत नृपेन्दुना ॥ ८७ ॥

पूर्ण चन्द्रमा की भाँति अपने अखण्ड राजमण्डल से पूर्ण होकर जिसने

प्रजा को पुण्यमार्ग पर लगाकर अत्यधिक बढ़े हुए कलिकाल के पापान्ध-
कार को दूर कर दिया ॥ ८७ ॥

वशी कृताक्षमालो य क्षमामत्यायता दधन् ।

राज्याश्रममलञ्चक्रे राजपि कुशाचीवर ॥ ८८ ॥

अत्यंत विस्तृत धरती पर राज्य करते हुए उस राजर्षि ने भगवान्
शंकर को प्रसन्न किया और बलकल वस्त्र धारण करके ही राजकार्य देखने
लगा ॥ ८८ ॥

स्मितज्योत्स्नादरिद्रेण वाप्यस्त्रामिमुखेन्दुना ।

शशमुविजय यस्य स्त्रपाटीपठिस्त्रिय ॥ ८९ ॥

कद्रपाटी के राजा की स्त्रियों ने भी हास्यकान्ति से रहित तथा श्रभुप्रवाह
से युक्त मुखेन्दु से उसके विजय के गीत गाये ॥ ८९ ॥

अकद्रणमकेयूरमनूपुरममेखलम् ।

हृणापरोधत्रैधव्यदीक्षादान व्यधत्त य ॥ ९० ॥

बिना कक्षण वाली, बिना राजबन्ध वाली, बिना नूपुर वाली, बिना मेलला
वाली हृणराजा की स्त्रियों को मानो उसने विधवा बनाने की दीक्षा (मन्त्र)
दी । अर्थात् हूणों को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ९० ॥

नायकवर्णनम्

अयं नेत्रोत्सवस्तस्मान् जज्ञे देव पितृप्रिय ।

जगत्तमोपहो नेत्रादत्रैरिव निशाकर ॥ ९१ ॥

नायक का वर्णन

उस राजा से फिर सबके नेत्रों को आनन्द देनेवाला, पिता का प्यारा
हमारा राजा (सिन्धुराज) उसी प्रकार उत्पन्न हुआ, जिस प्रकार जगत् के
अधकार को दूर करनेवाला चंद्रमा अत्रिऋषि के नेत्रों से उत्पन्न
हुआ था ॥ ९१ ॥

श्रीमद्वाक्पतिराजोभद्रप्रचोऽस्याप्रणी सताम् ।

सगरापत्यदत्ताच्छिपरिरत्नाया पतिर्भुव ॥ ९२ ॥

हमारे इन नायक के बड़े भाई, सज्जनों में अग्रगण्य वाक्पतिराज नाम
से हुए । सगर के पुत्रों के द्वारा निर्मित समुद्र रूपांखाइयों वाली इस धरती के
जो एकमात्र शासक हुए ॥ ९२ ॥

अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्त सातनाहने ।

कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती ॥ ९३ ॥

जब विक्रमादित्य समाप्त हो चुके और सातनाहन भी अस्त हो गये अर्थात्

मर गये, तब इस कवियों के मित्र इसी राजा का ही आश्रय देवी सरस्वती ने भी लिया । अर्थात् विक्रमादित्य और सातवाहन के बाद यही एक राजा परमप्रतापी विद्वान् हुआ ॥ ६३ ॥

चक्रिरे वेधसा नूनं निर्व्याजौदार्यशालिनः ।

ते चिन्तामणयो यस्य निर्माणे परमाणवः ॥ ६४ ॥

विधाता ने जिस निष्कपट और उदारता से सुशोभित राजा के निर्माण में मानो चिन्तामणियों को परमाणु रूप में उपयोग में लाया ॥ ६४ ॥

यशोभिरिन्दुशुचिभिर्यस्याच्छतरवारिजैः ।

अपूर्यतेयं ब्रह्माण्डशुक्तिमुक्ताफलैरिव ॥ ६५ ॥

जिसके चन्द्रमा के समान उज्वल स्वच्छ कमलों के समान यश रूपी मणियों से यह ब्रह्माण्ड रूपी सौंप उसी प्रकार भरी थी, जिस प्रकार समुद्र की सौंप मोतियों से भरी रहती है ॥ ६५ ॥

श्रियं नीलाब्जकान्त्या यः प्रणयिभ्यो ददौ दृशा ।

अरातिभ्यश्च सहसा जह्ने निस्त्रिशलेखया ॥ ६६ ॥

जिसने अपनी नीलकमल की कान्ति वाली दृष्टि से अपने प्रेमियों को लक्ष्मी दी अर्थात् उसकी तरफ देखकर उसके बन्धु-बान्धव प्रसन्न होते और शत्रुओं की लक्ष्मी को तलवार की धार से अकस्मात् छीन लिया ॥ ६६ ॥

अंसः सवल्कलप्रन्थिः सजटापह्वं शिरः ।

चक्रे येनाहितस्त्रीणामत्सूत्राङ्कितः करः ॥ ६७ ॥

जिसने शत्रुस्त्रियों के कंधे को वल्कल वस्त्र की गाँठ से तथा सिर जटा-पल्लव से युक्त कर दिया तथा हाथ को रुद्राक्ष की माला से अंकित बना दिया । अर्थात् अपने तमाम शत्रुओं को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ६७ ॥

पुरं कालक्रमात्तेन प्रस्थितेनाम्बिकापतेः ।

मौर्वीकिणाङ्कवत्यस्य पृथ्वी दोष्णि निवेशिता ॥ ६८ ॥

कुछ काल पश्चात् अम्बिकापति भगवान् शंकर के नगर की ओर प्रस्थान करने वाले उसने घरती का भार धनुष की डोरी से चिह्नित इस सिन्धुराज की भुजाओं पर रखा ॥ ६८ ॥

प्रशास्ति परितो विश्वमुज्जयिन्यां पुरि स्थितः ।

अयं ययाति-मान्धातृ-दुष्यन्त-भरतोपमः ॥ ६९ ॥

तब से ययाति, मान्धाता, दुष्यन्त और भरत के समान प्रतापी यह राजा उज्जयिनी नगरी में ही रहकर समस्त विश्व के राज्य का संचालन कर रहा है ॥ ६९ ॥

अनेनास्त कपोलेषु पाण्डिमा रिपुयोपिताम् ।

समाहृत्येव तद्गर्हयशमौ बाहुशालिना ॥ १०० ॥

बलवान् बाहुवाले हम राजा ने शत्रुओं को मार कर उनका यश हरण करके उनको नारियों के कपोलों को पीना (पीका) बना दिया ॥ १०० ॥

सदा समकरस्यास्य लक्ष्मीकुलगृहस्य च ।

सिन्धुराज इति व्यक्त नाम दुग्धोदधेरिति ॥ १०१ ॥

सदा समान रहने वाले, लक्ष्मी को अपन कुल में स्थिर रखने वाले, इस राजा का स्वच्छ एव उज्ज्वल दूध के समुद्र क समान "सिन्धुराज" यह नाम है ॥ १०१ ॥

अनेन विहितान्यत्र यत् साहसशतान्यत ।

नवीनमाहसाङ्कोऽयं वीरगोष्ठीषु गीयते ॥ १०२ ॥

इसने साहस क सैकड़ों काम पृथ्वी पर किये, इसलिये वीर गोष्ठियों में (सभाओं में) इसे नवसाहसाङ्क नाम से पुकारा जाता है ॥ १०२ ॥

विन्ध्यान्तश्चरतानेन भृगयासक्तचेतसा ।

कन्या शशिप्रभा नाम नागसूतिरदृश्यत ॥ १०३ ॥

शिकार खेलने में लगे हुए, विन्ध्याचल के वनों में विचरण करते हुए इस राजा ने शशिप्रभा नाम की तामपुत्री को देखा ॥ १०३ ॥

अदृश्यैरथ सा नागैरस्य पार्श्वदिनीयत ।

तामन्वेष्टुं प्रसिष्टेन कुतूहलमलादिह ॥ १०४ ॥

अदृश्य रूप में इसके पास से ही उस नागकन्या को नाग लोग हरण करके ले गये । तब कुतूहल से उसे ढूँढने के लिए वन में प्रविष्ट हुए इस राजा ने ॥ १०४ ॥

समण्डिस्तम्भमग्रेऽथ दृष्ट धाम हिरण्मयम् ।

तत्र मूर्ता तत सिन्धुरिन्दुसूतिर्विलोकिता ॥ १०५ ॥

कुछ ही आगे मणिके खम्भों स बना हुआ एक सोने का भवन देखा, और उसमें चन्द्रमा की पुत्री नर्मदा नदी को स्त्रीरूप में देखा ॥ १०५ ॥

अकृतातिथ्यमेतस्य भक्तिमग्नस्य सा तत ।

नीता पृष्टेन चैतेन स्ववार्तायामभिज्ञताम् ॥ १०६ ॥

तब भक्ति से नग्न इस नृपति का अतिमिस्कार नर्मदा नदी ने किया । फिर इसने उसके पूछने पर उसे अपना सारा हाल कहा ॥ १०६ ॥

ततो बभ्राङ्गशोचानहेमाब्जाहृतिमाहसम् ।

हेतु शशिप्रभावाप्तैविवृत्त्या वेदितस्तया ॥ १०७ ॥

तव भगवती नर्मदा ने वज्राङ्कुश दैत्य के बगीचे में स्वर्णकमल को साहसपूर्वक लाने से शशिप्रभा की प्राप्ति होगी, इस बात को समुचित ढंग से इसे समझाया ॥ १०७ ॥

असूचयत् प्रसंगेन त्रिविष्टपरिपोरथ ।

उदग्रमसुरेन्द्रस्य वीर्यं वज्राङ्कुशस्य सा ॥ १०८ ॥

फिर प्रसंग ही प्रसंग में देवताओं के शत्रु भयानक उस दैत्य वज्राङ्कुश के प्रखर पराक्रम के विषय में भी कुछ सूचना दी ॥ १०८ ॥

*ततस्तम्प्रत्यमर्षोऽस्य झटित्यङ्कुरितो हृदि ।

अन्यत्र वीरघृत्तेर्यदयमेकान्तमत्सरी ॥ १०९ ॥

उसी क्षण इस सिन्धुराज के हृदय में उस वज्राङ्कुश के प्रति कोप अङ्कुरित हो गया । क्योंकि यह किसी अन्य जगह किसी वीर के होने का अत्यन्त मत्सरी ही है ।

विमर्श—अर्थात् अमुक एक जगह पर अमुक वीर है, इस बात को यह किसी तरह सहन कर ही नहीं सकता ॥ १०९ ॥

पन्थाः पुरोऽसुरस्याथ प्राञ्जलेः शंसितस्तथा ।

असूचयताम्रतश्चेतदमोघं दर्शनं तव ॥ ११० ॥

हाथ जोड़े हुए राजा से नर्मदा ने कहा कि सामने ही उस दैत्य की नगरी का रास्ता है । (जाओ) और यह भी बता दिया कि रास्ते में आपका (मुनि का) सफल दर्शन भी होगा ॥ ११० ॥

अथेदं रत्नवल्लयं दत्त्वास्यै सममाशिषा ।

कान्ता तिरोहिता सा च पुरुकुत्सस्य भूपतेः ॥ १११ ॥

तव आशीर्वाद के साथ-साथ नृपति को एक रत्न-कंकण देकर पुरुकुत्स भूपति की कान्ता नर्मदा देखते ही देखते तिरोहित हो गई ॥ १११ ॥

अथैतेन गृहीतेयं यात्रा वज्राङ्कुशमप्रति ।

एषा च सुकृतं दृष्ट्वा पादपद्मद्वयो तव ॥ ११२ ॥

इस प्रकार हे श्रीमन् ! इस नृपति ने वज्राङ्कुश के प्रति यात्रा प्रारम्भ कर दी है । और अत्यन्त पुण्यों के कारण ही आपके इन चरण-कमलों का दर्शन हुआ है ॥ ११२ ॥

वङ्गमुनिवाक्यम्

इत्युक्त्वा सूक्तिचतुरो विरराम रमाङ्गदः ।

आददे मुनिरप्युद्यहन्तांशुशवलं वचः ॥ ११३ ॥

ब्रह्ममुनि के वचन

यह कहकर सुन्दर वाणी बोलने में चतुर रमाञ्जद चुप हो गया। फिर मन्द मन्द हँसते हुए ब्रह्ममुनि ने ये वचन कहे। उस समय उनके दाँतों की कान्ति से उनके वचन सने मालूम पड़ रहे थे ॥ ११३ ॥

अहो पुराणराजर्षिसन्तानकथयैतया ।

पुण्ययाहृतमात्मानमधुना मन्महे वयम् ॥ ११४ ॥

अहो, पुराणे राजर्षि के वश की इस पवित्र कथा को सुनकर हम अपने आपको घन्य समझ रहे हैं ॥ ११४ ॥

अवश्यंभाषिणी तत्र सिद्धि माहमिहस्य ते ।

शान्य त्रिप्रिष्टपस्यास्य हृदयादुद्धरिष्यसि ॥ ११५ ॥

तुम जैसे साहसपूर्ण व्यक्तियों को सिद्धि अवश्य मिलेगी। अर्थात् तुम अपने कार्य में अवश्य सफल होओगे। और निश्चित ही तुम देवलोक के हृदय से उस दैत्य रूपी काँटे को निकाल फेंकोगे। अर्थात् वज्राकुश को मार कर स्वर्ग को निर्मय कर दोगे ॥ ११५ ॥

एष वज्राङ्कशान्याजौ नाऽकृत्वाऽन्त निवर्तिता ।

भुजो भुवनभर्तुस्ते दिङ्नागकरपीर ॥ ११६ ॥

दिग्गज की सूड के समान पुष्ट, बगत् के स्वामी तुम्हारी भुजा वज्राङ्कुश को मारे बिना न रहेगी, उसको मारे बिना तुम लौटोगे नहीं ॥ ११६ ॥

वधूस्तवाचिरेणात्र भस्मिन्ति शशिप्रभा ।

यथा कुवलयारवस्य दिव कन्या मदालमा ॥ ११७ ॥

शीघ्र ही शशिप्रभा तुम्हारी स्त्री हो जायगी, जैसे कि देवकन्या मदालमा कुवलाश्व की स्त्री हो गई थी ॥ ११७ ॥

स्थिरो भव मितं कालं स्थित्वाऽस्मिन् नस्तपोरने ।

त्वया विनीयतामेव दीर्घाध्वजनित श्रम ॥ ११८ ॥

तुम कुछ समय तक शांत रहो, और इस तपोवन में रहकर लम्बे-चौड़े रास्ते में चलने से उत्पन्न थकान को दूर करो ॥ ११८ ॥

सिन्धुराजवाक्यम्

इत्युक्ते मुनिना सोऽथ राजेन्द्ररिदमब्रवीत् ।

आज्ञा विलङ्घ्यते तात तव केन जगद्गुरो ॥ ११९ ॥

सिन्धुराज के वचन

मुनि के इस प्रकार कहने पर उस राजचन्द्र ने कहा कि धीमान्! आप जैसे जगद्गुरु की आज्ञा कौन टाल सकता है अर्थात् मुझे आपकी आज्ञा स्वीकृत है ॥ ११९ ॥

अथ क्रमोन्मीलितसौहृदासु कथास्वनेकासु मिथः कृतासु ।

विश्रम्यतामित्यवदन्महर्षिः पति पृथिव्याः प्रथितप्रभावः ॥ १२० ॥

फिर बहुत समय तक आपस में मैत्रीपूर्ण अनेक कथावार्ता चलती रहीं, अन्त में प्रसिद्ध प्रभाववाले महर्षि ने राजा से कहा कि अब आप विश्राम करें ॥

देवस्ततः स मुनिकल्पितमिन्द्रनीलपर्यङ्कवत् कनकवेदिसनाथमध्यम् ।
अध्यास्त रत्नसदनं परितो वितानव्यालम्बिमौक्तिकलतं नवसाहसाङ्कः ॥ १२१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्क-
चरिते महाकाव्ये वङ्कमहर्षिदर्शनं नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तब राजा नवसाहसाङ्क सिन्धुराज ने मुनि की बनाई हुई इन्द्रनील-
मणियों जैसी सोने की वेदी से सुसज्जित, जिसके चारों ओर मोती के गुच्छों
की तरह लतापुष्प लटक रहे थे, उस रत्नभवन में विश्राम किया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नव-
साहसाङ्कचरित का ११ वां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥



अथ द्वादशः सर्गः

अथ मानवमीनलक्ष्मणो मणिपर्यङ्कगतम्य तस्य सा ।
अपतन् फणिरात्रकन्यका जगदेकाभरणं स्मृते पथि ॥ १ ॥

वारहर्षी सर्ग

इसके पश्चात् मणिअटित पलङ्ग पर लेटे हुए मनुष्यों में कामदेवस्वरूप उस राजा नवसाहसार्क ५ स्वप्न में जगत् की एकमात्र सवधेष्ट आभरण-मूत नागराञ्जुनी शशिप्रभा आइ ॥ १ ॥

व्यधितप्रणय दृशा पुर कमनीयेषु म येषु वस्तुषु ।
जनितोत्कलिकाशते स तैररतेरायतन व्यपीयत ॥ २ ॥

आँखों के सामने ही जिन जिन सुन्दर वस्तुओं को देखकर उसके शरीर के सामने सैकड़ों रोमाञ्चित हो आते थे, आज शशिप्रभा के सामने वे सब वस्तुएँ अदृशि का घर बन गयीं ।

विमर्श—अर्थात् पहले जिन जिन वस्तुओं का देवकर वह पूजा नहीं समाता था, आज शशिप्रभा के सौन्दर्य के सामने वे सभी नीचे उल्टे तुच्छ लग रही हैं ॥ २ ॥

मुहुरञ्जलताविवर्तने श्रमिते शून्यत्रिलोकनेन च ।
क्षितिभर्तुस्मान्त्वर्तिना मदनाकल्पकमन्वमीयत ॥ ३ ॥

बार-बार करवट बदलने के कारण, गहरी श्वाँस लेने के कारण, शून्य आकाश की ओर देखने के कारण राजा के समीप में स्थित रमाङ्गद ने समझ लिया कि इसे कामपीडा सता रही है ॥ ३ ॥

कदलीदलदन्तमास्तो हृदयन्यस्तमृणालकन्दल ।
अथ तम्य वभूय यत्नवान् स्वचारे शिशिरे रमाङ्गद ॥ ४ ॥

केले के पत्तों से हवा करके, और हृदय पर कमल की कोमल डण्डियों को धर कर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कायों द्वारा रमाङ्गद राजा के लिए टण्डे टण्डे उपाय करने लगा ॥ ४ ॥

अभयद्द्वयमे- भूपते स्मरतप्रम्य मनोपिनोदनम् ।
मुदृश स करातिथिं शर स च द्वारः स्तनचदनाङ्कित ॥ ५ ॥

कामपीडा से व्याकुल उस राजा के मन की आराम देनेवाली केवल दो ही वस्तुएँ थीं । एक तो उस सुन्दर नेत्रों वाली शशिप्रभा के स्तनों पर लगे

चन्दन से सना हुआ हार, और दूसरा वह वाण, जो कितने ही समय तक उस रमणी के हाथों में रहा ॥ ५ ॥

मदनान्तरितोऽपि लङ्घितः पथि जातेन परिश्रमेण सः ।

स्तिमितः क्षणमास्त कौमुदीविशदक्षौमतिरोहिताननः ॥ ६ ॥

कामभावना से पीड़ित होने पर भी रास्ते की थकावट ने उस पर अपना कब्जा कर लिया । वह चाँदनी सी श्वेत रेशमी चादर से अपने मुख को ढँक कर थोड़ी देर तक (निद्रादेवी की श्राधना करने के लिये) चुपचाप पड़ा रहा ॥ ६ ॥

अथ पार्श्वचरेण सादरं मृदुसंवाहितपादपल्लवः ।

स कुरङ्गशेव निद्रया चतुरं लोचनयोरचुम्ब्यत ॥ ७ ॥

जब समीपवर्ती रमाङ्गद ने अच्छी तरह से आदरपूर्वक राजा के पैर दबाये, तब मृगी के समान नेत्र वाली स्त्री की भाँति ही नींद ने राजा के नेत्रों को चूम लिया, अर्थात् राजा को नींद आ गयी ॥ ७ ॥

स्वपुरोषवने समुत्सुकः सुमुखीं स्वप्नपथेन पार्थिवः ।

अवतंसितहेमपङ्कजाम् अथ तामङ्कगतां व्यलोकयत् ॥ ८ ॥

तब उस राजा ने स्वप्न में देखा कि स्वर्ण (पीत) कमल के आभरणों को सारे शरीर में पहनी हुई सुन्दर मुख वाली वह शशिप्रभा राजा के ही नगर के बगीचे में उसकी ही गोद में है ॥ ८ ॥

अभिकान्तमपाङ्गपातिना जितनीलाञ्जदलेन चक्षुषा ।

दधतीमपवर्तितं ह्रिया मुखमापाण्डुकपोलमण्डलम् ॥ ९ ॥

नील-कमल के पत्तों से भी अधिक सुन्दर, तीखे कटाक्षपात करनेवाले नेत्र से अभिमण्डित, तथा लज्जा के कारण दूसरी ओर घुमाया हुआ एवं गालों का रंग सुर्ख हो जाने से अत्यन्त रमणीय उसका मुख था ॥ ९ ॥

शरदिन्दुमरीचिनिर्मलं विगलद्वेषथुना स्तनांशुकम् ।

मुहुराक्षिपतीमलक्षितं श्लथमुक्तावलयेन पाणिना ॥ १० ॥

वह ढीले कंकण वाले काँपते हुए हाथ स शरदूकालीन चन्द्रमा की भाँति निर्मल स्तनों पर स्थित आँचल को चुपके-चुपके धीरे-धीरे हटाती थी ॥ १० ॥

नवपल्लवकान्तिना किमप्यचिरावासितपुष्पकेतुना ।

ललितामधरेण विभ्रतीं मुखचन्द्रांशुसटां स्मितच्छटाम् ॥ ११ ॥

वह नये लाल पल्लव की भाँति लाल और काम ने जिसे तत्क्षण सुगन्धित कर दिया था, ऐसे सुन्दर होठों पर मुख रूपी चन्द्रमा मानो किरणावली हो, ऐसी सुन्दर हँसी को धारण किये हुए थी ।

विमर्श—स्मितच्छटा मुखरूपी चन्द्रमा की किरण पंक्ति हो—यह रूपक
अलंकार सुन्दर बन पडा है ॥ ११ ॥

जगदेकविलोकनोत्सवे वपुषि स्वेदकणैरलङ्किताम् ।

उदितामिव मन्दरादितान् उदधेर्लम्बनसुधालवा श्रियम् ॥ १२ ॥

उसके समस्त सवार में देखने में सुन्दर शरीर की शोभा पर पसीने
की बूँदें छलकी थीं, जिससे उसका शरीर ऐसा दिग्गई दे रहा था, मानो
मन्दराचल के मयने से समुद्र में से अमृत बिन्दुओं से सनी लक्ष्मी आई हो ॥१२॥

वलिताद्वितनि सहाङ्गलिम्बकराश्लेषविशेषकम्पिनी ।

पुलङ्गिन्यधिक विमुञ्चती चकित वामकुचे विलोचने ॥ १३ ॥

अपने हाथ की अँगुलियों को वह मुट्टी की तरह बाँधने के लिए धुमाकर
धीरे से अपने स्तनों पर रख देती थी, जिससे उसके स्तन और भी काँपने
लगते । तब वह रोमाञ्चित होकर विस्मय के साथ अपने टेढ़े स्तन को
देखने लगती ॥ १३ ॥

अतिभामुरत्नकुण्डलाम् अतिक्रान्तायतहारमण्डलाम् ।

जघनश्लयहेममैत्रलाम् असमैपोरधिदेयतामिव ॥ १४ ॥

वह अत्यन्त चमकते हुए कुण्डलों तथा, अति मनोहर और लम्बा हार
पहने थी । जघनस्थल तक लटकती हुई करघनी तो ऐसी दिखाई दे रही थी,
मानो कामदेव की अधिष्ठात्री देवता हो ॥ १४ ॥

नायकोक्तिः

अथ सस्मितमात्तवेपथु पतिते ममथपत्रिणः पयि ।

इति ता प्रणयाद्रया गिरा स किलाम्भोनमुरसीमवोचत ॥ १५ ॥

नायक का कथन

कामरायो से व्याकुल, हँसते और कुछ काँपते हुए उस राजा ने कमल
के समान मुख वाली उस सुन्दरी से यों प्रेमपगी बाणी कही ॥ १५ ॥

वलितं न विभाति पृथ्वत कररीकान्तमिदं तजाननम् ।

अपि नीलपयोदलेऽपया सपरिष्वङ्गमिवेदुमण्डलम् ॥ १६ ॥

पीछे से सुन्दर वेशी धारण करने वाला तुम्हारा यह मुख जो तुमने दूसरी
थोर धुमा रखा है, यह ठीक नहीं लग रहा है, जैसे चाँद को काले बादल का
टुकड़ा टँक ले, तब वह शोभा नहीं पाता है । अर्थात् अब इस तरह मुझ
मोड़कर बैटना ठीक नहीं ॥ १६ ॥

इदमद्भदवर्तिना करैर्मणिना रुद्धमिवेरित ह्विया ।

न ममथमितोपवर्तितु घदन ते ललिताङ्गि का गति ॥ १७ ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! क्या वृत्ताङ्क, हाथों पर स्थित वाजूवन्द पर लगे मणि को सम्मुख कर लज्जा के कारण झुके तुम्हारे मुख को मैं इधर मोड़ भी नहीं सकता ॥ १७ ॥

इदमर्धविलोकिताधरं मधुरापांगतरङ्गितेक्षणम् ।

श्रियमातनुते सितासितं सुतनु ज्यश्रुविलोकितं तव ॥ १८ ॥

नायिका किस प्रकार देखती है, इसका वर्णन करते हैं । 'हे सुतनु, अधरोष्ठ का आधा भाग जिसमें दिखाई पड़ रहा है, तथा कटाक्ष से नेत्रों को वार-वार तरङ्गित करने वाला अतएव श्वेत तथा कृष्ण वर्ण का तुम्हारा 'देखना' अजीब शोभा धारण कर रहा है ॥ १८ ॥

मिलितस्तव गण्डलेखया मुदति स्वेदलवार्द्रपत्रया ।

किमपि स्पृहणीय एष मे मरुदासन्नदिनान्तशीतलम् ॥ १९ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! पत्तीने की बूंदों से आर्द्र चन्दनादि की पत्रलेखा वाले कपोल से मिला हुआ यह सायंकालीन शीतल पवन मेरे लिए अत्यन्त स्पृहणीय हो गया है ॥ १९ ॥

अयमुत्पलपत्रलोचने तव विम्वाधरपाटलच्छविः ।

अवलोक्य कर्तुमीहते पदमस्ताचलचूलके रविः ॥ २० ॥

हे कमल की पंखुड़ियों के समान नेत्रोंवाली । तुम्हारे रक्तवर्ण वाले अधर की कान्ति के समान कान्ति वाला यह रक्त वर्ण का सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है, देखो ॥ २० ॥

दुरितघ्नमिदं मुदर्शनं दधता विम्बमनूरुसारथेः ।

स्मरलक्ष्मि विहायसाऽमुना तव कृष्णेन हृते विलोचने ॥ २१ ॥

हे कामदेव की शोभास्वरूप शशिप्रभे ! अन्धकार का नाश करने वाले, सुन्दर दिखाई देनेवाले सूर्यमण्डल को धारण करने वाले इस काले आकाश ने तुम्हारे नेत्रों को अपनी श्रोर आकृष्ट कर लिया है ।

विमर्श—अर्थात् आकाश की शोभा अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ रही है, जिससे सुन्दरी नायिका उसकी श्रोर देखने लगी है ॥ २१ ॥

अरविन्दकरेण लोहितं कमलिन्या धृतमातपांशुकम् ।

इदमुष्णकरेण कृष्यते वलितेनापरदिग्वधूम्रप्रति ॥ २२ ॥

सूर्यास्त के कुछ समय पहले लगभग सायंकाल में, जब कि सूर्य मध्य आकाश से पश्चिम दिशा की श्रोर ढलने लगता है, उस समय उसका घाम भी उसके साथ-साथ कम होता जाता है । इसी पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि उत्तर दिशालपी नायिका की ओर मुड़ा हुआ यह सूर्य अपने कमलरूपी हाथों से कमलिनी के आतपरूपी वस्त्र को पकड़कर खींचे ले जा रहा है ॥ २२ ॥

करुणापितलोचन मिथ क्रमविश्लेषगलद्विसाङ्करम् ।

इदमार्द्रयतीव ये मनो मिथुन मानिनि चक्रवाकयो ॥ २३ ॥

हे मानवती प्रिये ! परस्पर वियोग के दुःख से कमल के टुकड़ों को खाना भी जिन्होंने छोड़ दिया है, और अत्यन्त कष्ट नेत्रों से जो एक दूसरे की ओर देख रहे हैं, उन चक्रवा चक्रवी के जोड़े को देखकर मेरा मन पसीज रहा है ॥२३॥

अवलोक्य भीरु सम्प्रति त्रितयेन त्रितय वियुज्यते ।

द्युमणि० प्रभया श्रियाम्बुजे प्रियया साश्रुरय विहगम ॥ २४ ॥

हे भीरो ! इस समय जरा देखो तो कि तीन चीबें तीन चीबों से विलग हो रही हैं, सूर्य अपनी प्रभा में अलग हो रहा है, कमल मुरझाने से अपनी शोभा से मुक्त हो रहा है और रोता हुआ यह पत्नी (चक्रवा) अपनी प्रियतमा से वियुक्त हो रहा है ॥ २४ ॥

इदमग्गरपल्वलोदरात् अतिताम्रद्युतिकालदन्तिना ।

रविवारिरुह निरस्यते कनकग्निग्धमयूखकेसरम् ॥ २५ ॥

यह देखो, आकाश रूपी बावलि में स्थित अत्यन्त लाल किण्वों वाले, तपा सुनहली किरणरूपी केसर वाले सूर्य रूपी कमल को यह काला अग्धकार रूपी हाथी उखाड़ कर दूर फेंक रहा है ।

विमर्श—सूर्यास्त के दृश्य पर यह अत्यन्त श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा कवि ने की है ॥२५॥

परिचुम्बति वारुणीं दिशं पुरतो रागहृते त्रिवस्वति ।

दिगिय शतम युक्ताब्जिञ्जिता भवति श्याममुखी मितोदरि ॥२६॥

हे कृशा पेट वाली ! सूर्य के लालिमा रहित हो जाने पर, वह स्वयं वारुणी (पश्चिम) दिशा का चुम्बन कर रहा है । अर्थात् पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है । और इधर इन्द्र की यह दिशा (पूर्व दिशा) काली पड़ती जा रही है ।

विमर्श—प्रिय को किसी अन्य नायिका के पास जाकर उसका चुम्बन करते अगर कोई नायिका देख ले, तो इर्ष्या तथा दुःख के कारण काली पड़ जाती है, यहाँ भी कवि ने इसी के आधार पर उत्प्रेक्षा की उठान भरी है ॥ २६ ॥

इह भात्यतिलोहितातपस्तनका पश्य वनातभूमय ।

तपनानुगमोत्स्राङ्किता दिनलक्ष्म्येव पदै सयावकै ॥ २७ ॥

यह देखो, यहाँ लाल रंग का अस्तकालीन घाम जहाँ-तहाँ छिटका हुआ है, इसीसे भूमियाँ कैसी सुन्दर लग रही हैं । मानो अलता से पैरों को रगकर सूर्यरूपी नायक के पीछे-पीछे जाने वाली दिशा रूपी लक्ष्मी अर्थात् नायिका हो ॥ २७ ॥

मदिराक्षि पुरोऽवलोक्यताम् अपरस्यामयमानतो दिशि ।

स्तिमितामवगाहते गति गुरुगोत्रस्खलिताकुलो रविः ॥ २८ ॥

हे मदभरे नयनो वाली ! इधर पश्चिम दिशा की ओर देखो, इस पर यह सूर्य कैसे झुका हुआ है और मन्द-मन्द गति से आगे बढ़ता जा रहा है, मानो कोई नायक अपनी नायिका के सामने किसी दूसरी स्त्री का नाम और गोत्र का उच्चारण करके मानो लज्जित हो कर झुका हो ॥ २८ ॥

अमुना शतपत्रवन्धुना सहसा सुन्दरि यद्यदुञ्जितम् ।

सममद्रिगुहामुखस्थितैस्तिमिरैस्तत्तदितः कटाक्षितम् ॥ २९ ॥

हे सुन्दरी ! यह कमल का मित्र सूर्य अस्त होते समय जो-जो चीजें छोड़ता गया है, पर्वत की गुफा में स्थित अन्धकार ने जान-बूझकर ठीक उसी समय उन वस्तुओं को अपना लिया है अर्थात् सर्वत्र अन्धकार छा गया है । अन्धकार फैलने लगा, यह भाव है ॥ २९ ॥

विरमन्नयि पल्लवाधरे सुरवीथीपथिको विरोचनः ।

अयमस्तगिरेर्निपीदति स्वकरामृष्टशिलातले तले ॥ ३० ॥

हे रक्त वर्ण के कोमल पत्तों के समान लाल तथा कोमल अधर वाली ! आकाश-मार्ग का पथिक यह सूर्य अस्ताचल पर विराम करता हुआ अपने हाथों से साफ किये हुए शिलाखण्डों पर विश्राम करने लगा है ॥ ३० ॥

इयमश्रुतरङ्गितां दृशं द्वितये चक्रवधूविमुञ्चति ।

नवकुङ्कुमलोहिते रवौ दयिते चान्द्रवियोगविक्रमे ॥ ३१ ॥

हे प्रिये ! यह चक्रवाकवधू (चक्रवी) दो वस्तुओं पर अपनी अश्रु से परिपूर्ण दृष्टि लगा रही है, एक तो चन्द्रोदय पर आँसू बहाते हुए वियोग से व्याकुल अपने प्रियतम पर और दूसरे नवीन कुङ्कुम के समान रक्त वर्ण के बने सूर्य पर ॥ ३१ ॥

चलितोऽसि वद् वत्र मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा ।

कृतपङ्कजकुङ्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते ॥ ३२ ॥

कमलिनी, कालकारुपी हाथ जोड़ कर मानो सूर्य से प्रार्थना कर रही है कि हे प्रिय ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले । मैं तुम्हारा वियोग सहन न कर सकूँगी ! ॥ ३२ ॥

अनुत्पुञ्जितपिङ्गदीधिति द्रुतलाक्षारूपदर्पणोपमम् ।

परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्यांगि पतंगमण्डलम् ॥ ३३ ॥

हे सुन्दरी ! अपना समस्त पीली किरणों को समेटने वाला (अब एक-दम अस्ताचल पर पहुँच जाने से सूर्य-किरणों लाल से पीली हो गयी हैं) शीघ्र ही लाक्षारस से रंगे दर्पण के समान लाल यह सूर्यमण्डल अस्ताचल के उस पार देखो, अब छिप गया है ॥ ३३ ॥

सरले सह वारिजश्रिया निभृतं कापि गत स भास्कर ।

यद् तेन विनाऽब्जिनी कथं क्षणदामद्य नतामि नेष्यति ॥ ३४ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! हे सरल स्वभाव वाली ! कमल-शोभा के साथ ही वह सूर्य भी चुपचाप न जाने कहाँ चला गया । बोलो, अब उसके बिना यह कमलिनी रात भर के समय को कैसे काटेगी ? ॥ ३४ ॥

स्फुटविद्रुमराजिनैकत सहस्रां जातमुदञ्च्यता नभ ।

सुदति त्वदपागपाटले पटु सान्ध्ये महसि प्रसर्पति ॥ ३५ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! यह आकाश एक तरफ तो विकसित मूँगों की पक्ति के समान लालिमा को धारण किए हुए है । तुम्हारे नयनों के कोरों के समान रक्त सन्ध्याकालीन प्रकाश फैलने पर ॥ ३५ ॥

परिपिजरिताऽसिताम्बरैर्निविडै क न हरति हारिभि ।

अपि सायमिमा पयोधरैर्धृ तसन्ध्यातपकुङ्कुमैदिश ॥ ३६ ॥

चारों तरफ धूसर आकाश को और भी कृष्ण वर्ण का बनाने वाले, मनोहारी घने बादलों से ये सायकालीन आतपरूपी कुङ्कुम को धारण करने वाली दिशायें किसका मन हरण नहीं कर रही हैं ? अर्थात् सभी रक्त हर्षे देखकर आनन्दमग्न हैं ॥ ३६ ॥

क्षणदाभिमुनेन खण्डिता ननु सन्ध्या तमसा मनस्विनी ।

कुपितेव निवर्तते जवात् अतिवाचालविद्गनूपुरम् ॥ ३७ ॥

सूर्य रात्रिरूपी अपरा नायिका के पास जा रहा है तो यह सन्ध्या नायिका मानवती खण्डिता नायिका की भाँति क्रोध से काली बनी हुई अत्यन्त वाचाल पक्षिरवृष्टी नूपुर को झमकाकर मानो गुम्से में अति तेजी से भागी चली जा रही है ॥ ३७ ॥

तव चक्षिष्ट विटम्बयत्यदस्तनुसन्ध्यातपलिप्तमङ्गुजम् ।

मणिकुण्डलकान्तसङ्करान् इदमाताम्रकपोलमाननम् ॥ ३८ ॥

हे कुपित होनेवाली ! सन्ध्याकालीन आतप की लालमा से युक्त शरीर वाला यह कमल मणिकुण्डलों का कान्ति से युक्त लाल कपालो वाले तुम्हारे मुख की समता कर रहा है ॥ ३८ ॥

वदितानि तमासि सा च ते दयिता दैन्यमुपैति पद्मिनी ।

दिनभर्तुरितीव शसितु सहमा सुन्दरि सन्ध्या गतम् ॥ ३९ ॥

हे सुन्दरी ! अघेरा धिर आया है, और तुम्हारी प्रियतमा पद्मिनी दुखी हो गई है । इस प्रकार सूर्य से यह कहने के लिए मानो नायिका की सखी सन्ध्यासुन्दरी भी सूर्य के साथ ही चली गई ॥ ३९ ॥

निहित बलिदीपकेषु तन् तपनेनाऽशु मह कृशोदरि ।

स्वशरस्फुरितं मनोभुवा तव समीडबिलोमितेत्वित्र ॥ ४० ॥

हे क्षीण कटिवाली ! बलिदीपकों में मानों सूर्य ने अपना वह प्रचण्ड प्रकाश भर दिया है । और इधर तुम्हारे लजीले फटाकों को देख कर प्रतीत होता है मानो कामदेव ने अपने अपने वाण की लीला का आधान उन्हीं में कर रखा हो ॥ ४० ॥

अतसीकुसुमोपमं मुखे तदनु त्वत्कुचचूचुकद्युति ।

अथ वालतमालमांसलम् प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ में, अलसी के पुष्प के समान होने से तुम्हारे स्तनाग्र-भाग के समान कृष्ण नील कान्ति वाला तथा बाद में छोटे-छोटे तमाल वृत्तों के समान बृहद्काय यह अन्धकार अब चारों तरफ फैल रहा है ॥ ४१ ॥

तरुकोटरमूकसारिकं निजनीटाङ्गनिलीनकोकिलम् ।

करभोरु सनिद्रवर्हिणम् प्रमदोद्यानमिदं निमीलति ॥ ४२ ॥

हे करभोरु, पेड़ के खोखलों में बैठी हुई मैनावाला, अपने-अपने घोसलों में छिपी हुई कोकिलोंवाला, सोये हुए मोरों वाला यह नजरवाग भी अब मौन सा हो रहा है अर्थात् सायंकाल के बाद अब सभी पक्षी अपने-अपने घोसलों में लौटकर आराम कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

प्रसृतेर्गिरिकन्दरोदरात् इदमिन्दीवरदामकान्तिभिः ।

अधुना तिमिरैर्विगाह्यते भुवनं पद्मसरश्च दन्तिभिः ॥ ४३ ॥

अब पहाड़ की गुफाओं से निकले हुये हाथी तथा उन गुफाओं में तेजी से फैला हुआ अन्धकार जिनकी कान्ति नीले कमल की तरह है—ऐसे दोनों ही अब व्याप्त हो रहे हैं । अर्थात् अन्धकार संसार में प्रवेश कर रहा है और हाथी कमल के तालाबों में क्रीडार्थ विहार करने लगे हैं ॥ ४३ ॥

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपद्मपङ्क्तिना ।

अमुना भवतीव चक्षुषा कुमुदेनैति रुचं कुमुद्वती ॥ ४४ ॥

अन्धकार रूपी अञ्जन के लगने से सुशोभित लम्बी-चौड़ी पलकों (परागों) की पंक्ति से सुशोभित कुमुद्वती ने कुमुद से अपनी कान्ति उसी भाँति मिला दी, जिस भाँति अञ्जन लगने से सुशोभित सुन्दर लम्बी-चौड़ी पलकों से सुशोभित तुम्हारे नेत्र की कान्ति मेरी नेत्र-कांति से मिल गई है ॥४४॥

उदरस्थितयोः कुतूहलात् अलिनोः श्रोतुमिवास्फुटं वचः ।

कमलस्य निलीय निश्चलं दलसन्धिष्ववतिप्रते तमः ॥ ४५ ॥

कमल के कोश के अन्दर बैठे हुए भ्रमर-दम्पति के प्रेमभरे अटपटे वचनों को सुनने के लिए ही मानो उत्सुकता से छिप-छिपकर अन्धेरा कमल की पंखुड़ियों के जोड़-जोड़ (सन्धिभाग) में बैठ गया है अर्थात् भ्रमर-दम्पति के

प्रेमालाप को सुनने के लिए मानो अन्धकार रूपी लम्पट कमल-कलियों के जोड़-जोड़ पर बैठा है ॥ ४५ ॥

तरलऽतिसिताऽसितद्युतौ इह दोलायितमीक्षणद्वये ।

लिखितागस्पत्र लेखयोस्तिमिर मूर्च्छति ते श्योलयो ॥ ४६ ॥

तुम्हारे चञ्चल श्पेत और वृष्ण कात्ति वाले दधर उधर दौड़ती हुई दृष्टि वाले दोनों नेत्रों पर तथा अगह से चित्रित पत्रलेखावाले तुम्हारे कपोलों पर भी अब अ-चेरा फैलने लगा ॥ ४६ ॥

उल्लभि रमितम्वत क्षणान् उदिनेर्भङ्गुरेशि भात्यद् ।

अतिगाढद्रिनोष्णज-मभि परित म्प्रेदलरैरिवाङ्कितम् ॥ ४७ ॥

हे दुधराले बालो वाली ! उदित हुए तारों से यह सारा आसमान उसी प्रकार सुशोभित है, मानो दिनभर अत्यधिक धूप रहने के कारण गर्मी से पसीने की बूँदें उसमें उमर आयी हैं ॥ ४७ ॥

शानल शशालान्धनत्विपा सतम पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम् ।

अचले द्रसुतास्मितच्छत्रिच्छुरित कण्ठमुमापतेरिव ॥ ४८ ॥

चन्द्रमा की कात्ति से मिश्रित अन्धकारपूर्ण पूर्वदिशा की ओर तो देखो वह ऐसी प्रतीत हो रही है, मानो पर्वतराजपुत्री पार्वती के हास्य की कान्ति से मिश्रित शिवशकर का कण्ठ हो ॥ ४८ ॥

अहिरानसुते विलोक्यताम् इयमिदो प्रथमोद्गता कला ।

अयि भाति ययेन्द्रदिङ्मुखे प्रमदेवाद्रिनप्पाङ्कुरेखया ॥ ४९ ॥

हे नागराजपुत्री ! पूर्वदिशा में तुरन्त निकली हुई चन्द्रकला को देखो । इससे पूर्वदिशा ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो प्रियवृत्त नामूल की खरीच से युक्त होकर कोई स्त्री शोभा पा रही हो ॥ ४९ ॥

यदि कौतुकमायतेक्षणे न चिरादेव सुधाद्र्याऽनया ।

धरविन्ददलद्युतौ करे मृदुलीलावलय करोमि ते ॥ ५० ॥

हे विशालनेत्रे प्रिये, अगर तुम्हारा कौतुक हो अर्थात् अगर तुम चाहो तो अमृत से भरी इस चन्द्रकला को शीघ्र ही लाकर मैं कमल की पल्लवियों के समान कात्ति वाले तुम्हारे इस कोमल हाथ का कगन बना दूँ ॥ ५० ॥

अनन्यमित पुर स्थितं विदितं किं शशिना तमाननम् ।

नमस सहसाङ्गमेप यन् न कलङ्कत्रपयाधिरोहति ॥ ५१ ॥

इस चन्द्रमा ने सामने हाँ स्थित तुम्हारे इस सुन्दर मुख के विषय में जान लिया है क्या ? अर्थात् अन्श्य ही इसने तुम्हारे मुख को यहाँ देख लिया है, तभी तो यह नम का चन्द्रमा अपने बलक की लज्जा के कारण आकाश से नीचे नहीं उतर पाता ॥ ५१ ॥

इदमुद्गतमिन्दुमण्डलम् दिगियं पश्य विभर्ति लक्ष्मवत् ।

त्वमिवाच्छक्रपोलमण्डल-स्फुटकालागस्पत्त्रमाननम् ॥ ५२ ॥

देखो, यह पूर्व दिशा इस काले चिह्न वाले उदित चन्द्रमण्डल को धारण किये हुए ऐसी लग रही है, जैसे तुम अगर से सुशोभित स्वच्छ कपोल वाले मुख को धारण किये हुए हो ॥ ५२ ॥

विगलत्तिमिरांशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमधीरतारके ।

इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ ५३ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्र के खिसकते रहने से धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़नेवाले तथा तारा रूपी पुतली जिस पर चंचल दिखाई दे रही है, ऐसे इस निशा के मुखपर देखो, यह स्वच्छ किरणों का कुण्डल शोभायमान हो रहा है ॥ ५३ ॥

अयमुल्लिखति ध्रुवं करैर्विधुरिन्दीवरलोचने तमः ।

कुमुदेषु तथाहि दृश्यतां निपतन्त्यस्य लवा इवालयः ॥ ५४ ॥

यह देखो, चन्द्रमा मानो अपने किरण रूपी करों से कमल रूपी नेत्र में अन्धकार रूपी काजल भर रहा है। और इधर कुमुदों पर वे अनेक भीरें टूट पड़ रहे हैं, तो ऐसा लग रहा है कि उस अन्धकार के कण के कण ही टूट रहे हैं ॥ ५४ ॥

इदमञ्जननीलमाहतम् पिहिताशं तुहिनांशुना करैः ।

अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनकैः संकुचितं पुनस्तमः ॥ ५५ ॥

चन्द्रमा ने अपनी किरणों से ऋज्जलवत् कृष्ण अन्धकार को दूर कर दिया है, जिससे निराश होकर अब यह धीरे-धीरे फिर से अर्जुदाचल की उन्हीं गुफाओं में छिपता जा रहा है, जहाँ से वह निकला था।

विमर्श—सूर्यास्त के बाद जब तक चन्द्रोदय नहीं हुआ था, तब तक तो अन्धकार का साम्राज्य था, परन्तु चन्द्र के उदित होते ही सब अन्धकार छूट गया, पर पर्वत की गुफाओं में, जहाँ चन्द्रप्रकाश पहुँच नहीं पा रहा था, अभी अन्धकार था ॥ ५५ ॥

मसृणोल्लसदंशुमण्डलच्छलतः पश्य दिवः कृतेऽनया ।

इयमिन्दुसमुद्गाकादितो निशया हारलतेव कृष्यते ॥ ५६ ॥

अब इधर देखो, यह रात्रि रूपी नायिका मानो आसमान के लिये चिकने और चमकते हुए किरण-मण्डल के वहाने चन्द्ररूपी पेट्टी में से हारलता निकाल रही है ॥ ५६ ॥

यदभूत्तमसा जगत्तथा पिहितं पुष्करपत्रलोचने ।

तदिदं परतः प्रकाशितं शशिना कुङ्कुमकन्दपाण्डुना ॥ ५७ ॥

हे कमल पत्र के समान नयनों वाली अन्धकार के कारण जो जगत् पहले एकदम छिप सा गया था, कुङ्कुमकन्द वर्णों के किरणों वाले चन्द्रमा ने उसे पुनः अपनी प्रभा से प्रकाशित कर दिया है ॥ ५७ ॥

प्रसृतेषु विलोचनोदरे तिलके सङ्कुचितेषु चान्दने ।

फलितेषु नताङ्गि लक्ष्यते तत्र मुक्तामलयेषु चन्द्रिका ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की ज्योत्स्ना परम सुन्दरी शशिप्रभा के अंगों पर पड़ रही थी, उस पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि यह चन्द्रिका तुम्हारे दोनों नेत्रों के बीच तक फैल गयी है, और चन्दन के तिलक पर लग गयी है, और तुम्हारी मुग्धा की चूड़ियों के अंदर मानो उसे किसी ने छुट दिया है ॥ ५८ ॥

कुचयो प्रतिविम्बित सम विधुरे कोऽपि भवत्यय द्विधा ।

विधिनेषु विभिन्नसम्पुटस्तेषु लावण्यसुधासमुद्गकः ॥ ५९ ॥

तुम्हारे दोनों कुचों पर प्रतिविम्ब (परछाई) डालने वाला यह चन्द्रमा एक होते हुए भी उसी वक्त दो भागों में बँट गया जान पड़ता है । मानो विधाता ने ही तुम्हारे सौन्दर्य-सुधा की पेटी को दो भागों में विभक्त कर दिया हो ॥ ५९ ॥

हृतमुग्धमधूकशोभयोरनयो पत्रगलोककौमुदि ।

तव चन्द्रकला कपोलयो पतिता स्पर्शकुनूहलादिव ॥ ६० ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! महुवे की शोभा को चुराने वाले तुम्हारे इन कपोलों पर यह चाँदनी मानो उनका स्पर्श करने के लिए ही पड़ रही है ॥ ६० ॥

अयमिन्दुमुत्ति त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जन ।

अनयैष समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्छन ॥ ६१ ॥

हे चन्द्रमुखी, तुम्हारे साथ मिलकर मैं जैसे सुन्दर लग रहा हूँ, उसी प्रकार रात्रि से मिलकर यह चन्द्रमा भी अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥ ६१ ॥

धनुषि म्रियतेऽधिरोहण स्मरमौर्वीलतया तनूदरि ।

शशिनेरितया समुच्छिन्ने पुलिनाद्रौ च पयोविवेलया ॥ ६२ ॥

हे तनूदरि, कामदेव के धनुष की डोर अब धनुष पर चट रही है तथा चन्द्रमा को देखकर बढने वाली समुद्र की मयादा तटवना पर्वतप्रात की ओर जा रही है । अर्थात् अब कामदेव का प्रताप नष्ट आ रहा है ॥ ६२ ॥

कृतचाटुशतै परस्पर मकरन्दार्द्रेरज सुगन्धिषु ।

स्थितमन्तामीषु सान्प्रतं भ्रमरै पुष्करवासवेष्मसु ॥ ६३ ॥

आपस में सैकड़ों प्रकार से चाटुकारी करने वाले ये भ्रमर इन पुष्परस से आर्द्र पराग वाले तथा सुगन्धित इन कमल-कोषों के अन्दर मस्ती से बैठ गये हैं ॥ ६३ ॥

मरुता सुहृदेव वीजितम् कुमुदामोदमुचा शनैरितः ।

स्वपिति प्रणयार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः ॥ ६४ ॥

हे मानिनि ! कामोन्मत्त अनुरागी हंसों का यह लोहा भी यहाँ शयन कर रहा है; आस-पास कुमुदों की सुगन्ध को उड़ाती हुई यह मन्द हवा जो वह रही है, वह मानो मैत्रीभाव से हंसमिथुन पर पंखा भलने का काम कर रही हो ॥ ६४ ॥

अपि चक्रवधूरिथं पुरः करुणं कूजति हा तपस्विनी ।

इह साक्षितयाऽलमावयोरुचितं गन्तुमतः कृपावति ॥ ६५ ॥

देखो, यह चक्रवे की त्नी बेचारी अपने प्रिय के वियोग में करुणध्वनि से रो रही है। यह हम दोनों के साक्षिरूप में (परस्पर समर्पण के लिए) रहेगी। अतः अब हम परस्पर अभिसरण कर सकते हैं अथवा अब हमें यहाँ से हटकर अन्यत्र चले जाना चाहिए ॥ ६५ ॥

इति भूतलवासवः स ताम् अभिधाय प्रमदां प्रियंवदः ।

प्रविवेश तथा समं किल प्रमनाः केलिनगेन्द्रवन्दरम् ॥ ६६ ॥

मधुर भाषण करने वाला धरती का इन्द्र सिन्धुराज इस प्रकार उस रमणी को कहकर प्रसन्न मन से उसके साथ एक पर्वत की गुफा में प्रविष्ट हो गया ॥ ६६ ॥

झटिति स्फुटभावसङ्करां मधुरामंगलतां दधानया ।

शशिकान्तशिलातलं ततः स किलाध्यास्त तथा युवाऽन्वितः ॥

इसके बाद नायिका ने अपने अंगों से जो चेष्टा की, उससे उसका यह भाव स्पष्ट हो गया कि वह -नी अभिसरण करना चाहती है, ऐसी उस अंग-लता को धारण करने वाली उस कामिनी के साथ वह युवा राजा चन्द्रकान्त मणि के शिलातल पर बैठ गया ॥ ६७ ॥

तदनु त्रपया पराङ्मुखीं पुलकालंकृतपीवरस्तनीम् ।

स किलाञ्चितचाटुरानयन् सुमुखीं तामनुकूलवृत्तिताम् ॥ ६८ ॥

तब लज्जा से झुके हुए और दूसरे तरफ मुड़े हुए मुख वाली तथा रोमाञ्चित स्तनों वाली उस शशिप्रभा को फुसला कर उसने अनुकूल अर्थात् सम्भोग याग्य बना लिया ॥ ६८ ॥

अथ मन्थरलोचनं ह्रिया विनमरस्मेरमुखः स्मितान्चितम् ।

स ददर्श किल प्रजेश्वरः मुदृशः स्विक्रकपोलमाननम् ॥ ६९ ॥

तय लज्जा के कारण अलसायी आँखों वाले मन्दस्मित से युक्त उस सुनयनी शशिप्रभा के पसीने से भीगे हुए मुख को उस नम्र तथा विकसित मुखवाल राजा ने देखा ॥ ६६ ॥

यदल किल मानवत्यभूत् ऋजवन्नेन्दुमुषी किलैक्षित ।

लिखितेव किलास्त यन् परं नृपतेस्तेन मन किलाहरत् ॥ ७० ॥

इसके अनन्तर नायिका पर्याप्त रूप से मानगती हो गयी, राजा की तरफ सीधे न देखकर कटाक्षों से देखने लगी, और उसके बाद एकाएक चित्रलिखित सी स्तम्भ हो गयी (अर्थात् उसने अपने आपको मान छोड़कर राजा को अर्पण कर दिया)—यह सब देखकर राजा का चित्त उसकी तरफ और भी आकृष्ट हुआ ॥ ७० ॥

परिमृज्य मुच्य विलासिना अरण्येन्दीवररेणुऋपितम् ।

मुदृश अमवारिपङ्कितान् अलकान्तन्मिनकादपास्यत ॥ ७१ ॥

उस विलासी राजा ने बतौर कनफूल के कान में धारण किये हुए उस सुन्दर नेत्रवाले शशिप्रभा के कमल की धूल से सने मुख को पोंछकर पसीने से सने तिलक पर से उसके बालों को हटाया ॥ ७१ ॥

अथ ता शिथिलीकृतत्रपाम् असमप्रेमहृत किलेश्वर* ।

स्मरकेलिरलारसज्ञताम् अनयद्युथपतिर्शामिव ॥ ७२ ॥

अत्यधिक प्रेम से हृत चित्त वाले उस नृपति ने उसकी लज्जा को दूर कर उसे काम शीबा की कला के रसास्वादन में धनुकूल उठी भाति बना दिया, जिस प्रकार गजराज किसी हथिनी को अपने धनुकूल बना लेता है ॥ ७२ ॥

शिथिलाकुलकेशपाशया परिमृष्टार्द्रकपोलपत्रया ।

विरलाधररत्नरागया मुलभस्वेदमुखे दुग्निम्बया ॥ ७३ ॥

खुले हुए अतएव फैले हुए जूड़े वाली, मसले गये गालों पर की पत्र-लेखा वाली, मिटी हुई ओठों की लाली वाला, पसीने की बूँदों से सने हुए मुख-बिम्ब वाली ॥ ७३ ॥

त्रुटितोज्झितहारलेखया निविडारलेपकृशाङ्गरागया ।

असममनग्नाङ्गमण्डितस्तनविन्यस्तसम्पहस्तया ॥ ७४ ॥

टूटे हुए अतएव हार को फँकनेवाली, अच्छी तरह आलिङ्गन करने के कारण अगराग जिसका मिट गया था ऐसी, स्तनों पर कहीं रहा नाखूनों के निशान हो जाने के कारण उन्हें काँपते हुए हाथ से दँकने वाली ॥ ७४ ॥

१ कारखी धेनुका वशा—अमरकोश ।

कुलकम्

अधिकाधिकजातलज्जया मृदुभीलन्नयनत्रिभागया ।
अथ कामपि निर्वृतिं तथा स किलापत् फणिराजकन्यया ॥ ७५ ॥

कुलक

अत्यन्त लज्जा से युक्त आँख मीच कर एक कोने से देखने वाली उस नागराजकन्या से उस नृपति सिन्धुराज को श्रवर्णनीय लोकोत्तर सुख हुआ ॥ ७५ ॥

ददता नलिनीदलानिलं विकसत्स्वेदकणे कुचद्वये ।
चतुरं किल दीर्घचक्षुपस्तदनु क्लान्तिरनेन चिच्छिदे ॥ ७६ ॥

इसके बाद उस राजा ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक, स्वेदकण जिनपर चमक रहे थे, ऐसे उस दीर्घनेत्रा रमणी के दोनों स्तनों पर कमलिनी के पत्ते से हवा करके उसकी थकान को भी मिटा दिया ॥ ७६ ॥

अथ स त्रपया धृतांशुकाम् जघनस्त्रस्तविसूत्रमेखलाम् ।
अवतंसितलोचनोत्पलां निजमङ्गं ललनां निनाय च ॥ ७७ ॥

इसके बाद लज्जा से उसने जैसे तैसे अपना वस्त्र धारण किया । कमर की करधनी गाँठ टूट जाने के कारण जघनस्थल तक लटक आयी थी, ऐसी उस कमल के समान नेत्रवाली सुन्दरी शशिप्रभा को राजा ने अपनी गोद में बैठाया ॥ ७७ ॥

सुदृशः स किलान्यतश्च्युतं स्वपदे मौलिमणिं न्यवेशयत् ।

अकरोच्च किलारूणाङ्गुलिर्ललितावर्तनकुञ्चितान् कचान् ॥ ७८ ॥

फिर उस राजा ने उस सुन्दरी के इधर-उधर गिरे हुए माथे के मणियों को यथास्थान लगाया और अपने लाल अंगुलियों वाले हाथ से उसके घुँघराले वालों को भी सुन्दर ढंग से सँवारा ॥ ७८ ॥

पश्यात्र दर्पणतले लिखिता मयेयं पत्रावली तरुणि ते वलिताननेति ।

स्वप्नान्तरप्रणयजल्पितमात्मभर्तुरश्रूयत स्मितमुखेन रमाङ्गदेन ॥ ७९ ॥

“हे तरुणि, इधर इस ऐने में देखो, तुम्हारे इस गोल मुख पर मैंने कैसी सुन्दर पत्रावलि चिहित की है” इस तरह वह राजा सपने में ही एकाएक नील पड़ा । अपने स्वामी के इस स्वप्नगत प्रणयवचन को रमांगद ने हँसते हुए सुना ॥ ७९ ॥

अथ शुचि पठता शुकेन साम स्फुटमुटजांगणपादपस्थितेन ।

विरचितदयितासमागमस्य प्रसभमभज्यत पार्थिवस्य निद्रा ॥८०॥

इसके बाद सामवेद का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करने वाले कुटियों के आंगन में स्थित पेड़ पर बैठे हुए तोते ने स्वप्न में समागम करनेवाले राजा की निद्रा

को सहसा भग कर दिया अर्थात् तोते के साम-गायन से राजा की निद्रा
झूटी ॥ ८० ॥

झटिति विगते स्वप्नायातप्रियानवसगमे
पुनरपि तथा तत्प्रत्याशानिमीलितलोचन ।
लिखित इव स दम्पालोऽभून् क्षणं ननु तादृशाम्
अपि मनसिजो धैर्यं लुम्पत्यहो वत साहसम् ॥ ८१ ॥

इति भीमृगाङ्कदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्व कृती नव
साहसाङ्कचरिते महाकाव्ये पण्डितराजमुतास्वप्नसमा
गमो नाम द्वादश सर्गं ॥ १२ ॥

तत्काल निद्रा खुलते ही स्वप्न में होनेवाला प्रिया का नवमिलन नष्ट
हो गया, तब फिर राजा उस मिलन की आशा में आँखें बन्द किए हुए लेटा
रहा । थोड़ी देर तो वह राजा चिन्तलिया सा रह गया । ठीक ही है, ऐसे
महान् लोगों के धैर्य को भी कामदेव नष्ट कर देता है, कितना साहस है ! ॥८१॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य
में नागपुरी व साथ राजा का मिलन नामक
बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः सर्गः

स्वप्नविजृम्भितम्

ततस्तथा पञ्चशरप्रतारितः सजृम्भमुन्मीलयति स्म लोचने ।
कृताङ्गलिश्लेषविवर्तितोल्लसतभुजांससम्पीडितकुण्डलो नृपः ॥ १ ॥

तेरहवाँ सर्ग

स्वप्नभङ्ग

कामदेव के द्वारा इस तरह प्रतारणा पाकर राजा ने फिर जैसे-तैसे आँखें खोलीं और जम्हाई लेने लगा । उसने अपने दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँधकर हाथ और कंधों को तान दिया, जिसमें उसके कर्ण-कुण्डल हाथ और कंधे के बीच आने के कारण दब गये । अर्थात् जम्हाई के साथ-साथ उसने शरीर सीधा किया ॥ १ ॥

स सङ्गतं यन्मृगशावचक्षुपः श्रमाप्तनिद्रः स्फुटमन्वभूदिव ।

झटित्यभूज्जाग्रदवस्थयाऽस्य तन पुरातनालेख्यमिवाम्फुटं हृदि ॥२॥

उस नृपति ने परिश्रम के कारण लगी घोर निद्रा में उस हरिणी के चञ्चे के समान नेत्रवाली शशिप्रभा के साथ जिस रतिमुख की अनुभूति की थी, अब जागने के कारण वह सुख किसी पुराने चित्र की भाँति उसके हृदय पर दुँधले रूप में अङ्कित हो गया ।

विमर्श—अर्थात् उस प्रसंग की अंधुक स्मृति चित्र के समान उसके हृदय में रह गयी ॥ २ ॥

कुचाङ्गरागः कृशमध्यया तथा मयि ध्रुवं सङ्क्रमितो भवेदिति ।

शनैः स निद्राकलुषेण चक्षुषा पराममर्शाङ्गमनङ्गमोहितः ॥ ३ ॥

उस क्षीण कटिवाली के कुचों पर लगा हुआ अंगराग मेरे अङ्गों पर लग गया होगा, यह सोचकर नींद की खुमारी से परिपूर्ण आँखों को मलते हुए काममोहित उस राजा ने अपने अंगों को भली भाँति देखा ।

विमर्श—अर्थात् 'उसके कुचों का अंगराग कहीं मेरे तन में तो नहीं लग गया', ऐसा सोचकर उसने अपने अंगों को भली भाँति देखा ॥ ३ ॥

अपास्य वामेतरकर्णभूषणं तथा शनैरेनमवाकिरन् स्मरः ।

यथास्य धैर्यं गलति स्म मानसान् सविक्रियं शुक्तिपुटादिवोदकम् ॥४॥

व्यों ही उसने बायें कान का आभूषण उतार कर रख दिया, त्यों ही धीरे-

धीरे उमे कामदेव ने सुताना प्रारम्भ कर दिया । जिससे उसका धैर्य मन से उसी प्रकार टर होने लगा, जैसे पूटी हुई सोंप से पानी बहने लगता है ॥ ४ ॥

दृशं विपादस्तिमितामुपागतो निवेद्य तेनाथ निशश्वसे तथा ।

यथा मुहु श्यामलता जगाहिरे त्रितानमुक्ताफलजालकराज ॥ ५ ॥

उनके प्राद वह अस्थित रिन्न मन से सचिव रमाङ्गद की ओर देखकर इतने जोर जोर से गहरी साँसे भरने लगा कि उनसे उसके मोतियाँ के पुञ्ज से बने हान मानो बार बार कालिमा धारण करने लगी ॥ ५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

कया नु सारङ्गदृशाऽसि कारित कपोलपत्रावलिकल्पनश्रमम् ।

तमित्यपोचत परिहासवानथो रमाङ्गद किञ्चिदिव श्लयाङ्गदम् ॥ ६ ॥

रमाङ्गद के वचन

जिसका वाजूबन्द कुछ ढीला हा गया था, ऐंसे उस राजा से हँसी करने में चतुर रमाङ्गद ने कहा कि कहिए जनान, किस हरियाली के कपोलों पर पत्ररचना अकित करने का आपने कष्ट किया है ? ॥ ६ ॥

तत स मुक्तासितमादधत म्मित जितप्रवालत्विपि दत्तमाससि ।

शशंस तस्मै भुजगेन्द्रकन्यकासमागमं स्वप्नजमञ्जलोचन ॥ ७ ॥

तब मूगे के समान लाल धोठों पर मातियों जैसी सुन्दर हँसी दिखेरते हुए उस कमल के समान नेत्र वाल राजा ने रमाङ्गद से शशिप्रभा के साथ अपने स्वप्न समागम की बात कही ॥ ७ ॥

तदाश्रयैवानुचरण वधिता कथा सुप्रेवास्य ततो विलासिन ।

श्रभूत् पर मन्मथतापशान्तये न पद्मिनीपत्रमस्त्र चन्दनम् ॥ ८ ॥

उस शशिप्रभा से सम्बन्धित अमृततुल्य कथाप्रसंग की रमाङ्गद ने भी जारी रखा, तब वह कथा ही राजा के कामदाह को शांत करने में समर्थ हुई, न कि कमलिनी की सुगन्धयुक्त हवा और न चन्दन हा ॥ ८ ॥

अजायतात करणेन ताम्यता न हेमपद्माहरणाय सत्वरम् ।

भुज सदा रक्षणदीक्षित क्लितेरमदमस्पन्दत चास्य दक्षिण ॥ ९ ॥

हृदय से पीड़ित वह नृपति स्वर्ण-कमल लाने के लिए भी शीघ्रता न कर सका । फिर हमेशा धरती की रक्षा करने में निपुण उसका दाहिना हाथ बार बार पटकने लगा ॥ ९ ॥

वटकुमुनेरागमनम्

तत पिनद्धोज्ज्वलहेमवल्कल वहन्तमसार्धविलम्बिनीर्जटा ।

सनाथवामेतरपाणिपङ्कजम् परिस्फुरन्त्या स्फटिकाक्षमालया ॥ १० ॥

वङ्कुमुनि का आना

तब पीतवर्ण के वल्कल वल्क को लपेटे हुए और कन्धों के आधे भाग तक लटकती जटाओं से शोभित तथा चमकती हुई स्फटिक रुद्राक्ष की माला को दाहिने हस्त-कमल में लिये हुए ॥ १० ॥

विशालनेत्राभरणैरनुदुतं सदैव दर्भाङ्कुरलालितैर्मृगैः ।

सशिष्यमभ्यागतमङ्गणान्तिके विशाम्पतिर्वङ्कुमहर्षिमैक्षत ॥ ११ ॥

विशाल नेत्र ही हैं आभरण जिनके ऐसे तथा सदा कुशा खिलाकर पाले-पोसे मृग जिनके साथ-साथ दौड़ रहे थे ऐसे, अपने शिष्यों के साथ आये हुए वङ्कुमुनि को राजा ने आंगन में देखा ॥ ११ ॥

वियुक्तपर्यङ्गतलः ससम्भ्रमं निरीक्ष्य सद्यो मणिमन्दिराद्बहिः ।

किरीटिरत्नद्युतिदीपभूतलं प्रणाममस्मै स चकार सादरम् ॥ १२ ॥

उस मणिमय भवन के बाहर वङ्कुमहर्षि को आया देखकर राजा ने एकाएक अपना पलङ्ग छोड़कर मुकुट-रत्नों की प्रभा से भूतल को प्रकाशित करते हुए मुनि को प्रणाम किया ॥ १२ ॥

ततः कृताशीर्भणिवेदिकास्त्वृते मुनिर्न्यपीदत् स कुरङ्गचर्मणि ।

स चासनत्वं तदनुज्ञयाऽनयत् नृचन्द्रमाश्चद्रमणोः शिलातलम् ॥ १३ ॥

राजा को आशीर्वाद देकर वह मुनि मणिमय चबूतरे पर बिछे मृगचर्म के आसन पर बैठ गये । फिर मुनि की आज्ञा पाकर उस राजचन्द्र ने भी चन्द्रमणिवाली शिला का आसन बनाया अर्थात् उस पर बैठ गया ॥ १३ ॥

मुनिप्रश्नः

अपि श्रमेणायतमार्गजन्मना तनुर्महाराज तवेयमुञ्जिता ।

मुनिः प्रहर्षेण कृताहंणस्तदा स राजचूडामणिमित्यपृच्छत् ॥ १४ ॥

मुनि का प्रश्न

‘महाराज ! बहुत दूर चलने से मार्ग की जो थकान आपको हो गई थी, क्या वह थकान अब दूर हो गई है ?’ राजा के द्वारा स्वागत किये हुए मुनि ने प्रसन्नता से राजाओं में श्रेष्ठ उस राजा से यह प्रश्न किया ॥ १४ ॥

भूपतिवाक्यम्

अथादधद्वक्त्र इवांशुकाञ्चलं तुपारपाण्डुप्रसृतैर्द्विजांशुभिः ।

अकृत्रिमप्रशयपेशलं वचः स भूपतिर्वक्तुमिति प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

राजा का कथन

हिमकण की भाँति श्वेत एवं फैलने वाली दाँतों की श्वेत कान्ति से मुख पर किरण-समूह सा डालते हुए राजा ने मुनि से स्वाभाविक प्रेम से सने मधुर वचन कहना प्रारम्भ किया ॥ १५ ॥

अमी सहन्ते मम तात न श्रमम् प्रणामलग्नास्तत्र पादपासत्र ।

त्रियञ्चिर चन्द्रमरीचिचुम्बिते पद निघत्ते कुमुदे दिनकलम ॥१६॥

हे भगवन् ! प्रणाम करते समय मेरे शरीर पर लगी हुई आपके चरणों की धूल मेरी थकान का सहन नहीं कर सकती है, अर्थात् आपकी रज को छूकर मेरी थकान दूर हो गई है । चन्द्रमा की किरणों से छू जाने पर भला कुमुदों की म्लानता किननी देर टिक सकती है ?

प्रिमर्श—जैसे चन्द्र किरणों के छूने से कुमुदों की सुरभाइट शीघ्र दूर हो जाती है, उसी भाँति आपका चरण रज छूकर मेरी थकान भी शीघ्र दूर हो गई ॥ १६ ॥

कपिदर्शनम्

नृलोरुपातालतलाश्रये मिय कथानुबन्धे शिथिलीभवत्यथ ।

प्रयाणपर्युत्सुकमानसो मुनि स यावदाप्रष्टुमियेष पार्थिव ॥ १७ ॥

बन्दर का देखना

इसके बाद भूलोक और पानालोक सम्बन्धी कई बातें उगमें हुईं, जब वह बातें समाप्त हों तो आर्या और श्व जान क लिए उत्सुक बने हुए मुनि ने राजा से विदा होने के लिए प्रयास किया ॥ १७ ॥

अनेन तापद्दृष्टो पुर रियतो विशाललागूलततो बलीमुत्प्र ।

अघस्थलीनिर्गतनहुकचको हिमोज्ज्वल पादु द्वाम्बिकागुरो ॥ १८ ॥

कि इतने में उसने सामने गढ़े हुए भारी लम्बी पूँज रूपी लता वाले छप पुष्प एक बन्दर को देखा, वह ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो जिसकी गुफाओं से जाइवी बह रही हो, ऐसा हिमालय का एक प्रत्यतमाग ही ॥ १८ ॥

करेण मिश्रमधुमत्तकेरलीकपोलवत्पाटलकान्ति दाडिमम् ।

अहर्मुग्धावृष्टपतङ्गमण्डल फलाशया बाल इनाञ्जनीसुत ॥ १९ ॥

मद्यमान करने के कारण रक्तवर्ण क केरलवाँसनी स्त्री के कपोल के समान कान्ति वाले अनार की हाथ में धारण किया हुआ वह बानर ऐसा दिखाई दे रहा था, माना प्रभातकालीन रक्तवर्ण क स्येमण्डल की फल समझ कर इगुमान ने अपने हाथ में लिया हो ॥ १९ ॥

फलार्पणम्

द्वयोरिवार्थं गतु धर्मकामयोस्तयोस्त्रिलोकस्पृहणीययो कपि ।

मुनीन्द्रभूचन्द्रमसो स्थितोऽन्तरे तपम्बिभि स्मेरमुखैरदृश्यत २० ॥

फल देना

धर्म और काम के मध्य जैसे अर्थ शोभा पाता है, उसी भाँति तीनों लोकों के प्रिय बड़कुमुनि और सिन्धुराज के बीच वह वानर शोभा पा रहा था । इस दृश्य को देखते हुए सभी तपस्वियों ने देखा ॥ २० ॥

अथापितं तेन फलं तदाददे स विस्मितो मध्यमलोकवासवः ।

जपारुणं मारुतिनेव मैथिली-शिखण्डरत्नं दशकण्ठशासनः ॥ २१ ॥

विस्मय से युक्त धरती के इन्द्र उस राजा ने वानर के दिये हुए फल को उसी भाँति स्वीकार किया, जिस प्रकार जवाकुसुम के समान रक्तवर्णवाले सीतादेवी के चूड़ामणि को राम ने ग्रहण किया था ॥ २१ ॥

अकृत्रिमश्रीनिलयेन रागिणा नरेन्द्रचिह्नाङ्कितहस्तशोभिना ।

सुवृत्ततामुद्बहता स्वभावतः स तेन रेजे भृशमात्मना यथा ॥ २२ ॥

स्वाभाविक शोभा का निधान, राज-लक्षणों से युक्त राजा के हाथ पर शोभा पानेवाले स्वभाव से ही गोलाई धारण करने वाले उस फल से राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे सुवृत्त तथा सदान्चारसम्पन्न आत्मा से मनुष्य शोभा पाता है ॥ २२ ॥

अजातपाकस्य नवातपाधिकां पुनः पुनस्तस्य विलोक्य शोणताम् ।

नवप्रवाल्लोपममेणचक्षुपः स्मरन् स विम्बोष्ठमत्राप शून्यताम् ॥ २३ ॥

जो ठीक से पका नहीं था, अतएव प्रभातकालीन लालिमा से युक्त था, ऐसे उस फल की लाली को देखकर नवीन मूंगे की लाली वाले, उस हरिणी की-सी आँखों वाली शशिप्रभा के अधर (ओष्ठ) का स्मरण करता हुआ सिन्धुराज शून्य-सा हो गया ॥ २३ ॥

अथास्य सीदन्मणिवन्धनान् करान् अवाञ्चतः कम्पित्सूत्रिताङ्गलेः ।

पपात पश्चादिव हेमकुट्टिमे तदस्फुटद्रागिव दाडिमीफलम् ॥ २४ ॥

जिसकी हथेली कांप रही थी, तथा कांपती हुई असमान अङ्गुलियों वाले उस राजा के हाथ से वह अनार का फल शीघ्र ही स्वर्णमय जमीन पर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

तदन्तरान् किंशुककान्तिस्करः स्फुरन्मणीनां निकरोऽथ निर्ययौ ।

उदर्चिपः पुष्पशारासनक्रुधा कणोत्करस्त्र्यम्बकलोचनादिव ॥ २५ ॥

उसके गिरने पर उसमे पलाश की कान्ति को चुरानेवाला अर्थात् तत्सदृश दैदीप्यमान मणि-किरणों का समूह मानो निकल पड़ा । अर्थात् उसके अन्दर के लाल दाने बिखर गये । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे कामदेव पर क्रोध के कारण

शिव के आग भी लपट से युक्त नेत्रों से मयकर अग्निक्षण निकल रहे हों ॥ २५ ॥

अथ द्वयेनावनिपाकशासन स विस्मयम्याप्रमहीमनीयत ।

वनौकसा तेन निनीतवृत्तिना विकर्णभासा भण्डिदाहिमेन च ॥ २६ ॥

तब विनम्र भाव वाले उस वानर ने और उल्लङ्घन व्याभा पैलाने वाले उस अनार के फल ने—दोनों ने ही उस धरती के इन्द्र (राजा) का आश्चर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया अर्थात् उन दोनों की देखकर राजा को अत्यन्त विस्मय हुआ ॥ २६ ॥

स चान्भुतप्राभृततोपित करे चकार रेखामणिकङ्कण कपे ।

घनात्ययतोर्तौ निजमिन्दुपाण्डुरे पयोदण्डे हरिवाडयायुधम् ॥ २७ ॥

वानर क द्वारा दी हुई उस मेंट से अत्यन्त सन्दुष्ट राजा ने नर्मदा के दिवे हुए मणिकङ्कण को उस वानर के हाथ में पहना दिया । वह उसे धारण कर ऐसा लग रहा था, जैसे शरदकाल में चन्द्र के समान श्वेत बादल के टुकड़े में इन्द्र अपने धनुष को पहना देता है ॥ २७ ॥

तत सुधासूतिमिरोद्धितामृतिर्नवाञ्जनश्यामलयाङ्गलेखया ।

नृप क्षणादेव विचित्रभूषणम् पुमाममग्रे न हरि तमैक्षत ॥ २८ ॥

तब वृष्यपत्न के माद अपनी वृष्याकृति का त्याग करनेवाले, नवीन अञ्जन के समान वृष्यवर्ण स्नम्प के उदले हुए विचित्र भूषणों में युक्त एक पुरुष को राजा ने सामने खड़ा देखा, कि वानर का, अर्थात् वानर ने मनुष्य आकृति धारण कर ली ॥ २८ ॥

कृतानतिविस्मितमानसे मुनी रमाङ्गदे मादरमुत्तलोचन ।

व्यधान प्रणाम स कृताञ्जलिनृपे कपोलप्लेलनकलधोतमुण्डल ॥२९॥

आश्चर्य से चकित मुनि को प्रणाम करके और रमाङ्गद की श्रोर भी सादर हाँथ ढालकर, बालों पर स्वर्णमुण्डलों को चमकाते हुए उसने राजा को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥ २९ ॥

मुनिकृत प्रश्न.

अलङ्कृत कम्य घदान्वयस्त्वया पदं क्व ते किञ्च कपिभवानभूत् ।

तमेवमाह स्म सविस्मयोमिणा नृपेण साकूतत्रिलोकितो मुनि ॥३०॥

मुनि का प्रश्न

इसके बाद जब राजा ने निरमय तरंग सयुक्त दृष्टि से मुनि की श्रोर देखा, मुनि ने उस पुरुष से प्रश्न किया कि कहो, तुमने श्रपों जन्म से किस वंश को विभूषित किया है ? तुम कौन हो ? और वानर कैसे जन गये ? ॥ ३० ॥

शशिखण्डवाक्यम्

ततः स मुग्धेन्दुमयूखवन्धुभिः प्रसादयन् दन्तमरीचिभिर्दिशः ।

नवाम्बुभारालसनीरदावलीनिनादधीरामिति वाचमाददे ॥ ३१ ॥

तब वह सुन्दर चन्द्र-किरणों के समान दांतों की चमक से दिशाश्रों को जगमगाता हुआ, नवीन तथा जलपूर्ण अतएव अलसाये हुए मेघों की पंक्ति की ध्वनि के समान गम्भीर वाणी में बोला ॥ ३१ ॥

शिखण्डकेतोः शशिखण्ड इत्यहं मुनीन्द्र विद्याधरशासितुः मुतः ।

सुराङ्गनाध्यासितरत्नकन्धरे ममाधिवासः शशिकान्तपर्वते ॥ ३२ ॥

हे मुनीन्द्र ! मैं विद्याधरों के राजा शिखण्डकेतु का शशिखण्ड नामक पुत्र हूँ । देवस्त्रियाँ जिस रत्नमय गुफाओं वाले शशिकान्त पर्वत पर रहती हैं, वही मेरा निवास-स्थान है ॥ ३२ ॥

रथाङ्गपाणेः प्रतिभा समुद्रतः स्वयं महानीलमयी विनिर्गता ।

इति प्रवादः परमीक्षितुं च तां गता मणिद्वीपमितः पुरस्त्रियः ॥ ३३ ॥

“अति नीलवर्ण की भगवान् विष्णु की मूर्ति स्वयं ही समुद्र से निकली है” यह प्रवाद जब चारों ओर फैला तो उसे देखने के लिए नगर की सभी स्त्रियाँ मणिद्वीप की ओर चली गयीं ॥ ३३ ॥

ममापि तस्यामधिकं कुतूहलं तदेहि यावः कृत एप तेऽञ्जलिः ।

कदाचिदेवं सहस्रोपसृत्य मां प्रिया ययाचे प्रणिपत्य मालती ॥ ३४ ॥

तब एकवार मेरी पत्नी मालती ने भी सहसा मेरे पास आकर हाथ जोड़कर प्रार्थना की ‘हे प्रिय, मेरी भी उस मूर्ति को देखने की प्रबल इच्छा हो रही है, हाथ जोड़ती हूँ, चलो, हम भी उसे देखने चलें’ ॥ ३४ ॥

ततः खमिन्दीवरनीलमेकतस्तया सहोत्पत्य जवेन गच्छतः ।

स तात शैलेन्द्रभरक्षमः क्षणान् पपात मे लोचनगोचरेऽर्णवः ॥ ३५ ॥

महाराज ! तब कमल के समान नीले आसमान में जब मैं एक ओर से तेजी के साथ शीघ्रता से जा रहा था तो थोड़ी ही देर में पर्वतों के भार को उटाने में समर्थ समुद्र की आर मेरी दृष्टि गई ॥ ३५ ॥

उपोढनानामणिमोक्तिकोत्करैः करैरिवार्ध्वं प्रसरद्भिरुमिभिः ।

अनर्घ्यमर्घ्यं जगदकचक्षुषे समुद्यतो दातुमिवांशुमालिने ॥ ३६ ॥

नाना प्रकार के अनगिनत मणि एवं मोतियों के ढेर को लिये हुए ऊपर उठनेवाली तरंगरूपी हाथों से जगत को प्रकाश देनेवाले सूर्य को अर्घ्य देने के लिए समुद्यत ॥ ३६ ॥

नवप्रवालद्युतिपाटलोदरः करो मुरारेरिव शार्ङ्गलाञ्छितः ।

अलङ्कृतो जह्ममहर्षिकन्यया पृथुर्जटाजूट इवान्धकद्विपः ॥ ३७ ॥

नवीन मूँगा की कान्ति के कारण जिसका अन्तर भाग अरुण हो रहा था, ऐसा समुद्र शाङ्ग धनुष लिये हुए भगवान् विष्णु के हाथ के समान तथा जाह्नवी गंगा ने सने भगवान् शंकर के विशाल जटाभार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ३७ ॥

उदप्रकल्लोलम्दथितप्रहैरगाधपातालतलावगाहिभिः ।

दिशो निरुधन् नवमेघनादिभिनिमग्नदिङ्जामदाविलैर्जलैः ॥३८॥

वह समुद्र ऐसा था, जिसमें बनी-बही लहरें घटियालो को पीड़ित कर रही थीं जिसमें जन अगाध पाताल तक व्याप्त था, नवीन मेघों की गर्जना की भाँति नादगाना तथा दिग्गजों के अवगाहन करने के कारण जो गँदला बन गया था, ऐसा उस समुद्र का वह जल दिशाओं को व्याप्त कर रहा था ॥ ३८ ॥

ममेधितश्रीरमितस्तलोत्थितै स्फुर मणिस्तोममयूखदामभिः ।

युगातनामृतशतोदयापितै पुलोमक यापतिशार्मुकैरिव ॥ ३९ ॥

वह समुद्र चारों ओर में नीचे तल से उठने वाली तथा सैकड़ों प्रलय-कालीन मेघों के द्वारा अर्पित इन्द्राणी के पति (इन्द्र) के धनुष की सी शोभा-वाली दैदीप्यमान मणियों के समूह की किरणरूपी झोरियों से अत्यन्त शोभा शाली था ॥ ३९ ॥

उपातविश्रान्तपयोदमण्डलैर्जलद्विपप्रस्तुतप्रकेलिभिः ।

चिरोल्लसद्द्वीपधिया समीक्षितैर्विशालनेत्रैस्त्रिभूमिभिः कृताद्भुत ॥४०॥

समीप में ही विश्राम करने के लिए बैठे हुए अनेक बादलों में जहाँ जल-हस्ती बपक्रीडा कर रहे थे, तथा विशाल नेत्रों जल जन्मस्थल उन्हें बड़े-बड़े द्वीप समझकर देख रहे थे, जिससे वह समुद्र अद्भुत मालूम पड़ रहा था ॥ ४० ॥

मुजातकाठिन्धपयोधरा स्पृहाम् उपाहर ती पथि ताच्छा पथि ।

क्वचिद्दधान शरदिदुपेशला शिलामु शुक्तीर्जलमानुपीरिव ॥ ४१ ॥

कड़े स्तनोंवाली (शुक्तिपद्म में-बादलों ने जिनमें काठिय उत्पन्न कर दिया था) तथा मार्ग में इधर उधर घूमने की इच्छावाली (शुक्तिपद्म में-रास्ते में इधर उधर बिखरी हुई) शरदकालीन चन्द्र की भाँति कोमल शुक्तियों की जल-मुन्दरियाँ की तरह वह समुद्र धारण कर रहा था ॥ ४१ ॥

निजौघसीमत्तनसानुकदंमैवृ हृदरीपुञ्जितरत्नराशिभिः ।

अथ प्रविष्टोद्धतकच्छपोद्धतैर्महाचलैरुल्लिखिताम्बर क्वचित् ॥४२॥

अपने वेग से पानी का बहाव रोकने के कारण जिनके कई भागों में पीचड़ एकत्र हो गया था तथा जिनकी बनी बनी गुफाओं में अनगिनत रत्न-माणिक्य भी इकट्ठा हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े विशाल पर्वत उस समुद्र में नीचे तल तक

थेसे हुए थे, उन्हें कच्छपावतार भगवान् धारण किये हुए थे, जिससे वे ऊपर उठ आये थे और गगनचुम्बी हो गये थे ॥ ४२ ॥

सवेगधेलानिलवेल्लिताः क्वचित् नवोद्गता विद्रुमकन्दलीर्दधन् ।

शिखा इवोर्ध्वं तरुणार्कलोहिताः विनिर्गता वाडवजातवेदसः ॥ ४३ ॥

कहीं-कहीं पर तीर के वेगवायु से हिलाये गये नये-नये मूँगों के अङ्कुर को धारण करने वाला वह समुद्र ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो प्रभातकालीन सूर्य की भाँति रक्तवर्ण की ऊपर उठती हुई वडवाग्नि की लपटें हों ॥ ४३ ॥

क्वचित् सुधापाण्डुनि फेनमण्डले निलीनदुर्वादलनीलनीरदः ।

सनाथतां नीत इवोपरि स्फुटम् फणीन्द्रपर्यङ्कशयेन शार्ङ्गिणा ॥ ४४ ॥

कहीं-कहीं पर अमृत की भाँति श्वेत फेन के समूह के ऊपर आसमान से लटके हुए दूब को भाँति नीले बादल ऐसे लग रहे थे, मानो शेषनाग की शैया पर सोने वाले भगवान् विष्णु ने उसको सनाथ कर दिया हो ।

विमर्श—भगवान् विष्णु नीलवर्ण, शेषनाग श्वेत, इसी तरह फेन-मण्डल श्वेत और मेघमण्डल नील—इसी तरह यह उपमानोपमेयभाव है ॥ ४४ ॥

क्वचित् मणीनां कुमुदोदरत्वपः सितेतरेन्दीवरमेचकाः क्वचित् ।

क्वचिद्धानः शुकचञ्चुपाटलास्तटेपु मुक्ताशवलोदराः शिलाः ॥ ४५ ॥

उस समुद्र के तटपर कहीं-कहीं कुमुद के अन्तर्भाग के समान श्वेत कान्तिवाली कहीं-कहीं नीलकमल की भाँति नीले रंग की तथा कहीं पर तोते की चोंच की भाँति रक्तवर्ण की मोतियों से भरी शिलार्यें थीं ॥ ४५ ॥

तथैव तस्योपरि गत्वरस्य मे तमालनीलेन पथा पयोमुचाम् ।

त्वाविशीर्णश्लथवन्धनाञ्चितः पपात सीमन्तमणिर्मृगीदृशः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार तमाल की भाँति नीले बादलों के मार्ग (आकाशमार्ग) से जब मैं उस समुद्र के ऊपर से सपत्नीक जा रहा था, तब जल्दी-जल्दी चलने के कारण ढीला होकर मेरी स्त्री का चूडामणि (शिरोभूषण) उस समुद्र में गिर पड़ा ॥ ४६ ॥

प्रधावमानेन मयान्तरान्तरा नखाग्रनिल्नमयूखपह्लवः ।

स चान्तरम् दीधितिमानिवोदधेर्विवेश कोशाम्भतरुच्छटारूपः ॥४७॥

दौड़ते हुए मैंने जब बीच-बीच में नाखूनों के अग्रभाग से उसकी किरणों को पकड़ना चाहा, तब वह कान्तिमान्, आभ्रतरु के रक्त पत्तों की-सी कान्ति-वाला चूडामणि उस समुद्र के अन्दर उसी तरह चला गया, जिस तरह प्रकाश-मान सूर्य अस्त के समय समुद्र में समा जाता है ॥ ४७ ॥

निर्वर्तमानं तु हठात् विकृप्यता तुरङ्गहस्तेन निरुन्धता नभः ।

क्षणादिव क्वापि रसातलोदरे करीव चिक्षेप कृतारवोऽर्णवः ॥ ४८ ॥

उस चूडामणि को न पाकर जब मैं निराश होकर लौटने लगा कि इतने में अपने आकाश को व्याप्त करनेवाली उत्ताल तरङ्गरूपी हाथ से मुझे खींचकर समुद्र ने हाथी की तरह भयकर गर्जना कर क्षण भर में रसातल में जा पटका ॥ ४८ ॥

स्त्रीदर्शनम्

मयाऽथ तत्र भ्रमता सविस्मयम् तमुद्रहन्ती मणिमुत्प्रभ करे ।

अदृश्यतैका विशती तपोवनं स्मरस्य मूर्ता ममतेव कन्यका ॥ ४९ ॥

स्त्री का दर्शन

जब मैं नीचे गया तो वहाँ विस्मय के साथ घूमते हुए मैंने साक्षात् शरीर-धारिणी कामकी ममता के समान एक सुन्दर कन्या को देखा, जो उस चमकीले मणि को हाथ में लेकर तपोवन में प्रविष्ट हो रही थी ॥ ४९ ॥

तत प्रियामौलिमणिर्न मेऽपित पुन पुन प्रार्थितयाऽपि यन् तथा ।

अह तदस्या मकराङ्गिणे बलान् अपाहर मन्मथरत्नपादुके ॥ ५० ॥

जब बार बार प्रार्थना करने पर भी उसने मेरी प्रिया व उस चूडामणि (शिर के आभूषण को) नहीं लौटाया, तब मैंने भी जबर्दस्ती उसके मङ्गली की आकृतिवाले कामरत्नजटित खड़ाक को छीन लिया ॥ ५० ॥

किमाभ्रम शून्यमिद तपोवनैरनेन हा धिङ्मुपित्तास्मि दस्युना ।

अथेति धापोद्गमगद्गदै पदैर्मुहुर्वदन्ती कस्य स्त्रोद सा ॥ ५१ ॥

‘हाय ! क्या यह आभ्रम तपस्वियों से शून्य हो गया । अर्थात् यहाँ कोई तपस्वी नहीं रह गया, जो इस लुटेरे चोर ने मझे लूट लिया ।’ श्रांस निकल आने के कारण रूधे हुए कण्ठ से इस प्रकार बार-बार चिल्लाती हुई वह अत्यन्त कस्य स्वर में जोर-जोर से रोने लगी ॥ ५१ ॥

मुनिदर्शनम्

तत्तस्तदीये रुदितध्वनौ श्रुते ससम्भ्रम कोऽपि महातपा मुनि ।

विनिर्ययौ रत्नशिलागृहाद्बहिस्तमालभासस्तरणिवर्धनादिब ॥ ५२ ॥

मुनि का दर्शन

तब उसका रोने घोने के शब्द को सुनकर कोई महातपस्वी मुनि तमाल के समान नीली रत्नशिलाओं के बने हुए घर से उनी प्रकार बाहर आय, जैसे नीले गदलों के बीच से सूर्य बाहर आता है ॥ ५२ ॥

अनेन तेनापि तत्राभ्रमे जलान् इदं हि ताताभरण इव मम ।

इति क्रुधं तद्वचसा स आददे हविनिपेकेण शिर्यामिवानल ॥ ५३ ॥

‘हे महाराज ! जाने यह कौन है ? इसने आपका इस आभ्रम में बरपछ

“मेरा आभूषण छीन लिया है” इस प्रकार उस स्त्री के वचनों को सुनकर उस मुनिजी का क्रोध उसी प्रकार बढ़ गया, जैसे हवन-सामग्री पाकर आग की ज्वाला बढ़ती है ॥ ५३ ॥

शापवर्णनम्

निवद्धभीमभ्रुकुटिर्विलोकयन् दृशा तदोल्काकपिशोम्रतारया ।

स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदन् वचो ममाक्षिप्य कृतानतेरिति ॥ ५४ ॥

शापवर्णन

तब वह उल्का की भाँति जलती हुई लाल-पीली पुतलियों वाली दृष्टि से अपनी भयंकर भौंहे चढ़ाकर मुझे देखता हुआ, क्रोध के मारे काँपते हुए थोठों से विनम्र बने हुए मुझे बीच में कुछ न बोलने देकर बोला ॥ ५४ ॥

प्रसूनमप्यत्र न जातु वीरुधां हरत्ययं नः पवनस्तपोवने ।

त्वया तु सम्प्रत्यवलाविभूपरो शठात्मनाशाय करः प्रसारितः ॥ ५५ ॥

हे धूर्त ! हमारे इस आश्रम में तो वायु तक लताओं से एक पुष्प लेने का साहस नहीं करता, फिर तूने जो इस समय एक अयला के आभूषण को बरबस छीनने की चेष्टा की है, तो मानो तूने अपने नाश के लिए खुद आगे हाथ बढ़ाया है ॥ ५५ ॥

अकारि कापेयमिदं त्वयेदृशं यदद्य मद्यः कपिरेव तद्भव ।

ततः स मामित्यशपन् कमण्डलोरपः समादाय दवानलोपनः ॥ ५६ ॥

“आज जो तुमने इस प्रकार का बन्दर की भाँति अनुचित कार्य किया है तो तुम शीघ्र ही बन्दर बन जाओ ।” इस तरह उस दावानल के समान मुनि ने कहकर कमण्डलु से पानी लेकर मुझे शाप दे दिया ॥ ५६ ॥

कोपशान्तिः

अथास्य कोपः प्रशशाम मानसे शनः कृपासानुशये प्रसीदति ।

अपां कणस्तिष्ठति वीचिकास्पते न पद्मिनीपत्रपुटोदरे चिरम् ॥ ५७ ॥

फिर दयार्द्र चित्त वाले उस मुनि के प्रसन्न होने पर उनका क्रोध शान्त हो गया । ठीक ही है, जलतरंगों से कम्पित कमलिनी के पत्ते पर भला चिरकाल तक कहीं पानी की बूँद टिक सकती है ? ॥ ५७ ॥

इहानुतापो भगवन् विमुच्यताम् इयं मदीया भवितव्यतेदृशी ।

तदुच्यतां शापनिशामुखोद्गतं कदा ममेदं तिमिरं व्यरंस्यति ॥ ५८ ॥

फिर मैंने प्रार्थना की कि “भगवन् अब इस क्रोध को दूर कीजिए ।

मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा था, जो ऐसा हुआ । अब यह बताइये, मेरी इस शाप-रूपी रात्रि का यह अन्धकार कब मिटेगा, मेरा शाप कब छूटेगा ? ॥ ५८ ॥

मयैवमुक्तं स तदैवमूचिवात् यद्वा पुरो बद्धमुनेरिहागत् ।
करे तवाधास्यति वत्स कंकणं स नार्मदं सीयकराजनं दनं ॥ ५६ ॥
मेरे ऐसा कहने पर उसने यह कहा—हे प्रिय, बद्ध मुनि के यहाँ आकर
उसके सामने जब सीयकराजा का पुत्र सिंधुराज नर्मदा के दिये हुए कंकण
को तुम्हारे हाथ में पहनायेगा, तब तेरा शाप समाप्त होगा ॥ ५६ ॥

तत प्रभृत्येव वलीमुग्गावृते समा सहस्रं वसतो रसातले ।
अनेन मे सम्प्रति पाथिवेन्दुना तयाश्रमे शापतमस्तिरस्कृतम् ॥ ६० ॥
हे महामुने ! तबसे आज तक एक सहस्र वर्ष तक मैं वानरमुग्न धारण
कर रसातल में रहता आया और आज इस राजचंद्र ने आपके आश्रम में मुझे
शाप से मुक्त कर दिया है ॥ ६० ॥

प्रत्युपकारकरुणच्छा

कृतं यदेतेन मुनीन्द्र लीलया प्रतिक्रिया तत्र न कर्तुमस्म्यलम् ।
हिमत्विपः प्रत्युपकारगोचरो मरीचिलीढकशिमा किमशुमान् ॥ ६१ ॥

उपकार करने की इच्छा

हे मुनीन्द्र ! इस राजा ने जो खेल-खेल में यह सब कर डाला है, मैं तो
इस उपकार का बदला चुकाने में अपने को अत्यन्त असमर्थ पा रहा हूँ ।
अपनी प्रखर किरणों से जिधने चंद्रमा की वृक्षता को पी लिया हो, ऐसे सूर्य
का प्रत्युपकार चन्द्रमा क्या कर सकता है ? ॥ ६१ ॥

तथाप्यय देव निजप्रयोजने लज्जीयसि क्यापि नियोज्यता जन ।
अनूस्पूर्वात्तलरत्नदीपकः किमर्थमा नाधित सूतकर्मणि ॥ ६२ ॥
फिर भी हे देव ! किसी छोटे मोटे काम को करने के लिए मुझे भी
नियुक्त कर लीजिए । सारी धरती का रत्नदीपक बना हुआ सूर्य बचारे पशु
अरुण को सूतकार्य के लिए क्या अपने पास नहीं रखता ? ॥ ६२ ॥

तेनैवमुक्तं प्रणयोन्मुखेन नृपस्त्रपानम्रमुखो बभूव ।
अतादृशानां स्तुतेय प्रवृत्त्या मदं यदुदीपयितुं यतते ॥ ६३ ॥
राजा के प्रति प्रेम रखनेवाला उसके ऐसा कहने पर राजा लज्जा से कुछ
जलमुग्ध हो गया । क्योंकि बुरे लोगों को को गयी तारीफ उनके गर्व को
स्वभावतः और बढ़ाने का कार्य करती है, परन्तु भले लोग तो अपनी स्तुति सुन
कर और भी नम्र हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

निजवृत्तकथनम्

एवं सुधारससमृद्धिमनोहरेण श्लाघ्येन तेन शशिखण्डसमागमेन ।
कामप्यवापदुमया घटितम्यलक्ष्मीं स ह्यमापतिर्क्षिति जूट इवाष्टमूर्ते ॥ ६४ ॥

अपनी दशा का वर्णन

इस प्रकार अमृतरस की शोभा के समान मनोहर एवं प्रशंसनीय उरु शशिखण्ड के साथ समागम से वह राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे उमा के संसर्ग से भगवान् शंकर का जटाजूट शोभित होता है ॥ ६४ ॥
तेनाथ सूनृतवचःश्रुतये स पृष्टः पृथ्वीतलागमनहेतुमजानतेव ।

आख्यातवान् स्मितमुधास्नपितोष्ठविम्बस्तस्मै निजव्यतिकरं नरलोकपालः ॥

उस शशिखण्ड ने श्रुतिमधुर शब्दों को सुनने के लिए जब अज्ञानी की भाँति धरातल पर राजा के आगमन का कारण पूछा तो मधुर हंतीरूपी अमृत से ओठों को नहलाते हुए उस राजा ने उसको अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६५ ॥

विद्याधरस्तदनु स प्रहितोऽपि राज्ञा नैव स्वधामगमनाभिमुखो बभूव ।
पूर्वोपकारिणि जनेऽनुपकृत्य किञ्चिन् यान्तो यदुन्नतधियःकिमपि त्रपन्ते ॥६६॥

फिर सिन्धुराज के विदा करने पर भी वह विद्याधरपुत्र शशिखण्ड अपने घर जाने के लिए उरुकु नहीं रहा, क्योंकि अपना उपकार करने वाले के प्रति बिना कुछ प्रत्युपकार किये यों ही चले जाने में उच्च कोटि के लोग कुछ हिचकिचाते हैं ॥ ६६ ॥

देव प्रसीद समितिः क्रियतामिदानीं भृत्यः स्वपादरजसामयमग्रयायी ।
तस्येति वल्गु वचनं वचसा महर्षेः सम्राट् ततः स कथमप्युरीचकार ॥६७॥

शशिखण्ड बोला—“हे राजन्, आप मुझ पर प्रसन्न होइये और कृपया हमेशा आपके आगे-आगे चलनेवाले मुझ दास को अपनी चरण-कमल की धूलि का साथी बना लीजिये” उसके इन यथार्थ वचनों को राजा ने महर्षि वंशु के कहने पर मान लिया ॥ ६७ ॥

आमन्द्रशङ्खपटहस्वनसूचितं प्राक् सैन्यं क्षणात् निजमथ स्मृतमात्रमेव ।
धौतासिपत्रवहुलांशुलतोपगूर्दं पातालसन्तमसमस्य पुरो बभूव ॥६८॥

इसके बाद शशिखण्ड के स्मरण करते ही उसका सारा विशाल विद्याधरों का सैन्य उसके सामने समुपस्थित हुआ । उसमें चमकीली तलवारों की किरणें लताओं के समान शोभायमान थीं और जो पाताल के अन्धकार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ६८ ॥

प्रस्थानम्

तेनोपपादितमथो रथमुत्पताकम् अध्यास्य कार्मुकसनाथकरो नरेन्द्रः ।

वज्राङ्कशम्प्रति स वद्धमुनिप्रयुक्तः प्रस्थानमङ्गलविधिर्मत्सृणं प्रतस्थे ॥ ६९ ॥

सेना सहित प्रस्थान

शशिखण्ड के द्वारों सामने लाये हुए रथ पर जिस पर झण्डा फहरा

रहा था, धनुष को लेकर वह राजा बैठा । और जब विधि विधानपूर्वक वदकु-
मुनि ने प्रस्थान योग्य सुन्दर मङ्गलाष्ट इत्यादि कर दिया, तब वह वज्राङ्कुश
पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा ॥ ६६ ॥

लग्नेनाङ्गे युगपदुदजद्वारदेशाद्दूरे

पश्यन्तीना मुनिमृगदृशा लोचनाश्लूकरेण ।

चदामाजिक्रतुमरमहादीक्षया स क्षितीशो

मेध्यामेणत्वचमिव दधन् सक्षरा लक्ष्यते म्म ॥ ७० ॥

कुटियों के दरवाजे के समीप ही चले जाते हुए उस राजा पर उसकी और
देखती हुई मृग के समान नेत्रवाली मुनिस्त्रियों की दृष्टियों की जो किरणें
पड़ रही थीं, उससे वह ऐसे सुशोभित हो रहा था, मानो भयकर युद्धरूपी यज्ञ
के लिए दीक्षा ग्रहण करने वाले उसने पवित्र हरिण के लाल चर्म को धारण
कर लिया हो ॥ ७० ॥

चलितयतिसमाधिप्रस्तसारगशाधं

निभृतशुभृतोच्चैर्नीडमुड्डीनग्रहिं ।

हरिणमिथुनमुत्तान्यो यकण्डूयन तत्

मुनिवनमभितोऽभून् सैन्यकोलाहलेन ॥ ७१ ॥

तब समस्त मुनिवन में सेना का कोलाहल होने लगा, जिसके कारण
यतियों की समाधि टूट गई, हिरन के बच्चे डर गये, तोते-मैना सक्पका गये,
मोर घोंसलों से उड़कर भागने लगे, हिरणों के जोड़े ने एक-दूसरे को सींग से
खुजलाना बंद कर दिया ॥ ७१ ॥

अथ पथि नवसाहसाङ्क स विद्याधरैर्वन्दित

प्रमुदितमुनिक्रयकामुक्तनीवारलाजाञ्जलि ।

श्रियमधित रमाङ्गदेनान्वितस्तूर्यघोषोमिभि

कुलगिरिकुहरप्रतिध्वानं दीर्घैर्नरुधन् दिश ॥ ७२ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य वृत्ती नवसाहसाङ्कचरिते

महाकाव्ये विद्याधराधिपसमागमो नाम त्रयोदश सर्ग ॥ १३ ॥

रास्ते में विद्याधर उसकी वन्दना कर रहे थे । प्रसन्न हुई मुनिक्रयों उस
सिन्धुराज के ऊपर धान की लाजाञ्जलि बिखेर रही थीं । शोभासम्पन्न, तुरही की
ध्वनि द्वारा पर्वत-गुहाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ और दसों दिशाओं को
व्याप्त करता हुआ वह रमाङ्गद के साथ युद्ध के लिए चल पड़ा ॥ ७२ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित में

विद्याधर से राजा का समागम नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः सर्गः

चौदहवाँ सर्ग

आकाशागरोहणम्

अथाश्रमोपान्तमर्ही विहाय नेमिस्वनोत्कण्ठितनीलकण्ठाम् ।
रथोऽस्य विद्याधरमंत्रशक्त्या रथाङ्गपाणेः पदमारुरोह ॥ १ ॥

आकाश में आरोहण

चक्र की ध्वनि से मयूरो को उरसुक बनानेवाली धरती के समीपवर्ती भागों को त्यागकर विद्याधरों की मंत्रशक्ति के बल पर सिन्धुराज का रथ आकाश में चढ़ गया ॥ १ ॥

स सम्भ्रमोत्तम्भितकर्णतालम् आकर्णितो दिक्करिभिः सकम्पैः ।

आध्मातशाङ्गस्वनमांसलोऽग्रे तस्योद्गान्मद्गततूर्यघोषः ॥ २ ॥

सेना के आगे-आगे मद्गतवाद्यों का घोष और जोर से बजाये हुए शङ्ख के गम्भीर शब्द को भय के साथ कान खड़े किये हुए काँपते हुए दिशाओं के हाथियों (दिग्गजों) ने सुना ॥ २ ॥

उदस्य वक्रत्राणि नभस्थलेन यान्तं तमैक्षन्त तपस्विकन्याः ।

आकर्णविस्तारितमुग्धनेत्राः पत्रान्तरैराश्रमपादपानाम् ॥ ३ ॥

कान तक फैली हुई बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों वाली तपस्विकन्याओं ने आश्रम के पेड़ों के पत्तों के बीच के झरोखों से मुख आगे बढ़ाकर आकाश-मार्ग से जाते हुए उसे देखा ॥ ३ ॥

व्रजन् स विद्याधरवाहिनीनां मध्ये वभौ मध्यमलोकपालः ।

अनल्पसौन्दर्यसुर्धकसूतिः शशीव नक्षत्रपरम्पराणाम् ॥ ४ ॥

विद्याधर की सेनाओं के मध्य में वह धरती का राजा उसी प्रकार सुशो-भित हुआ, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच अत्यन्त सौन्दर्यशाली श्रमृत को एक-मात्र उत्पन्न करनेवाला चन्द्रमा ॥ ४ ॥

कुतूहलोत्त्लासितपद्मलेखान्याकृष्टकर्णोत्पलविभ्रमाणि ।

तस्मिन्नमुच्यन्त नितम्बिनीभिरपाङ्गवल्ग्वीनि विलोचनानि ॥ ५ ॥

कुतूहल के कारण जिनकी पलकें उल्लसित हो गयी थीं, जिन्होंने अपने कर्णभूषण रूप कमलों को हटा लिया था, ऐसी उन नारियों के नेत्रों के मधुर कटाक्ष उस राजा पर पड़ने लगे ॥ ५ ॥

रमाङ्गदकृतवर्णनम्

अथान्तिकस्थेन स चाऽभ्यधायि रमाङ्गदेनेत्यभवन्तिनाथ ।

सहस्रशः से चलितानि पश्यन् विद्याधराणा पुरतो बलानि ॥ ६ ॥

रमाङ्गदकृत वर्णन

सहस्रों की सरया में आकाश में चलती हुई विद्याधरों की सेना को देख कर उस समीपवर्ती रमाङ्गद ने उस अवन्तिनाथ से इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

हैम नृप स्यन्दनमुत्पताकम् आकम्पिरत्नाङ्कितकेतुमेते ।

सहस्ररश्मेरिव बालखिल्याः त्रिधाधरास्ते परिवारयन्ति ॥ ७ ॥

हे राजन् ! लहराते हुए भण्डेवाले एव काँपती हुई रत्न पताकाओं वाले आपके स्वर्णमण्डित रथ को घेरे हुए ये विद्याधर लोग ऐसे लग रहे हैं, मानो घेरा बनाकर सूर्य को प्रणाम करनेवाले बालखिल्य मुनि हों ॥ ७ ॥

व्रजन्नमर्त्यप्रमदाविमुक्तमन्दारमालाजटिलासकूट ।

कुन्दच्छटापाण्डुसटाकलाप कात्यायनीसिंह इवावभासि ॥ ८ ॥

आपकी इस यात्रा में विद्याधर एव देवस्त्रियों द्वारा समर्पित मन्दार- (पारिजात) मालाओं से लदे हुए कन्धों वाले आप ऐसे दिखाई दे रहे हैं, जैसे कुन्द के पुष्पों की कान्तिवाली ञटाओं (आयाल) से युक्त मगवती चण्डी का सिंह हो ॥ ८ ॥

प्रयाणतूर्यध्वनिरेप किं ते पातालकुक्षिप्रतिनादसाद्र ।

रवः प्रसर्पत्युत भैरवोऽयम् अकालकल्पान्तपयोधराणाम् ॥ ९ ॥

जरा मुनिये तो, युद्ध के समय बजने वाली तुरहों का शब्द पाताल तक पहुँच कर दूनी आवाज में सुनाई दे रहा है । क्या यह आपकी सेना का प्रयाणकालीन भैरी का शब्द है या अकाल में ही प्रलयकालीन मेघों की मयकर गर्जना है ? ॥ ९ ॥

मूले भुव कञ्जलधूलिकल्पम् आलक्ष्यते पश्य निलीनमेतत् ।

नीरन्ध्रविद्याधरमौलिरत्नप्रभाङ्करप्रशितमन्धकारम् ॥ १० ॥

धरती के नीचे वाले भाग में काजल की धूलि के समान जो अन्धकार है, वह विद्याधर लोगों के घने मुकुटों की मणियों के प्रकाश से दूर हटाया जा रहा है और वह छिपता हुआ सा मालूम हो रहा है ॥ १० ॥

ध्यायामिमालामणिकातिदण्डैरुत्सारयन्त परितस्तमासि ।

अमी मरुनतितचामरास्ते रघुमुस्लिखन्तीव सुरैस्तुरङ्गा ॥ ११ ॥

लम्बी-चौड़ी मालाओं में लगे मणियों की कान्ति रूपी दण्ड से चारों ओर के अन्धकार को हटाते हुए, हवा से जिनके ऊपर के चँवर नाच रहे हैं,

ऐसे आपके ये घोड़े तो मानो अपने खुरों से आसमान को ही कुरंदना चाहते हैं ॥ ११ ॥

विहस्य विद्याधरवालिकाभिः समं विमुक्ता नयनत्रिभागैः ।

प्रस्थानलाजाञ्जलयस्तवैते रथे पताकास्खलिता पतन्ति ॥ १२ ॥

विद्याधर-वालिकाओं ने हँसकर अपने नयन-कटाक्षों के साथ जो प्रस्थान के लिए शुभ लाजा विखेरे हैं, वे रथ की पताकाओं से टकराकर आपके ऊपर गिर रहे हैं ॥ १२ ॥

नरेन्द्र विद्याधरपुङ्गवानाम् एते पुरः पश्य कृपाणपट्टाः ।

कालाञ्जनश्यामतयाऽऽश्रयन्ते तरङ्गतां व्योममहार्णवस्य ॥ १३ ॥

हे राजन् ! श्रेष्ठ-श्रेष्ठ विद्याधरों के ये कृपाणपट्ट सामने ही शोभायमान हैं, जो काले अञ्जन की भाँति श्याम रंग के रूप में ऐसे दिखाई दे रहे हैं, मानो आकाशरूपी महासमुद्र की लहरें लहरा रही हैं ॥ १३ ॥

वाचालयन्त्यः ककुभां मुखानि नादेन जान्वूनदकिङ्किणीनाम् ।

इमाः विमानावलयः कथञ्चित् अन्योन्यरुद्धप्रसराः प्रयान्ति ॥ १४ ॥

दिशाओं को स्वर्णनिर्मित घण्टिकाओं की ध्वनि से मुखरित करती हुई, एक-दूसरे के मार्ग को रोकती हुई ये विमानों की पंक्तियाँ भागे बढ़ रही हैं ॥ १४ ॥

वातवर्णनम्

आधृतकार्तस्वरकेतुयष्टिरेतान्यशोकस्तवकारुणानि ।

आनतचत्येप पताकिनीनां वातः पताकांशुकपल्लवानि ॥ १५ ॥

वायु का वर्णन

भण्डों में लगे स्वर्णदण्डों को वेंपाती हुई और इन अशोक वृक्षों पर लगे रक्तवर्ण के पुष्पगुच्छों के समान सेनाओं के ध्वजवस्त्रों को नचाती हुई यह हवा चल रही है ॥ १५ ॥

नभश्चराणां व्रजतामसीपाम् अन्योन्यपीनांसविघर्षणेन ।

उल्लासितः कुंकुमपांसुपूरः पिशङ्गयत्येप दिशां मुखानि ॥ १६ ॥

आकाशमार्ग में चलने वाले इन लोगों के एक-दूसरे के पुष्ट कंधों की रगड़ से उठी हुई कुंकुम-धूलि का पुंज दिशाओं के मुखों को भी मानो धूसर बना रही है ॥ १६ ॥

प्रेक्षकस्त्रीवर्णनम्

सरत्नकाञ्चीवलयैर्विलाससिंहासनैर्मन्मथपार्थिवस्य ।

इतो नितम्बैरसितेक्षणानां व्याप्तान्तरं व्योम समाप्तिमेति ॥ १७ ॥

प्रेक्षक स्त्रियो का वर्णन

कृष्ण वर्ण के नेत्रो वाली स्त्रियो की रत्नजटित मेललाओं से मुसाजन, कामदेव रुपी राजा के मिलास की चौकियो जैसे नितम्बों से मरा हुआ सारा नम ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो उसकी लम्बाई-चौड़ाई समाप्त हो गई हो ॥ १७ ॥

अन्योन्यसंघट्टिसूत्रितानि कुमुद्वतीकान्तकरोपमाणि ।

एतानि पर्याम्यरत पतन्ति विमानमुक्ताफलनालकानि ॥ १८ ॥

आपस में टकराने से विमानों के मोती टूट रहे थे, चन्द्रमा की किरणों के समान तेजस्वी ये मोती देखो, आकाश से नीचे गिरे जा रहे हैं ॥ १८ ॥

एता प्रयान्त्य पुरतो विमानैर्विवर्त्यं चाला मत्पपङ्कजानि ।

अपाङ्गविश्रान्तविलोलतारैस्त्वा नाथ नेत्राञ्जलिभि पिबन्ति ॥ १९ ॥

ये विमानों पर जाने वाली तरुणियाँ अपने मुखकमलों को इधर घुमाकर नेत्र के कोनों में चञ्चल पुतलियों को स्थिर कर ध्यात् कटाक्षपात करती हुई एक टक आपके रूप का पान कर रही हैं ॥ १९ ॥

आसामित सत्वरगामिनीना गतागताभ्या मणिकुण्डलानि ।

निन्दन्ति प्रियाधरकामिनीना कपोलकालागरूपत्रकाणि ॥ २० ॥

यहाँ देखिये, जल्दी जल्दी चलनेवाली, इधर उधर आने जानेवाली प्रियाधर-स्त्रियों के मणिकुण्डल उनके गालों पर बने हुए कालागरु की पत्ररचना (बनाकट) को रगड़कर मिटा रहे हैं ॥ २० ॥

इतो मिथ पार्श्वत्रिघट्टितेषु जवाद् विमानेषु समापतत्सु ।

आसामित प्रेक्षितमभ्यरत्नसूत्रिता हारलता स्फुटति ॥ २१ ॥

इधर शीघ्रता से विमानों के आने-जाने के कारण आपस की टक्कर लगने से इन स्त्रियों के झिलते हुए हारों के रत्नजटित मध्यभाग भी टूट रहे हैं ॥ २१ ॥

एते गतिशोभशान् वधूना पश्योन्मयूत्रा मणिकर्णपूरा ।

इतस्तले सञ्चरतामहीना निपत्य चूडामणिषु स्वनन्ति ॥ २२ ॥

इधर देखो, चलने से जो हचका लग रहा था, उसके कारण किरणें चिन्म से निकल रही थीं, ऐसे इन स्त्रियों के मणिजटित कनफूल, तल पर इधर उधर विचरण करनेवाले सर्पों के मस्तकस्थित मणियों के ऊपर गिरकर शब्द कर रहे हैं ॥ २२ ॥

पातालमेतन्नयनोत्सयेन विचिन्त्य शून्यं शशलाञ्छनेन ।

इहाङ्गनाभि म्वमुत्तच्छलेन वृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टि ॥ २३ ॥

नयनों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा से पाताललोक को रहित जान

कर ही मानो यहाँ पर इन स्त्रियों ने अपने मुखचन्द्रों के वहाने से सारे आकाश में चन्द्रमाओं की नई सृष्टि ही कर दी है ॥ २३ ॥

इतो रसं पल्लवयन्ति वीरं विद्याधराणां करवालवल्लयः ।

एताश्च शृङ्गारमितोऽङ्गनानां दृशो नवेन्दीवरदामदीर्घाः ॥ २४ ॥

एक ओर तो वीर विद्याधर लोगों की तलवारें वीररस को पुष्ट कर रही हैं और इधर दूसरी ओर नवकमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्रोंवाली स्त्रियों की दृष्टियाँ शृङ्गार-रस का आधान कर रही हैं ॥ २४ ॥

झटित्यवाप्तप्रतिविम्बमेतत् सैन्यं विलोक्य स्फटिकाङ्गरोपु ।

स विस्मयं नागपुराङ्गनाभिरितो क्रियन्ते नयनोत्पलानि ॥ २५ ॥

शीघ्र ही स्फटिक-निमित्त अंगनों में विमानों की परछाईं और सेना की परछाईं देखकर आश्चर्य के साथ नागपुर (पातालपुर) की स्त्रियाँ अपने कमल नयनों को उठाकर इस ओर देखने लगी हैं ।

विमर्श—अर्थात् नीचे हमारे सैन्य की परछाईं देखकर कौतूहलवश सभी सुन्दरियों के नेत्र इस तरफ उठ गये हैं ॥ २५ ॥

नरेन्द्र तस्माद् गगनावगाहित्वदर्शनव्यग्रतपस्विपङ्क्तैः ।

दूरं हविर्धूमसुगन्धिस्तीम्नः स्थानात् वयं वङ्कमुनेः प्रवृत्ताः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! आकाशमार्ग से जाने वाले आपके दर्शनों के लिये उत्सुक तपस्वियों की पंक्तिवाली, तथा हवन की धूम की सुगन्धि वाली वङ्कमुनि की आश्रम की सीमा से बाहर अब हम भाग चले आये हैं ॥ २६ ॥

वनवर्णनम्

यथाऽयमभ्येति पुरो नभस्वान् आकृष्टनानाविधपुष्पगन्धः ।

अग्रे तथाऽभ्रंलिहभूरुहं नः शङ्के वनं दृक्पथमेप्यतीति ॥ २७ ॥

वन का वर्णन

नाना प्रकार के फूलों की गन्ध को धारण करनेवाली यह हवा जैसे-जैसे हमारे पास आ रही है, और आगे गगनचुम्बी ऊँचे-ऊँचे पेड़ दिखाई पड़ रहे हैं, अतः इससे यही जान पड़ता है कि सामने ही वन आने वाला है ॥ २७ ॥

एभिर्महीपाल विमानरत्नैरग्रेसरैः सम्भ्रममुक्तमार्गः ।

निष्कम्पकेतुर्महताऽस्पदेन रथस्तवायं विद्यति प्रयाति ॥ २८ ॥

इन आगे चलते हुए श्रेष्ठ विमानों द्वारा मानो आप के रथ के लिए डरकर मार्ग खाली कर दिया गया है और तब खाली मार्ग पर जिसका झण्डा भी हिलता हुआ नहीं प्रतीत हो रहा है, ऐसा तुम्हारा यह रथ अतिशीघ्रता से आकाशमार्ग से चल रहा है ॥ २८ ॥

सितप्रसूनस्तम्बैस्तरुणाम् एषा पुरस्तारकिना तरिज्ञा ।

झटित्यशेषैव निमेषमात्रादुन्मीलिता पश्य वनातलेरता ॥ २६ ॥

बृद्धों के श्वेत फूलों के गुच्छों से जिसने आकाश में मानो तारे लगा दिये हैं, ऐसी यह वनभाग की भूमि क्षण कर में ही साफ-साफ दिखाई देने लगी है, जरा आप भी उसे देखें ॥ २६ ॥

यदीश विद्याधरवाहिनीयम् आकाशत किञ्चिद्दध प्रवृत्ता ।

अवैमि चित्ते निहित तदस्या पदं वनालोकनकौतुकेन ॥ ३० ॥

हे स्वामी ! विद्याधर लोगों की यह सेना आकाश से कुछ नीचे की ओर जा रही है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वन देखने की उत्सुकता ने इसके चित्त में अपना घर बना लिया है ।

विमर्श—अर्थात् वनशोभा की नयनमनोहारिता को पास से देखने के लिए ही यह हमारी सेना अब कुछ नीचे से जा रही है ॥ ३० ॥

एषा तमालावलिनीलकान्तेस्पोढरामामुखहेमपद्मा ।

सेना वनस्याभिमुख प्रयाति पश्यान्पराशेरिव जहङ्गन्या ॥ ३१ ॥

सुन्दरी स्त्रियों के विकसित मुखों के समान पीत-कमल जिसमें खिले हुए हैं, ऐसी ज़ाह्वनी गंगा जिस तरह समुद्र की ओर दौड़ती है, उसी तरह हमारी यह सेना तमाल बृद्धों की पक्षि के कारण नील कान्ति वाले इस वन की ओर जा रही है ॥ ३१ ॥

अस्याः क्षमापाल वनान्तराजेविमानपङ्क्तिं पुरतः स्थितेयम् ।

आलम्ब्यते रत्नकिरीटलक्ष्मीं मण्डिप्रभोद्गीर्णमहेन्द्रचापा ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वीपाल ! इस वनपक्षि के ऊपर विराजमान मण्डिप्रभा से स्फुट इन्द्रधनुष की-सी शोभा धारण करनेवाली यह विमानों की पक्षि, रत्न-जटित मुकुटों का शोभा धारण कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् वन के घेर पर स्थित ये विमान, जिनमें रत्नादि जड़े हुए हैं, उसके मुकुट का काम कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

एते रत्नलीनक्षतशोणितक्ताः पश्येद्द्रगोपश्रियमुद्वहन्त ।

तुरङ्गलालालविन्दवस्ते लुठन्ति हेमद्रुमपल्लवेषु ॥ ३३ ॥

लगाम के लीचन के कारण घाव से जिनके मुख रक्तराज्जल हो रहे हैं, ऐसे उन घोड़ों की रक्तमिश्रित लार की बूँदें लालमणियों की भांति स्वर्ण सदृश बृद्धों के पत्तों के ऊपर पड़ रही हैं ॥ ३३ ॥

मन्दानिलादोलितपल्लवाप्रा समस्तपुष्पाहरणोद्यताभ्यः ।

इतो लता पार्यय सरभन्ते लावण्यमादातुमिवाङ्गनाभ्यः ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! ये हवा के हलके भोंकों से हिलते हुए पत्तों वाली लताएँ अपने

पुष्पों को चुनने वाली इन स्त्रियों से उनका सौन्दर्य ग्रहण करने की इच्छा कर रही हैं ।

विमर्श—सुन्दरियाँ सब पुष्पों को चुनती थीं, उसके बदले में लताएँ उनके सौन्दर्य को ग्रहण करना चाहती थीं ॥ ३४ ॥

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लीनभ्रमरोद्राणि ।

विद्याधरी-विभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ ३५ ॥

जिनके ऊपर भौरे बैठे हुए हैं, ऐसे इन वृक्षों के पुष्प ऐसे मालूम होते हैं, मानो विद्याधर-सुन्दरियों के शृंगारी हाव-भावों को देखने के लिए वृक्षों ने अपनी आँखें खोली हों ॥ ३५ ॥

पश्याम्र वातायनमेतदेत्य लताम्रपुष्पाण्यवचिन्वतीनाम् ।

नृपातिभारेण नितम्बिनीनां विमानरत्नानि पुरा नमन्ति ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! आगे के झरोखों में आकर लताओं से फूल चुनने वाली स्त्रियों को तो देखो, जिनके नितम्ब के अत्यधिक भार से (वजन से) विमानों के अग्रभाग के मार्ग भी झुके जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

शाखाग्रलग्नासु महीतरुणां विटङ्करत्नद्युतिशृङ्खलासु ।

विलम्बमानैरिव चुम्बितेयम् इतो विमानैर्मणिपञ्जरश्रीः ॥ ३७ ॥

विमानों के नीचे की चौखटों में लगी ये रत्नजटित जजीरें पेड़की शाखाओं का स्पर्श कर रही हैं और उन पर लटकते हुए ये विमान ऐसे लग रहे हैं, मानो मणिनिर्मित पिंजड़े हों ॥ ३७ ॥

इमाः समं प्राणसमैर्वनेऽस्मिन् सर्वतुल्यदमीभिर्विडोपगृहे ।

नभःस्थिता एव नरेन्द्र पश्य पुष्पोच्चये लोलदृशः प्रवृत्ताः ॥ ३८ ॥

हे नरेन्द्र ! जरा इधर तो देखिये, सब श्रुतुओं में एक सी शोभा धारण करने वाले इस वन में अपने प्राणों की वाजी लगाकर ये कोई चञ्चल नेत्रों वाली नारियाँ आकाश से ही फूल चुनना चाहती हैं ॥ ३८ ॥

एताः करैः काञ्चनपद्मगौरेर्विलासवत्यः सनिवन्धनानि ।

हरन्ति पुष्पाणि महीरुहाणां मृदूनि यूनामिव मानसानि ॥ ३९ ॥

इधर ये विलासिनी स्त्रियाँ पीतकमल के समान गौर वर्ण के हाथों से डण्डल सहित पुष्पों का उसी तरह आहरण कर रही हैं, जैसे युवकों के कोमल प्रेमवद्ध मन को हरती हैं ॥ ३९ ॥

आसां लताम्रस्तवकोत्थितानि शिखण्डरत्नद्व्यातचुम्बितानि ।

पश्योपरिष्टादलिमण्डलानि नीलातपत्रभ्रममारभन्ते ॥ ४० ॥

इन लताओं के अग्रगुच्छों के साथ आगे उठा हुआ नीलरत्न की कान्ति

धारण करने वाला यह भ्रमरों का समूह ऊपर से देखने पर नीले छत्र का भ्रम उत्पन्न कर रहा है

विमर्श—अर्थात् इसे देखकर ऐसे लगता है, जैसे किसी ने नीला छाता लगा रखा हो ॥ ४० ॥

मुञ्चत्यलि पुष्पलतामितोऽयम् आघ्रातरामामुत्पद्मगन्धः ।

गुणप्रकर्षे हि सदा मनासि गुणात्तरङ्गानवता रमन्ते ॥ ४१ ॥

सुन्दर नारियो के मुखकमल की गंध को पाकर यह भ्रमर इस पुष्पलता को त्याग रहा है, ठीक ही है, विभिन्न गुणों के शानी लोगों के मन सदैव उत्कृष्ट गुणों पर रम जाते हैं ॥ ४१ ॥

लतैतया चूततरो सलीलम् आनीयमाना नतिमानवाङ्मया ।

पश्योत्पत्तपुष्पशिलीमुखेयम् आभाति कन्दर्पधनुर्लतेव ॥ ४२ ॥

इधर देखो, यह सुन्दरी इस आम्रवृक्ष की लता को खेल खेल में ही मुका रही है। मुकाने के कारण फूलों पर से उठने हुए भौरो वाली यह लता ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो कामदेव के धनुष की डोरी हो ॥ ४२ ॥

भ्रमद्विरेफावलिलोलदृष्टिर्लीलापतसक्रिययोग्मुखाणि ।

विचेतुमेपा कुमुभानि नाल तरो स्तनालिङ्गनदोहदस्य ॥ ४३ ॥

धूमनेवाले भ्रमरों की पंक्ति के कारण मयभीत दृष्टि वाली यह स्त्री देखो, उसके स्तनों के आलिगन की छाया वाले वृक्ष इसके इन कर्णभूषणों का काम करने के लिए सन्नद्ध फूलों को नहीं तोड़ पा रही है ॥ ४३ ॥

प्रियापित कावनिषीतमुत्तपुराधिग्निवाधरकात्तिचौरः ।

अस्या सरस्वत्विपि कर्णपाशे किमप्यशोकस्तत्रकश्चवास्ति ॥ ४४ ॥

प्रिया के द्वारा समर्पित और प्रिय के द्वारा पीकर छोड़ दिये गये रमणी के त्रिन्व समान ओठों की कान्ति को चुराने वाला (कान्ति वाला) यह अशोक के फूलों का गुच्छ इसके रत्न किरणों से चमकीले कान पर शोभा पा रहा है ॥ ४४ ॥

अभ्या लताक्षेपविसूप्रितम्य हारम्य लग्नस्तनकुङ्कुमस्य ।

मृष्टा क्षिती दाडिमनीजमोहान् आक्षिप्य मुक्ता कषय विपत्ति ॥ ४५ ॥

लता में उलझने से दूटे हुए स्तनों के कुङ्कुम से सने इस सुन्दरी के हार के दूटे हुए और धरती पर बिखरे हुए मोतियों को अनार के दाने समझ कर बदर उठाते और फिर उन्हें दूर फेंक देते हैं ॥ ४५ ॥

निदाचलदभीहसितच्छदेय पर्याप्तकृष्णागरुधूमगन्धे ।

बाधे कचाना नरमल्लिकाऽस्या पश्यालिनीले परिभागमेति ॥ ४६ ॥

ग्रीष्मकालीन शोभा की भाँति श्वेत कान्ति वाली यह नवमल्लिका की माला पर्याप्त कृष्णागर धूप से सुगन्धित इस स्त्री के काले वालों के जूड़े के चारों ओर बँधी है ॥ ४६ ॥

असावितः पार्थिव दन्तपत्रम् अपास्य हंसच्छदपाण्डु वाला ।

करोति कर्णे नवकर्णिकारम् उत्तापिताष्टापदरत्नशोभि ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! हंस के पंख के समान गौर वर्ण वाली यह सुन्दरी कर्णा-भरण को हटाकर तपे हुए सोने में जड़े हुए रत्नों की सी शोभा को धारण करनेवाले इस नये कनेल के फूल को कान पर लगा रही है ॥ ४७ ॥

स्थितोयमन्तर्नवपल्लवानां प्रवालताम्राङ्गुलिराचताच्याः ।

व्यक्ति शरच्चन्द्रकरोडज्वलाभिर्नखांशुरेखाभिरितः प्रयाति ॥ ४८ ॥

इस विशाल नेत्रवाली म्त्री की नये पत्तों के भीतर छिपी हुई, मूँगे के समान लाल रंग की अंगुलि अपने नाखून की किरणों को फैलाती हुई ऐसी जान पड़ रही है, जैसे (नीले आसमान में) शरदकालीन चन्द्रमा की किरणें फैल रही हों ॥ ४८ ॥

धावत्कराकर्णेशिरीपलोभात् इतस्ततः सम्पतति द्विरेफे ।

क्रीडामिव व्याकुलदृष्टिपाता वालेयमभ्यस्यति कन्दुकस्य ॥ ४९ ॥

कान पर लगे हुए शिरीष (हरसिद्धार) के फूल पर मँडराते हुए भोंरे को हटाने के लिए इधर-उधर हाथ नचाती हुई यह व्याकुल दृष्टि वाली नारी ऐसी जान पड़ती है, मानो गेंद खेलने का अभ्यास कर रही हो ॥ ४९ ॥

प्रावृङ्खिलासस्मितमुद्वहन्ती कर्णे नवं केतकवर्हमेपा ।

प्रियावतंसीकृतचन्द्रलेखा चकास्ति कन्येव हिमाचलस्य ॥ ५० ॥

यह एक और स्त्री वर्षों के विलास की भाँति श्वेत हास्य वाली नवीन केवड़े के पत्ते को कान में लगाती हुई ऐसी दिखाई दे रही है, मानो शिव के द्वारा कान पर पहनायी हुई चन्द्रलेखा से विराजमान पार्वती हो ॥ ५० ॥

विलोकितालेख्यकपोलभागात् प्लवङ्गशावेऽधिगते विमानम् ।

इतः कदम्बादनिवृत्तहस्तम् अस्ति भयादालिखितेव तन्वी ॥ ५१ ॥

कपोलभाग के समीप से ही उस पर चित्रकारी देख कर जब वानर का वच्चा भागकर विमान पर कूद आया तो एक रमणी बेचारी, जिसने फूल चुनने के लिए कदम्ब वृक्ष पर हाथ रखा था, उस हाथ को बिना हटाये ही चित्रलिखी सी डरी हुई खड़ी की खड़ी रह गई ॥ ५१ ॥

पुष्पाणि चिन्वत्यतिमुक्तकस्य पश्य श्लथं केशकलापमेपा ।

अंसे विभर्तीव तमालनीलं विलासवालव्यजनं स्मरस्य ॥ ५२ ॥

अतिमुक्तक (वृक्ष) के पुष्पों को चुनते हुए इस स्त्री का खुला

हुआ तमाल के वर्ण का केशमार कधों पर लटकता हुआ ऐसा लग रहा है, मानो कामदेव की विनासलीला के समय हिलाया जाता हुआ उसका चँवर हो ॥ ५२ ॥

विमुञ्चती चक्षुषि पुष्पधूलिम् एषा गते तन्प्रति वल्लभस्य ।

चित्र इदित्यश्रुत्वापकीर्णं दृशौ सपत्न्या क्लुपीकरोति ॥ ५३ ॥

कितनी विचित्र बात है कि पति के पास जाने पर वह स्त्री पराग तो पति की आँखों पर डालती है, परन्तु रोते-रोते उसकी धूल की आँखें दुख जाती हैं ॥

विमर्श—अर्थात् धूल को उसके पतिप्रेम पर ईर्ष्या हा आती है, अतः वह रोने लगती है ॥ ५३ ॥

मध्यच्युते निभ्रति किङ्कुकेऽस्मिन् अस्त्रास्त्राणाम्याकृतमङ्गुशस्य ।

अस्या स्तनाभ्यामधुना धृतैयम् अनङ्गमत्तद्विपकुम्भलक्ष्मी ॥ ५४ ॥

मध्यभाग से तोड़े हुए इस पलाशपुष्प को अपने स्तनों के मध्य में इस नारी ने धारण कर लिया है । उससे यह ऐसी दिग्गर्द दे रही है, मानो उसके दोनों स्तन कामदेव के मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल हों और वह पुष्प उन पर घरा हुआ रक्तवर्ण का अकुश हो ॥ ५४ ॥

अभ्यागताया सहसाऽमुनास्या कन्दर्पसाम्राज्यधुरोद्वहेन ।

मुगन्धिभि पाटलिपादपेन पुष्पैरित कल्पितमातियेयम् ॥ ५५ ॥

कामदेव के राज्य की धुरी धारण करनेवाले इस पाटलिवृक्ष ने (पलता का वृक्ष) मुगन्धित पुष्पों को बिखेर कर अपने घर में आयी हुई इस स्त्री का मानो अतिथि सम्कार किया हो ॥ ५५ ॥

आर्द्रागसेय गमिता प्रसार्दं कृतप्रणामाञ्जलिना प्रियेण ।

प्रभृष्टवाष्पा सुमुखी नखाभ्या चूताङ्कुर मानमिबोच्छिनत्ति ॥ ५६ ॥

अमी अमी यह स्त्री जो क्रुद्ध हो गई थी, पति ने हाथ जोड़कर प्रणाम करके उसे मना लिया है, तो वह मान गई । और अतः आँसू पोंछकर वह सुन्दरी नाखूनों से आँसू के बौदों को तोड़ कर उसी भाँति दूर फेंक रही है, जैसे वह हृदय से मान को निकाल कर फेंक रही हो ॥ ५६ ॥

अध्यासते कामपि कान्तिमासाम् एते सकुंदा कथरीकलापा ।

कुमुद्वतोऽन्तकरानुविद्धास्तम प्रताना इव यामिनीनाम् ॥ ५७ ॥

कुन्द के फूलों से सजी हुई इन नारियों की वणिगों इस प्रकार की एक विचित्र कान्ति (शोभा) को धारण किये हुए हैं, मानो चन्द्रमा की किरणों से युक्त रात्रि के अन्धकार का समूह हो ॥ ५७ ॥

पुष्पाणि नानाविधवर्णभाञ्जि विमानवातायनतो विचित्य ।

युवायमिन्द्रायुधवर्णकान्तम् उत्तंसमस्याः सुदृशः करोति ॥ ५८ ॥

यह युवक विमान के भरोखे से ही नानावर्ण के पुष्पों को चुन-चुन कर उस सुन्दर नेत्र वाली रमणी को ऐसे सजा रहा है, मानो इन्द्रधनुष के सभी रंग उसमें भर रहा हो ॥ ५८ ॥

पश्येयमुद्गाहुलताऽहितश्रीर्मध्येन नश्यन्त्रिवली लतेव ।

विमानतः कोमलमुच्चिनोति वधूर्मधूकं स्वकपोलकान्ति ॥ ५९ ॥

जरा हृधर देखिए ! हाथों को ऊपर उठाने से जिसके उदर पर त्रिवली भी नहीं दिखाई दे रही है, ऐसे कटिभाग वाली यह रमणी विमान पर से ही अपने गालों की सी कान्तिवाले महुओं को चुन रही है ॥ ५९ ॥

अदः सुगन्धीकुरु मत्प्रसूनं मुखाञ्जसौगन्धकर्णार्पणेन ।

इत्यञ्जलासक्तलतो न याञ्चाम् अस्याः करोतीव स कर्णिकारः ॥ ६० ॥

‘जरा अपने मुखकमल की सुगन्धि का एकाध कण मुझे देकर मेरे इस पुष्प को भी सुगन्धित कर दो न’ इस प्रकार उस नारी के आंचल से सटा हुआ वह कनैल का वृक्ष क्या उससे प्रार्थना नहीं कर रहा है ?

विमर्श—सुन्दरियों के मुख की सुगन्धि से कनैल का पुष्प खिलता है, यह कविसमयप्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

तथा न चूते नवमञ्जरीयम् अवाप्तवत्यात्मगुणप्रकर्षम् ।

अस्याः सकालागरूपत्रलेखे यथा कपोले कमलेक्षणायाः ॥ ६१ ॥

आम्र की यह नवीन मंजरी पेड़ पर अपने गुणों के उत्कर्ष को उतना नहीं प्राप्त कर रही थी, जितना इस सुन्दरी कमलनेत्रा के कालागर से चित्रित कपोल पर प्राप्त कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् सुन्दरी ने इस नीर को पेड़ से तोड़कर अपने गालों पर धारण कर लिया है, जिससे वह सार्थक हो गया है । पेड़ पर रहने से जितनी उसकी शोभा थी, अब वह कहीं अधिक है ॥ ६१ ॥

वहत्यशोकोऽयममर्त्यकान्तापादाहताः कान्तमलककाङ्कम् ।

कृत्वा जगत्यस्खलितां निजाङ्गां स्कन्धेऽर्पितं तूणमिव स्मरेण ॥ ६२ ॥

विद्याधर सुन्दरियों के पैर के आघात से सुन्दर यह अशोकवृक्ष अलते का त्रिद्विध धारण कर रहा है । मानो कामदेव ने सारी दुनिया में अपनी अलंघ्य आज्ञा फैलाकर अपने कन्धे पर तूणीर धारण कर लिया हो ।

विमर्श—अर्थात् वह अशोक वृक्ष कामदेव के भाते का काम भली-भाँति कर रहा था ॥ ६२ ॥

चिरेण मन्ये वकुलद्रुमोऽय अवाप्तपार स्पृहणीयताया ।

अर्थां करोऽस्या मुमन सु यस्य जातो जितामर्त्यतरुप्रवाल ॥ ६३ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि मौलसरी के वृक्ष ने तो अतिविलम्ब से ही सही, पर सुन्दरता तथा स्पृहणीयता की परम सीमा गाँठ ली है। क्योंकि यह देववृक्षों के मूँगों के समान लाल कान्तिवाली इस सुन्दरी का हाथ उसके पुष्पों के लिए याचक जो बन गया है ! ॥ ६३ ॥

फल शिरीषेण चिरादवाप्तम् अस्या समम सुकुमारताया ।

निरस्य गीर्वाणतरुप्रसूनम् यदेतदुत्तसितमायताच्या ॥ ६४ ॥

इसकी समस्त सुकुमारता का फल शिरीष ने भी मानो विलम्ब से पा लिया। क्योंकि इस विशाल नेत्रवाली ने देववृक्षों के पुष्प को वालों से निकाल कर इस शिरीषपुष्प को कर्णभिरण जो बनाया है ! ॥ ६४ ॥

अस्या श्रुती चम्पकमादधत्या करेण मुक्तावलयाङ्घ्रितेन ।

एष द्विज स्वस्त्ययन विरावैर्नास्या करोतीति न मञ्जुकण्ठ ॥ ६५ ॥

मौतियों से बड़े कगन से मुशोभित हाथ से अपने कान पर चम्पा का पुष्प पहनाती हुई इस नारी के मगल-मान के लिए यह पक्षी मधुरकण्ठ से मगल-पाठ नहीं कर रहा है, ऐसी बात नहीं है ॥ ६५ ॥

विन्यस्तग्रन्धूकदली मुर्येऽस्या स्वेदार्र्कालागरुप्रत्रयस्ती ।

चकास्ति सन्ध्यावपलेरशङ्खिकलकलेषा शशिलचमणीव ॥ ६६ ॥

मुख पर गुलदुपहरी की पखुड़ी को धारण करने वाली इस रमणी की स्वेद से आर्द्र कालागरु पत्ररचना ऐसी दिखाई दे रही है, मानो सन्ध्या-कालीन लालिमा की आशका पैदा करनेवाला चन्द्रमा का कलक हो ॥ ६६ ॥

एता मियो रुद्धविमानमार्गा लतामजं पुष्पमनाप्नुवन्त्य ।

भवति भारानमिताङ्गकेषु वद्वाभ्यसुया स्तनमण्डलेषु ॥ ६७ ॥

विमानों के मार्गों के रुक जाने से लताओं के अग्रभाग में लगे पुष्पों को प्राप्त न कर सकने वाली ये रमणियाँ शरीर भार से अधिक मुँके अपने ही स्तनों से ईर्ष्या कर रही हैं ।

विमर्श—अर्थात् सोच रही हैं कि बीच में ये स्तन भी टकावट न डालते तो शायद हम इन पुष्पों को प्राप्त कर लेतां ॥ ६७ ॥

एतानि कातै प्रमदाजनस्य नवप्रयालायवर्तसितानि ।

पश्यति पश्य स्वमिवाप्तकाति कपोलपालीमणिदर्पणेपु ॥ ६८ ॥

हे राजन्, देखो ! स्त्रियों के कानों में उनके प्रियतमों द्वारा सजाये हुए नये कोमल लाल पत्ते उन नारियों के कपोलों की किनारों पर लगे मणियों के दर्पणों में मानो अपनी ही जैसी कात्ति को देख रहे हैं ॥ ६८ ॥

यद्यद्वनेऽभूत् कुसुमं सुगन्धि वधूजनैस्तत्तदितो गृहीतम् ।
कृत्स्नत्रिलोकीविजयावतंसं निर्मातुमिप्त्वासमिव स्मरस्य ॥ ६६ ॥

इस वन में जो-जो पुष्प सुगन्धित थे, उन्हें इन विद्याधर-रमणियों ने ग्रहण कर लिया है, मानो तीनों लोकों की विजय करने के लिए आभूषणभूत कामदेव का धनुष बनाने के लिए उसे उन्होंने ग्रहण कर लिया हो ॥ ६६ ॥

कर्णावितंसीकृतपल्लवानां विचित्रपुष्पाभरणोज्ज्वलेषु ।
पश्यामितः पल्लवितंयमासाम् अङ्गेषु सारङ्गदृशामृतश्रीः ॥ ७० ॥
विचित्र पुष्पों के भलंकारों से श्वेत बने हुए कानों में जिन्होंने नवीन पक्षव धारण कर लिये हैं, ऐसी नारियों के अङ्गों पर यह ऋतुशोभा देखो, कैसे छाई हुई है ! ॥ ७० ॥

स्वेदोद्विन्दुच्छलतः कपोले वितीर्णमुक्तार्ध इव स्मरस्य ।
एणीदृशां कान्त इव प्रवृत्तः श्रमोऽयमालिङ्गितुमङ्गलेखाम् ॥ ७१ ॥
उन हरिणी के से नेत्रों वाली नारियों के कपोलों पर निकली हुई पसीने की बूँदें ऐसी श्वात होती हैं, मानो काम की पूजा के निमित्त मोतियों का अर्घ्य चढ़ाया गया हो और मानो परिश्रम उन जल-विन्दुओं के बहाने प्रियों की भाँति उनके शरीरों का आलिङ्गन करने के लिए उद्यत हो गया हो ॥ ७१ ॥

आसां पृथुस्वेदकणाङ्कितानि वक्त्राणि नेत्रोत्सवमर्पयन्ति ।
प्रत्युप्तमुक्ताफलदन्तुराणि हिरण्मयानीव सरोरुहाणि ॥ ७२ ॥
इनकी बड़ी-बड़ी पसीने की बूँदों से अंकित मुख देखते हुए नयनों को आनन्द दे रहे हैं । वे ऐसे मालूम पड़ रहे हैं, मानो मोतियों की किरण-कान्ति से युक्त स्वर्णकमल हों ॥ ७२ ॥

एतानि पश्य च्युतपुष्पधूलिव्यालुप्तपद्मावलिसौष्टवानि ।
श्रमेण किञ्चिन्मुकुलीभवन्ति सीमन्तिनीनां नयनोत्पलानि ॥ ७३ ॥
इधर देखिये, पुष्पों के गिरे हुए पराग से ढँकी हुई सुन्दर पलकों के कारण अधिक सुन्दर कमल की जैसी इन सुन्दरियों की आँखें बड़े परिश्रम के कारण जरा-जरा वन्द हो रही हैं ॥ ७३ ॥

एतासु सीदन्मणिवन्धमूलनिलीनलीलामणिकङ्कणासु ।
विलोक्यतां व्यक्तिमुपैति खेदो विद्याधरस्त्रीजनदोर्लतासु ॥ ७४ ॥
कांपती हुई हथेलियों के मूल भाग पर सुन्दर-सुन्दर मणियों से जटित चूड़ियों वाले इन रमणियों की भुजाओं में देखो, परिश्रम अर्थात् थकावट एक-दम साफ नजर आ रही है ॥ ७४ ॥

अनङ्गकल्पद्रुममञ्जरीणाम् अमोघमस्त्रं कुसुमायुधस्य ।
भृशं यथा पुष्पमयी विभूषा नाऽस्यां तथा रत्नमयी विभाति ॥ ७५ ॥

अभोग काम के बाण जैसी, कामकल्पवृक्ष की मञ्जरियों की बनी फूलों की
वेश भूषा इतनी सुन्दर लग रही है कि उसके आगे रत्नों की सजावट भी फीकी
पड़ गई है ॥ ७५ ॥

वनान्तमेता वनिता न मोक्षुम् अनेकपुष्पं नृप शक्नुवन्ति ।

विमुच्यते केन स नाम देशो यत्रास्ति सान्द्र सुमन प्रचार ॥ ७६ ॥

दे नृप ! नाना प्रकार के पुष्पों वाले इस वन को तो ये स्त्रियाँ छोड़ना
ही नहीं चाहती हैं, मला उस देश को (स्थान को) कौन छोड़ना चाहेगा,
जहाँ इस प्रकार अत्यधिक फूलों का विस्तार हो ।

विमर्श—अथवा सुन्दर हृदयवाले लोगों के स्थान को कोई छोड़ना
चाहेगा ॥ ७६ ॥

इत्युज्ज्वले तस्य वच प्रसूने नीतेऽपि कर्णातिथिता विहस्य ।

नृपो नभूयास्तमना मचित्र स्मृताहिराजेन्द्रमुताविलास ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रमागद के सुन्दर वचन रूपी पुष्पों से अपने कानों की सजाकर
भी अर्थात् हँसते हुए उस वचनों को सुन कर भी नागराजकन्या शशिप्रभा के
शृङ्गार का स्मरण करने वाला वह राजा अनमना सा (उदास) होकर चित्रवत्
रहा ॥ ७७ ॥

पुष्पप्रवालाङ्कुरमण्डल तन् क्वणद्विमानावलि हेमघण्टम् ।

वर्नं त्रिहायाथ सममममे चचाल विद्याधरराजसैन्यम् ॥ ७८ ॥

तब फूल पत्तों से भरे हुए तथा जिसमें स्वर्णघण्टियों वाले विमानों का
शब्द हो रहा था, ऐसे उस समस्त वा को छोड़कर विद्याधरराज की सेना
आगे चल पड़ी ॥ ७८ ॥

गगावर्णनम्

अथ प्रवालाधरविम्बचुम्बिपरिस्फुरत्फेनविलासदासा ।

वाचालहसावलिकास्त्रिदामसनाथतीरोरुनितमर्गधम्बा ॥ ७९ ॥

गगा का वर्णन

इसके बाद तटवर्ती प्रवालरूपी अधरोष्ठ का चुम्बन करने वाले तथा उल्लसते
हुए फन के रूप में जिसकी हँसी शोभायमान थी, ऐसी एवं शब्द करनेवाली
हसों की पंक्ति की करधनी पहनी हुई और तट पर स्थित बड़े-बड़े पेड़ रूपी
नितम्ब वाली गगा नदी को राजा ने देखा ॥ ७९ ॥

समीखेल्लत्ततहेमवल्लिलोलप्रभाभिञ्जरितोमिलखा ।

विलासमञ्जस्फणिराजकन्यासङ्क्रान्तकान्तमन्तनकुङ्कुमेव ॥ ८० ॥

हवा के झोंकों से टककर खाकर स्वर्णतारों की जैसी चंचल कान्ति से युक्त
लहरोंवाली और विलासयुक्त नागराजकन्या के स्नान करने के कारण मानो उस
नदी में उसके स्तनों पर लगा हुआ कुछ कुछ छूटकर फैल गया था ॥ ८० ॥

निमग्नदिङ्नागकपोलभित्तिसन्ताननिर्यन्मदवेणिकृष्णा ।

तृतीयनेत्रानलधूमवल्लिकलङ्कितेव त्रिपुरान्तकस्य ॥ ८१ ॥

जिसमें दिशाओं के हाथियों की कनपट्टियाँ हूयी हैं और उनसे निकलती हुई मद की धारा लपी काली बेणी धारण करनेवाली, एवं शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से निकली हुई धूमराशि से कलंकित थी ॥ ८१ ॥

भारानमद्भोगिफणास्थितायाः स्थलोच्छलद्वीचिचयच्छलेन ।

वत्तन्भयन्तीव तले सतर्कम् अर्कोत्पलस्तम्भशतानि भूमेः ॥ ८२ ॥

भार से भुकी नागों की फणाओं पर स्थित धरती के सूर्यकान्त मणि जैसे सैकड़ों खम्भों को बड़ी सतर्कता के साथ मानो वह नदी अपनी उच्छलती हुई लहरों के रूप में धारण किये हुए है ।

विमर्श—पृथ्वी शेषनाग की फणाओं पर स्थित है । शेषनाग पाताल में है और पृथ्वी उससे बहुत ऊपर ! अतः बीच में आघार के लिए कुछ होना चाहिए । तो गंगा नदी अपनी तरंगों के रूप में मानो बड़े-बड़े सूर्यकान्त की शिलाओं के खंभे पाताल तक ले जाकर गाड़ रही हो, उनका सम्बन्ध शेषनाग की फणाओं से कर देती हो ॥ ८२ ॥

तटोद्गतप्रांशुतमालराजिच्छाया घनश्यामलितार्धभागा ।

मूर्तिस्तुपाराचलतुल्यकान्तिरुमापतिश्रीधरयोरिवैका ॥ ८३ ॥

तट पर लगी तमाल-वृक्षों की पंक्ति की घनी छाया से एक भाग जिसका कृष्ण वर्ण का दिखाई दे रहा है, और स्वच्छ बालू या जल का दूसरा भाग जिसका हिमालय की भांति श्वेत दिखाई दे रहा है—वह नदी ऐसी लग रही है, मानो उसने शिव और विष्णु की मूर्ति को एक साथ धारण कर रखा हो ॥ ८३ ॥

कादम्बचञ्चूधृतचन्द्रवाकीपारिप्लवव्यक्तमृणालकाण्डा ।

चण्डीधवोन्नद्धजटाविट्क्लृष्टेन्दुलेखाङ्कुरदन्तुरेव ॥ ८४ ॥

हंसों ने जहाँ-तहाँ चक्रवियों को अपनी चोंच में पकड़ लिया है, चंचलता के कारण जिसमें कमल के डबटल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, ऐसी वह नदी भगवान चण्डी-पति शंकर के जटाजूट पर फँसी हुई चन्द्रलेखा के कारण दन्तुर मालुम पड़ रही थी ॥ ८४ ॥

तरङ्गमङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुदण्डहेमाम्बुरुद्धातपत्रा ।

पुण्या पुरो दूरत एव तेन त्रिमार्गजाऽदृश्यत पार्थिवेन ॥ ८५ ॥

जिसकी उच्छलती हुई तरंगें उज्ज्वल चवरो की भांति दिखाई दे रही हैं

और ऊँचे स्वर्णकमल जिस पर छाते का काम कर रहे हैं, अत्यंत पवित्र
ऐसी उस गंगा को राजा ने दूर से ही देखा ॥ ८५ ॥

तस्यास्तटेऽथ कुसुमावचयश्रमार्त-
सीमन्तिनीनिवहसस्मितवीक्षिताया ।
विद्याधरेण विदधे धवलोमिधौत-
पर्यन्तहेमसिकते पृतनानिवेश ॥ ८६ ॥

तब विद्याधरराज ने फूल चुनने से थके हुए स्त्रियों के समूह के द्वारा
कौतूहलपूर्वक देखी जाती हुई उस गंगा नदी के श्वेत लहरों से धुने हुए सुनहले
बालू वाले तट पर सेना समूह को ठहरा दिया अर्थात् वहाँ पड़ाव डाला ॥६॥

तदनु पुलिने सद्यो विद्याधरै परिकल्पितम्
नृपतिरिशिल्लीलागारं स साहसलाब्ध्वन ।
भ्रममजनयन्नेत्रोत्कीर्णा इति प्रतिविम्बिता
सितमणिमये यस्मिन्नन्तर्बहिश्च मृगीदृश ॥ ८७ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नव
साहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये पातालालोक्ननामा
चतुर्दश सर्ग ॥ १४ ॥

उसके बाद उस गंगा के किनारे शीघ्र ही विद्याधरों द्वारा बनाये गये
लीलामवन में साहसाङ्क सिंधुराज ने प्रवेश किया । वह लीलामवन ऐसा था,
जिसके बाहर और भीतर, श्वेतमणियों पर बनी हुई हरिण नयनाश्रों के चित्र
और उनके नेत्रों के प्रतिविम्ब यथार्थ में भ्रम उत्पन्न कर रहे थे ॥ ८७ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तकृत नवसाहस्राङ्क
चरित महाकाव्य में पातालदरशन नामक चौदहवाँ
सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः सर्गः

पन्द्रहवाँ सर्ग

जलक्रीडावर्णनम्

अथ सान्द्रधर्मजलविन्दु-क्षुलिततिलकः प्रचक्रमे ।
हेमकमलमुभगे सरितः सलिले निमङ्क्तुमसितेक्षणाजनः ॥ १ ॥

जलक्रीडा का वर्णन

इसके पश्चात् कृष्ण वर्ण के नेत्रों वाली, बड़ी धूप से पसीना आ जाने के कारण जिन तिलक माधे पर बड़े चले आ रहे थे, ऐसी स्त्रियों के उक्त समूह ने कमल की सुगन्ध से सुवासित गंगा के जल में स्नान करने की तैयारी की ॥१॥

श्रममेत्य मञ्चत मदन्वु रभसपरिरम्भलीलया ।

एवमत्रददिव दीर्घदृशः कलहंसयूथनिनदेन जाह्नवी ॥ २ ॥

“आनन्दपूर्वक जल में वेगपूर्वक आलिङ्गनादि क्रीडा करके मेरे जल से अपनी थकान दूर करो” इस प्रकार की बात कलहंसों की कलकल-ध्वनि के रूप में जाह्नवी ने मानो उन दीर्घ नेत्रवाली स्त्रियों से कही ॥ २ ॥

मरुतावधूतकलयोतकमलमकरन्दगन्धिना ।

ऊर्मिदलनशिशिरेण बलात् अबलाजनस्य ननुदे परिश्रमः ॥ ३ ॥

हवा के द्वारा कँपाये गये स्वर्ण-सदृश कमलपराग की सुगन्ध से सुगन्धित, लहरों में समाये हुए गंगा के शीतल जल ने उन नारियों की थकान को दूर किया ॥ ३ ॥

परिविद्धरेखमधितीरविरचितपदे वधूजने ।

कान्तिमुदवहदमर्त्यसरिन् तटरूढकाञ्चनलतेव काञ्चन ॥ ४ ॥

समस्त नारियों के गमन से तट पर जो सुन्दर पदपाँक्ति बन गई थी, उससे वह जाह्नवी तट पर उगी स्वर्णलता की जैसी एक विचित्र कान्ति से युक्त हो गई ॥ ४ ॥

सितचक्षुषामसितरत्नरुचिमुपि मृणालिनीदले ।

स्थूलजललवनिभेन दधे नवमौक्तिकार्थ इव जह्नुकन्यया ॥ ५ ॥

श्वेत नेत्र वाली स्त्रियों की नील पुतलियों की शोभा को चुराने वाले मृणालिनी के पत्ते पर जह्नु कन्या नदी ने बड़े-बड़े षलकणों के बहाने नवीन मोतियों के भर्ष को धारण किया ॥ ५ ॥

- उदितत्रया इव विलासमसृणुमसमेन सुभ्रुवाम् ।
जगमुरमरसरित पुलिन सहसा विहाय कलहंसपङ्क्तय ॥ ६ ॥
उन सुन्दर भोंहों वाली नारियों की विलास भरी मस्त चाल को देखकर,
(अपनी चाल से उनकी चाल को सुन्दर समझ कर) कुछ लबाकर कलहंसों
की पंक्ति जाह्नवी का तीर छोड़कर चली गई ॥ ६ ॥

धवलाभ्रकच्छुरितभित्ति लिखितललिताङ्गनालिपिम् ।

अप्यु कुवलयदृशा प्रतिमा सित रत्नदर्पणनिभामु लेभिरे ॥ ७ ॥

कमल के समान नेत्र वाली रमणियों के शरीर का प्रतिबिम्ब (परछाईं)
श्वेतरत्न दर्पण के समान जाह्नवी के जल में पड़कर ऐसा दिखाई देता था,
मानो श्वेत चूने से पुती हुई दीवारों पर उन सुन्दर स्त्रियों के चित्र बना दिये
गये हों ॥ ७ ॥

अथ घल्लभापितकरामनिहितनिजपाणिपल्लवा ।

वारिप्रिकचकनकाठरन कपिशोभिंमालमबला जगद्विरे ॥ ८ ॥

अपने प्रिय के आगे उढावे हुए हाथ को अपने हाथ से पकड़ती हुई उन
सुन्दरियों ने पानी में खिले स्पर्श कमलों के पराग से युक्त पीत-वर्ण की जल की
लहरें धारण की ॥ ८ ॥

मुदृशा निमज्ज्य सुरसिन्धुपयसि नियमस्थितैरिव ।

ऊमितरलितमयूरशिखैर्मैखिनूपुरै सपदि मानमाददे ६ ॥

जैसे नियम धारण करने वाले योगी स्नान करके पुन मीन धारण कर
लेते हैं, उसी प्रकार जाह्नवी-जन में स्नान करके, लहरों पर प्रतिबिम्बित होने
वाली प्रभा से युक्त नारियों के मणिपुरो ने भी मीन धारण कर लिया ॥ ९ ॥

कुचलुप्तपत्रलतयाथ विगलितविसूत्रहारया ।

प्रापि रतिरमणविलासतुला ललितभ्रुवा जलविहारलीलया ॥ १० ॥

कुचों पर मिटी हुई रचनावाली, अंगों पर इधर उधर लटकने वाले हारों
वाली उन सुन्दर नारियों की जल क्रीडा ने रति की रमण क्रीडा की तुलना
प्राप्त की ॥ १० ॥

नयकुङ्कुमारुणपुरन्धिभ्रुकुचकलशताहितं पय ।

रागममञ्जत न कस्य भवेत् सुलभाङ्गरेलदवलस्य विक्रिया ॥ ११ ॥

नये कुङ्कुम से लाल नारियों के स्तन रूपी कलशों से टकराता हुआ जल
रक्त वर्ण का हो गया । उन के सुन्दर अङ्गों के साथ खेलते हुए उस जल को
देखकर किस दुर्बल हृदय वाले के मन में विकार पैदा न होगा ! ॥ ११ ॥

विकिरन् विहस्य मणिशृङ्गधृतमुदकमेत्य पृष्ठत ।

साचिमुकुलितदृशा दृष्टो दयिता मुहुर्वलितकण्ठमेकया ॥ १२ ॥

कहीं पर पीछे से जाकर मणिशृङ्ग पर धरे हुए पानी को अपनी प्रिया पर फेकते हुए किसी प्रिय को कोई नायिका मुख मोड़ कर अधमिन्नी आँखों से देख रही है ॥ १२ ॥

परिणाहवत्कुचनिपिद्धकरणवलनोत्कदोर्लतम् ।

लोलमुखरमणिकङ्कणया विदधे जले मुरजवाद्यमन्यया ॥ १३ ॥

अपने सुडौल गोलाकार स्तनों को ढँकने के लिए उनके ऊपर रखी हुई भुजाओं को कुछ ऊपर उटाकर जब एक रमणी ने फिर अंगमर्दन के लिए कुचों को दबाया, तब उसके हाथों से मृदङ्ग की सी ध्वनि हुई ॥ १३ ॥

हरिणीदृशो हृतपुरन्ध्रकुचकलशकुङ्कमाङ्किता ।

क्षिप्रमधिजघनमूर्मिलता शिथिलेव हेमरशना विद्विद्युते ॥ १४ ॥

स्नान करने में जिसका चित्त आकृष्ट हो गया था, ऐसी उस सुन्दरी की कुच-कलश के कुंकुम से युक्त ढीली करधनी जब उस नारी की जंघा पर से नीचे खिसकने लगी, उस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानो बिजली चमक रही हो ॥ १४ ॥

सलिलं किरन्तमवलोक्य रमणमपराङ्गनामुखे ।

चित्रमविरलधृताश्रुलवे निमिमील काचिदवला विलोचने ॥ १५ ॥

अपने पति को किसी दूसरी स्त्री के मुख पर पानी फेकते हुए देखकर लगातार आँसू बहाने वाली वह स्त्री अपनी आँखों को देखो, चन्द कर रही है ॥ १५ ॥

द्रुतमत्रटत् विवुधसिन्धुनिविडलहरीकराहतम् ।

हारवलयमरविन्ददृशां कुशलं कुतोऽस्ति गुणिनां जटान्तरे ॥ १६ ॥

किन्हीं कमलनयनी रमणियों के हार-वलय को जाह्नवी की घनी लहरों ने मानो अपने हाथों से तोड़ दिया, ठीक ही है, जड़ों (मूखों) के बीच रहकर गुणियों की कुशल कहाँ ! अथवा जटान्तरे = अर्थात् पानी में रहकर गुण-वाले अर्थात् तागे वाले हारों की कुशल कहाँ ॥ १६ ॥

शुशुभे कयापि करयन्त्रनिहितशुचिवारिधारया ।

मुक्तसितकुसुमसायकया मकराङ्गचापलतयेव वालया ॥ १७ ॥

कामभावना से युक्त कोई रमणी हाथ की अञ्जलि में स्वच्छ पानी लेकर उसे धार के रूप में बहाती हुई मानां श्वेतपुष्प रूसी धारों को छोड़नेवाली कामदेव के धनुष की मोर्ची हों ॥ १७ ॥

परिवेपविभ्रमनिवेशिमनसिजतुपारदीधितेः ।

कोऽपि करकिसलये कमिता विदधे मृणालवलयं मृगीदृशः ॥ १८ ॥

अपनी धेश-भूषा को शृङ्गारी रूप में सजाने वाली किन्हीं नारियाँ ने जब

अपने हाथ रूपी किसलयों में कमलनाल के कगन पढ़ने तो उन्होंने कामदेव रूपी चन्द्र के समान शोभा धारण की ॥ १८ ॥

हृदयशमुक्तजलधौतमलयजविलेपनैह्निया ।

लक्ष्यनवनरूपदायपरा नलिनीदलेन पिदधे पयोधरौ ॥ १९ ॥

अपने प्रियों के द्वारा फेंके गये जल से चन्दन लेप के धुल जाने से कुन्चों पर नागूनों के नये चिह्न स्पष्ट दिग्वाई पड़ने लगे, अतः लजाते हुए उस स्त्री ने कमलिनी के पत्तों से अपने कुन्चों को ढँक लिया ॥ १९ ॥

अभितोङ्गनामुखमृगाङ्गमुडुनिकरकान्तिमाददे ।

केलितरलवरुणीनिबिडम्बतताडिते पयसि बुद्बुदोत्कर ॥ २० ॥

श्रीभारत उन तरुणियों के घने कुन्चों के आघात से पानी में जो बुलबुले उठे, वे ऐसे प्रतीत हो गये थे, मानो उन रमणियों के मुखचन्द्र के चारों ओर उदित होने वाले तारों का समूह अपनी कान्ति पैला रहा हो ॥ २० ॥

त्रिदधे वधूनिजकराभ्रगलितमणिकङ्कणाङ्किते ।

मेघशकल इव सेन्द्रधनुर्बलयोदर नयनमन्दिनीदले ॥ २१ ॥

उन रमणियों के हाथ से छूटे हुए मणि वक्रण जिन कमलिनीयों के पत्तों पर पड़े थे, उन्हें त्रै देखा रही थी, उस समय वे ऐसी दिग्वाई दे रहीं थीं, मानो इन्द्रधनुष का घेरा जिसमें है, ऐसे मेघ के टुकड़े की ओर देख रही हों ॥ २१ ॥

असिताब्जनाङ्कमभिजातकुत्रलयदशा दृशीन्तरात् ।

नीरमहत नहि शुद्धिमता तटवृत्तिराश्रितकलङ्कमार्जने ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ कमलों के समान नेत्रों वाली उन नारियों की आँखों के काले अञ्जन को पानी ने धोकर समाप्त कर दिया । क्योंकि आभितों में विद्यमान सभी कलङ्कों को धो देने में शुद्धि करनेवालों की उदासीनता नहीं होती ।

चिमरी—अर्थात् शुद्धि करने वाले अपने आभितों की सभी अशुद्धताओं को धो देते हैं । इसलिए पानी ने अपनी आभित उन स्त्रियों की आँखों में क्राजल को भी साफ कर दिया ॥ २२ ॥

तरलोमिलङ्कितनितम्बफनकलुनिताञ्छवासस ।

फेनपटलममिताञ्जदशा क्षणमेकमशुकुरिलासमाददे ॥ २३ ॥

चञ्चल लहरों ने जिनके नितम्ब भागों पर से स्वच्छ वस्त्रों को हटा दिया था ऐसी उन नील नेत्रवाली स्त्रियों के नितम्ब भाग पर लगे हुए फेन ने ही थोड़ी देर के लिए वस्त्र का काम पूरा कर दिया ॥ २३ ॥

मुदश स्फुट नवनदाङ्कमुरमि जलधौतकुङ्कमे ।

कान्तनिहितनयनं विदधे पृथुहारतारतलाशुपल्लव ॥ २४ ॥

जल से कुंकुम धुल जाने के कारण जिस स्त्री की छाती पर नवीन नखों के चिह्नों को स्पष्ट रूप से उसका पति जब देख रहा था, तब हृदय पर पड़े चंचल लड़ियों वाले हार ने मानो अपनी चमक से उन चिह्नों को शीघ्र ही छिपा दिया ॥ २४ ॥

लुलिताञ्जनस्य नयनस्य सहभुवमिवेचितुं श्रियम् ।

लग्नजलसरलितैरत्नकैर्लुलुटे ललाटतटसीम्नि सुभ्रुवः ॥ २५ ॥

उन सुन्दर भौंहों वाली नारियों के चञ्चल एवं सुन्दर अञ्जन रहित आँखों की एक साथ ही उत्पन्न होने वाली शोभा को देखने के लिए मानो उनकी जलार्द्र अतएव सीधी अलकें (जुल्फें) माथे की सीमा पर लोटने-सी लगीं ॥२५॥

दधतीव कापि रुचिमाप मनसिजविलासवल्लकीम् ।

अंसविनिहितमृणाललतातलवर्त्यलावुपरिवर्तुलस्तनी ॥ २६ ॥

कंधे पर कोमल कमलनाल की लता को धारण करने वाली और तल में चौड़े गोल तथा अग्रभाग से नुकीले तुम्बी जैसे गोल स्तनों को धारण करनेवाली कोई स्त्री ऐसी सुन्दर दिखाई दे रही थी, मानो वह कामदेव की वीणा बनी हो ॥ २६ ॥

सलिलाहतिवृटितहारपरिगलितमौक्तिकभ्रमात् ।

मुग्धयुवतिरपरा निदधे दृशमच्चिनीदलपुटोदधिन्दुपु ॥ २७ ॥

पानी के थपेड़ों से टूटे हुए हार के मोतियों के धोखे में एक भोली-भाली युवती, कमलिनी के पत्तों पर पड़ी पानी की बूंदों को ही मोती समझ कर उन पर आँखें गड़ाये हुए है ॥ २७ ॥

धवलोदरैर्भयवशेन तरलवलितैर्विलोचनैः ।

नीलनलिनदलदामदृशां शफरैः समं मुचिरमप्सु वभ्रमे ॥ २८ ॥

भय के कारण चञ्चल और फड़फड़ाते नेत्रों वाली तथा सफेद उदरवाली मछलियों के साथ कुछ नील कमल के पत्तों की सी आकृति के नेत्रोंवाली स्त्रियाँ चिरकाल तक जल में घूमती रही ।

विमर्श—अर्थात् जल में मछलियाँ भी दूधर-उधर घूम रही थीं, और वे रमणियाँ भी जलक्रीडा कर रही थीं ॥ २८ ॥

गलिताङ्गदा गुस्तरङ्गदलितमणिकर्णपूरकाः ।

स्त्रस्तकनकवल्याः मुदृशः श्लथवन्धरत्नरशनाश्चकाशिरे ॥ २९ ॥

गिरे हुए बाजूबन्दों वाली एवं भयंकर तरंगाघात से टूटे हुए कनफूलों

बाली तथा दौले अतएव निकलने वाले ककणो वाली उन सुन्दर नेत्रवाली नारियों की दौली ढाली रत्नवदित करधनियों की पानी में चमकने लगीं ॥२६॥

अतिकम्पमूर्मिकुटिलभ्रुवदहनवकुङ्कुमारुणम् ।

स्त्रैणकरतलनिरस्तमभृत् उपजातकोपमिष जाह्नवीचलम् ॥ ३० ॥

अधिक कँपाइ गई लहर रूपी कुटिल (देवी) भौहों से युक्त, नवीन कुंकुम से रक्तवर्ण का जाह्नवी का जल उस स्त्री-मूह के हाथों से छूट कर मानो क्रोध में भरा हुआ सा दिखाई देने लगा ॥ ३० ॥

अकरोन् पद्मं पृथुनितम्प्रविलुलितजलार्द्रवेणुषु ।

नीरलत्रशरजलगण्डतलास्वचलामु कुण्डलितकामुक् स्मर ॥ ३१ ॥

जिनके बड़े बड़े नितम्बों पर जल से भीगी हुई वेणिया लटक रही थीं, ऐसी तथा पानी की बूंदों से सने हुए बालों वाली स्त्रियों पर अपने घनुष को तान कर काम नें अपना प्रभाव जमा दिया ॥ ३१ ॥

पृथुतरत्नभूषणमरीचि-रचितमुरचापमण्डलम् ।

केशदुग्धुमशवलं शुशुभे मुनशामनङ्गमददीपनं पय ॥ ३२ ॥

जल में गिरे हुए रत्नाभरण की किरणों से बनाये गये इन्द्रघनुषी धरे वाला, बालों पर लगे फूलों के गिरने से चितकबरे रंग वाला जाह्नवी का जल उन स्त्रियों के काममद को उदीपित करने लगा ॥ ३२ ॥

अथ 'ताभिरेकतपनीयसरसिजसनाथपाणिमि' ।

श्रीभिरिव समुदतारि तत पुनश्क्तचाटुपटुभि प्रियै सह ॥ ३३ ॥

तब एकमात्र स्वर्ण कमल को हाथ पर धारण किये हुए बातचीत करने और खुशामद करने में बड़े चतुर अपने प्रियों के साथ वे स्त्रियाँ आकर मिल गईं ॥ ३३ ॥

सजलाशुकान्तिविशदाङ्गजनितनिविडप्रपुला ।

व्यक्तनवनरपदाभरणा प्रियलोचना-चरमयन् मृगीदृश ॥ ३४ ॥

पानी में भीग कपड़ों से जिनके अंग स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, और इसी-लिए जो बहुत लज्जित सी हो रही थीं तथा जिनके शरीर पर नखचतर्ण्णी ध्याभरण स्पष्ट दीख रहे थे, ऐसी उन हरिण-नयनाओं ने अपने प्रियतमों की आँखों को सुखान्वित किया ।

निर्गरी—अर्थात् उन सुन्दरियों के उस हावमान से समावृत तथा साफ दिखाइ पड़ने वाले सुन्दर अंगों को देखकर उनके प्रियतमों की आँखें आनन्द के कारण फूली न समाती थीं ॥ ३४ ॥

अथ ता गृहीतशरदिन्दुधरलसिचया प्रसाधनाम् ।

चक्ररघिवपुरमर्त्यसरित्पुलिनस्थलीकनकवदिलिधामसु ॥ ३५ ॥

जाहूवी के तट पर स्वर्णलता जैसे शरीरों पर स्नान करने के उपरान्त उन शरदकालीन चन्द्रमा की कान्ति धारण करनेवाली स्त्रियों ने गंगातट पर स्थित पीत-लताओं से वने घरों में जाकर अपने-अपने अङ्गों को सजाना प्रारम्भ किया ॥ ३५ ॥

तिलकाङ्किताः प्रचुरपुष्पपरिमलमुचो मृगीदृशः ।

उढनवललितपत्रलता दधुरङ्गजोपवनराजिविभ्रमम् ॥ ३६ ॥

तिलकों से अलङ्कृत अनेक पुष्पों की सुगन्ध को फैलाने वाली, हरिण के समान नेत्रवाली, नई पत्रलता धारण करने वाली उन नारियों के शरीर की सजावट को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो वहाँ अनेक उपवन तो नहीं हैं ! ॥ ३६ ॥

न चिरादलङ्कतिविशेषविहितरुचयोऽतिपेशलाः ।

लक्ष्यनवनवरसाः शुचयः कविपुङ्गवोक्तय इत्राङ्गना वसुः ॥ ३७ ॥

शीघ्र ही अनेक अलंकरणों से जिनमें विशेष शोभा आ गयी थी, ऐसी, जिनमें अतिकोमल नये-नये प्रेमरस लक्ष्यमाण थे, ऐसी पवित्र वे स्त्रियाँ श्रेष्ठ कवियों की अनेक अलंकारों से विशेष सुन्दर, कोमल वर्णवाली, नौ-नौ रसों से समृद्ध कविता की भाँति जान पड़ने लगीं ॥ ३७ ॥

वहति स्म निर्मलकपोलालखितमृगनाभिपत्रकम् ।

कापि निभृतमधुपावलिमत् वलधौतकोकनदकान्तमाननम् ॥ ३८ ॥

स्वच्छ कपोलों पर बनाई गई कस्तूरी की पत्ररचना (बेलबूटे) वाले, स्वर्णकमल की भाँति चमकते हुए उनके मुख ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो स्वर्णकमलों पर शान्त भौरों की टोली बैठी हो ॥ ३८ ॥

अधिकर्णमुद्गतमयूखमरकतमनोहरोदरम् ।

वालमिव मदनकल्पतरोर्दलमेकया कनकपत्रमाददे ॥ ३९ ॥

जिससे किरणें निकल रही थीं, एवं जिसका भीतरी भाग मरकत मणि की भाँति चमक रहा था, ऐसे सोने के कनफूल (लोलक) को जब एक नारी ने अपने कान पर लगाया, तब ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसने कामदेव के छोटे से कल्पतरु के पत्ते से उसे सजाया हो ॥ ३९ ॥

धृतयावकाङ्कमणिकान्तवदनपरिचुम्बनोचिते ।

रागमधरुचके निदधे दयिते च काचन चकोरलोचना ॥ ४० ॥

अलते से युक्त तथा मणिकान्त के समान मुख को चूमने में उचित श्रोष्ठ-विम्ब पर एक चकोरनेत्री स्त्री ने अलता (लाली) लगाया तो श्रोष्ठ भी और उसका प्रिय भी—दोनों रागमय हो गये—लालिमा से युक्त श्रौर प्रेम पूर्ण हो गये ॥ ४० ॥

- - हरिणाङ्गमुन्दरमनेत्रविशदगुणगुम्फिताकृतिम् ।

हारमवहृदपरा न पर हृदि कान्तमप्यसमनाणदीपनम् ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा मी माति सुन्दर अनेक गुणों से (सूनो से) गुँथी हुई आकृति
वाला हार (चन्द्रहार) जब एक स्त्री ने पहना तो उसने वह हृदयहारी हार क्या
पहना, मानो प्रिय के हृदय में काम-भावना को उद्दीप्त कर दिया ॥ ४१ ॥

विमर्श—अर्थात् उसकी सुन्दरता से आकृष्ट प्रिय कामासक्त हो गया ॥४१॥

इतरा पदाङ्गमिष मत्तमदनकरिणोलिकोदरे ।

सान्द्रमृगमदमपीरचित तिलक कुरङ्गतिलकानना दधे ॥ ४२ ॥

घनी कस्तूरी की स्याही से बनाये हुए तिलक को जब मुख पर तिल वाली
स्त्री ने अपने माल पर लगाया तो ऐसा शात हुआ, मानो मदोन्मत्त कामदेव के
हाथी के माल पर अकुश रख दिया गया हो ॥ ४२ ॥

हृतसुप्रहेमशतपत्ररुचिमुकुलिवाङ्गलीदले ।

काचिदितरकरसहृदित निदधे विलासमणिकङ्कण करे ॥ ४३ ॥

किसी स्त्री ने लोहे गये अरिक्वसित स्वर्णकमल की सी कान्ति को धारण
करने वाली अगुलियों वाले अरने एक हाथ पर दूसरे हाथ से मणिकंकण
पहनाया ॥ ४३ ॥

वदितासु काञ्चिगुणमध्यमरकतमरीचिसूचिपु ।

व्यक्तिमलमत न रोमलता स्मरदीपकञ्जशिखा मृगलोचना रुचिम् ॥ ४४ ॥

करघनी की होरी में लगे मरकत मणि की ऊपर उठती हुई किरणों से
मिलकर उन नारियों की कामदेव रूपी दीपक की मानो कञ्ज रेखाएँ—ऐसी
रोमपक्तियाँ स्पष्ट दिखाने नहीं दीं ॥ ४४ ॥

सरसागसेव रमणेन चरणनलिनानुपङ्गिणा ।

पुष्पशरतरलिता दधिर मणिनूपुरेण मृगलोचना रुचिम् ॥ ४५ ॥

काम-बाणों से व्यथित किसी स्त्री को, कुछ मानवती सी हो गई थी,
उसे अभी अभी अपराध करनेवाले अतएव चरणों पर पड़े पति ने और पैर में
पहने गये नूपुर मणि ने शृ गार क अनुकूल बना दिया ॥ ४५ ॥

दधतीमिरिन्दुपरजालशानलतिमिरामिबिभ्रमम् ।

उडधवलकुसुमाभिरल वनरीलताभिरनलाश्चकाशिर ॥ ४६ ॥

चन्द्रकिरणों से सयुक्त अतएव चितकबरे अधकार की लट्टों का भ्रम
उत्पन्न करने वाली घबल पुष्पो से मुसब्बिन वणि-लताओं से वे स्त्रियाँ शोभा
पाने लगीं ॥ ४६ ॥

प्रियपाणिपङ्कजधृतेषु सकलशशिम्वनधुपु ।

वनत्रकमलमविलोलितशो मणिदर्पणेषु दृश पुरन्ध्रय ॥ ४७ ॥

अपने प्रियतमों के हाथों रूपी कमलों में पकड़े हुए, पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल और उज्ज्वल मणि दर्पणों में रमणियाँ अपने-अपने मुखकमलों को एकटक देखने लगीं ॥ ४७ ॥

प्रकटं दधञ्जटिति रागमलघुमथ वारुणीं प्रति ।

कान्तिनिकर इव तिग्मरुचेर्वनिताजनोऽभिमुखतां समादधे ॥ ४८ ॥

स्पष्ट ही जो शीघ्र लालिमा को धारण करवा देती है, उस अधिक मात्रा वाली वारुणी (मदिरा) के प्रति सूर्य-किरणों के समान दैदीप्यमान वह नारीसमूह भी आकृष्ट हुआ ।

अथवा—जिस प्रकार सूर्य-किरणे शीघ्र ही लालिमा धारण कर वारुणी (पश्चिम दिशा) की ओर जाने को उद्यत होती हैं, उसी प्रकार वह स्त्रीजन भी शीघ्र लालिमा देने वाली वारुणी (मदिरा) की ओर उसे पीने के लिए बढ़ीं ॥ ४८ ॥

उदियायमानतिमिरीघविघटनपटुर्मनोन्वरे ।

वालकुवलयदृशां विशदे शनकैर्मनोभवकुरङ्गलाञ्छनः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार अंधकार-समूह का नाश करने वाला चन्द्रमा धीरे-धीरे आसमान में उदित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मान रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने में चतुर, कामरूपी चन्द्रमा धीरे-धीरे उन कोमल कमल के समान नयनों वाली स्त्रियों के हृदय-आकाश में उदित होने लगा ॥ ४९ ॥

अरुणाङ्गुलीदलनिरुद्धनवकनककोशकणिकैः ।

सान्द्रमधुपरिमलैः रुरुन्ने करपङ्कजैरथ चकोरचक्षुषाम् ॥ ५० ॥

जिनकी लाल-लाल अंगुलिरूपी पत्तों से नवीन कोश के कर्णाभरण टँक गये थे ऐसे तथा घनी मदिरा की सुगन्ध से सने उन स्त्रियों के करकमल अधिक-शोभायमान हो गये ॥ ५० ॥

मणिशुक्तिषु क्षणमुपोढ कुत्रलयसुगन्धिषीधुषु ।

न्यस्यदसमशर यंत्रमिव भ्रमति स्म भृङ्गकुलमुत्सुकोत्सुकम् ॥ ५१ ॥

जिनके अन्दर मणि ये ऐसी तथा जिन में कमल जैसी सुगन्धित मदिरा थी, ऐसी सीपियों पर बड़ी उत्सुकता से भौंरे ऐसे घूम रहे थे, मानो कामदेव का यंत्र घूम रहा हो ॥ ५१ ॥

रुरुचेऽलिमण्डलमुदंशुकनकचपकोपरि स्थितम् ।

एकमिव रतिपतेरुदितं तपनीयदण्डमसितांणवारणम् ॥ ५२ ॥

स्वर्णनिर्मित प्यालों के ऊपर बैठे हुए और उनकी किरणों से युक्त भ्रमरों

का समूह ऐसा जान पड़ रहा था, मानो स्वर्णदण्डों से विभूषित कामदेव का वृष्णवर्ण का छत्र हो ॥ ५२ ॥

विधृता करे प्रियतमेन कतिपयशिलीमुत्पाविता ।

चित्तममृत विनश सुदृशा कुसुमेपुवामुक्लतेन वारुणी ॥ ५३ ॥

काम के धनुष की डोरी के समान मदिरा को जब प्रियतमों ने हाथ पर लिया तो उसे देखकर उन सुन्दर नेत्रवालों के मन विनश हो गये ॥ ५३ ॥

अतिरागिणी प्रणयिनीव मधुनि परिचुम्बितानने ।

व्यक्तिमलमत् मदो हृदये पुलक कपोलफलरे च मुध्रवाम् ॥ ५४ ॥

भ्रमर के सहित ही जब वे स्त्रियाँ मदिरा पीने लगीं तो भ्रमर ने अव्यत प्रणयी तथा प्रेमी की भाँति उनके मुख का चुम्बन किया तो स्पर्श रूप से ही मद ने उन मानिनियों के हृदय में और रोमाञ्च ने गालों को अपना स्थान बना लिया ।

त्रिभर्श—अर्थात् शराव हृदय के अन्तर उतर गयी और शरीर पर रोमाञ्च हो आया ॥ ५४ ॥

प्रतिमागते दुकरजालधवलितमिव श्रियं दवे ।

पाननमितमुखमुग्धमधुविगलद्विलासदसितच्छट मधु ॥ ५५ ॥

मदिरा पान करने के लिए मुख नीचे की हुई मस्त नारियों की गङ्गा मावना से कुछ हँसी की छटा से श्येन बनी मदिरा ऐसी लग रही थी, मानो किसी प्रतिमा पर पड़ने वाले चन्द्र किरणों की श्येन शोभा को धारण किये हुए हो ॥ ५५ ॥

मधु कापि पाटलकपोलतरलकलवोत्कुण्डला ।

लोलनिजमुत्पारकरप्रतिविम्बगर्भमधिकापिते पयो ॥ ५६ ॥

लाल गालों पर चञ्चल स्वर्ण कुण्डलों को धारण करनेवाली किसी नारी ने अपने चन्द्रमुख में धारण की हुई मदिरा को अधिक मात्रा में पिया ॥ ५६ ॥

अतिरक्तमायततरेण बिलसदसितोत्पलश्रिया ।

काममपिन्दपरन्दुमुखी चपकेण सीधु नयनेन धल्लभम् ॥ ५७ ॥

नील कमल की कान्ति वाले बड़े बड़े नेत्रों से और प्यालों से किसी म्हरों ने एक साथ ही (नेत्रों से) प्रेमी प्रिय के रूप का और (प्यालों से) रक्तवर्ण की मदिरा का पान किया ॥ ५७ ॥

अगमन् त्रयस्य सममेव परिमलरस्ततामलि ।

कलाघटपिमधुन प्रमदामुखमारतस्य विचोत्पलस्य च ॥ ५८ ॥

एक-कल्पवृक्ष की मदिरा की, दूसरे-स्त्री के मुख की, और तीसरे-

विकसित कमल के पराग की सुगन्ध का रसास्वाद भौरों ने एक साथ ही किया ॥ ५८ ॥

अधराप्रचुम्बनमत्राप्य कमलदलदीर्घचक्षुषाम् ।

श्वासतरलमजनिष्ट मुदा मुहुरात्तलास्यमिव कापिशासनम् ॥ ५९ ॥

कमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्र वाली नारियों के अधरों का चुम्बन पाकर वे (भ्रमर भी और पुरुष भी) मस्ती से नृत्य करते हुए गहरी कसैली श्वासें भरने लगे ॥ ५९ ॥

मदमासवेन रमणेन नखपदमिवापितं हृदि ।

अतिविशदपदवन्धमथो नवसाहसाङ्कचरितं जगुस्त्रियः ॥ ६० ॥

प्रियतमों ने अपनी-अपनी स्त्रियों के हृदयों में नाखूनों के चिह्न बना दिये और हृदय के भीतर शराव ने मस्ती भर दी । तब मस्त होकर वे स्त्रियाँ वड़े-वड़े पदों की रचनावाले नवसाहसाङ्क के (सिन्धुराज) चरित का गान करने लगीं ॥ ६० ॥

मदिरापिताधरदलेन युवतिरमृतच्छटोपमा ।

प्रेमरसमृदुपु दीर्घदृशां हृदयेषु पल्लवयति स्म मन्मथम् ॥ ६१ ॥

अमृत की छटा धारण करने वाली कोई युवति मदिरा की सुगन्ध से युक्त अधरों के प्रेमरस से कोमल हृदय वाले उन दीर्घ नेत्रधारी पुरुषों के हृदयों में भी काम-भावना को जागृत कर रही थी ॥ ६१ ॥

दयिताहिते युवजनेन विलसदतिपाटलघुतौ ।

कामसुहृदि विदितः प्रणयः प्रथमं मधुन्यधरपल्लवे ततः ॥ ६२ ॥

युवकों ने अपनी प्रियतमाओं के द्वारा दिये गये लाल वर्ण की कोमोदीपक-मदिरा से प्रथम प्रेम किया और तब लाल वर्ण वाले प्रियतमा के अधरों से प्रेम किया । अर्थात् पहले मदिरा पी, फिर प्रिया के अधर ॥ ६२ ॥

अवधूतमानमधुपानरसरभसतः प्रसन्नताम् ।

प्रापुरतिपृथुदृशां सहसा हृदयानि चाच्छमणिभाजनानि च ॥ ६३ ॥

रसाग में जब मधुपान-क्रीडा समाप्त होने लगी, तब उन सुनयनाओं के हृदयों ने भी प्रसन्नता प्राप्त की और स्वच्छ मणिमय मदिरा के पात्रों ने भी स्वच्छता (रिक्तता) प्राप्त की ।

विमर्श—अर्थात् मान दूर हो जाने से युवक-युवतियों के हृदय परम प्रसन्न हुए और शराव खतम हो जाने से मणिमय पानपात्र खाली हो गये ॥ ६३ ॥

दयितामनङ्गमदसूतिसितनलिनावतंसकाम् ।

सान्द्ररुचिर्युवजनो मदिरां परिचुम्बति स्म न परं वधूमपि ॥ ६४ ॥

मदिरा पान से पूर्ण तृप्त युवकों का समूह कामोन्माद उत्पन्न करने वाली नील कमल का आभूषण पहनी हुई अपनी अपनी प्रिया और मदिरा का चुम्बन करता था, उसमें भी मदिरा का चुम्बन अधिक, पर युवती का कम ।

अनयन् सदसैव शिथिलत्वम् उभयमुभयेन योषिताम् ।

प्रीडमरुणरुचिना मधुना मणिकाञ्चिदाम च करेण कामिन ॥ ६५ ॥

तब दोनों ने दो को शिथिल कर दिया अर्थात् उनमें टीलापन आ गया—लाल रंग वाली मदिरा ने तरुणियों की लज्जा को शिथिल कर दिया, और कामी लोगों के हाथों ने स्त्रियों की मणिजटित करधनियों को टीला कर दिया । अर्थात् वे सब विलास-भावना के नशे में चूर हो गये ॥ ६५ ॥

मुदरा मदादय परिक्षुदरुणितमितोदरा करान् ।

पेतुरमरसरित पुलिने मणिशूक्तय प्रियतमे च दृष्टय ॥ ६६ ॥

तब जाह्नवी के तट पर मद में चूर बनी उन नारियों के टीले हाथों से लाल और सफेद उदर-भागवाली मदिरा पान की सिपियाँ गिर पड़ीं और अपने प्रियतमों के ऊपर उनकी श्वेत रक्त वर्ण की दृष्टियाँ पड़ीं ॥ ६६ ॥

नवपल्लवारुणमुवाह धृततरुणवारुणीमद ।

रागमथ शुचिनि गण्डतले नयनोदरे च मदिरैक्षणाजन ॥ ६७ ॥

शीघ्र ही हुई मदिरा ने उन मस्त नेत्रोंवाली नारियों के स्वच्छ कपोलों को भी रक्त वर्ण का बना दिया और उनके नेत्रों के भीतरी भाग को भी रक्त वर्ण का बना दिया ॥ ६७ ॥

अपरिस्फुटोक्तिलितासु मदमुकुलदीर्घदृष्टिषु ।

तासु शण्डकुमुमासलसत्कवरीलतासु पदमादधे स्मर ॥ ६८ ॥

उन लटखडा कर बोलने वाली, नशे से अधमुदी आँखों वाली, कंधे पर लटकती हुई, फूलों से चितकवरी बनी चोटियों वाली नारियों में काम की भावना बलन्ती हो गई ॥ ६८ ॥

आपानभूरसितासवरागदीर्घसे दीवरस्फटिकशुक्तिशता चकासे ।

कौतूहलान्मदप्रिलोलवधुविलासव्यालोकनोन्मिपितवन्नपरम्परेव ॥ ६९ ॥

जहाँ पर मदिरापान किया गया था, वह भूमि पानगोष्ठी के रागरगों की समाप्ति पर फेंके हुए सैकड़ों कमल और मणिमय सिपियों से विराजने लगी, वहाँ पड़ी वे सिपिया और कमल ऐसे जान पड़ रहे थे, मानो कौतूहल से मदमस्त नारियों के विलास को देखने के लिए उन्होंने आँखें खोली हो और अकबका कर मुँह बाये हुए हाँ ॥ ६९ ॥

अविरलमणिदीपोद्द्योतदूरापसर्पत्तिमिरममरसिन्धोः कूलकच्छ प्रविश्य ।
अथ सममसुनाथैस्ताः सलीलं निपेद्दुः सरसकनकजम्बूपल्लवप्रस्तरेषु ॥७०॥

तव रत्नमणियों के घने प्रकाश से जहाँ का अन्धकार दर हट रहा था, जाह्नवी के किनारे की उन घाटियों में प्रविष्ट होकर वे नारियाँ अपने प्रियतयों के साथ हरे और सुनहले जामुन के पत्तों को पत्थरों पर बिछा कर उनपर बैठ गईं ॥ ७० ॥

सान्द्रोन्मीलत्सौरभाष्युद्वहन्त्यो विद्युल्लेखापिङ्गलान्यङ्गकानि ।

लक्ष्मीं हेमाम्भोजमाला इवापुः सारङ्गाक्षयः प्रेयसां कण्ठलग्नाः ॥७१॥

घनी फैलती हुई पुष्पों की सुगन्ध को धारण करने वाले, बिजली की कान्ति के समान पीले भङ्गों वाली वे नारियाँ अपने प्रियतयों के साथ आलिंगन करती हुई कमलों की मालाओं को पहनी हुई अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुईं ॥७१॥

ततो विसूत्रच्युतहारयष्टिः शीर्णाङ्गदो भङ्गुरकर्णपूरः ।

मदेन सद्यो मदिरेक्षणानां रतोत्सवः पल्लवितो वभूव ॥ ७२ ॥

तब जिसमें हार-यष्टियाँ भी टूट गयीं, वाजूवन्द खुलकर गिर पड़े, कनफूल टूट गये (या टेढ़े हो गये)—इस प्रकार का (शृङ्गाररस का) रतिक्रीडा महोत्सव वे मदभरी नयनवाली नारियाँ करने लगीं ॥ ७२ ॥

नानाङ्गरागशवले श्लथवन्धलोलधम्मिल्लमाल्यकुसुमप्रकरावकीर्णैः ।

पुष्पेषु तल्प इव वक्षसि वल्लभानां निद्रामवापुरथ ताः सुरतश्रमेण ॥७३॥

नाना प्रकार के अङ्गराग से सना, ढीलीढाली वेणियों पर लगाया हुआ मालाओं का समूह जब रागरस-रंग में बिखर गया, तब रतिक्रीडा में थकी-थकाई वे पुष्पशय्या की भाँति अपने प्रियतयों की छातियों पर सो गईं ।

विमर्श—काम की शय्या की भाँति सुन्दर अपने प्रियतमों के वक्षःस्थलों पर ही निद्रानिमग्न हो गईं ॥ ७३ ॥

कन्दर्पस्य त्रिलोकीदृष्टविजयमहासाहसोत्साहहेतुः ।

धुन्वंस्तनूपक्षधूलिव्यतिरकरकपिशः काञ्चनाम्भोरुहाणि ।

तन्वानस्तीररूढत्रिदशतरुलतालास्यमालस्यभाजाम्

तासां सम्भोगकेलिकलमभरमहरज्जाह्नवीवीचिवातः ॥ ७४ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये पातालाङ्गावगाहन

नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

कामदेव के तीनों लोकों को हठपूर्वक विजय के महासाहस का एकमात्र कारण, स्वर्णकमलों को कँपाता हुआ और उनकी पखुडियों की धूलि से पीले बने हुए, भालस्य में पड़ी तीरवर्ती कल्पतरुलताओं को नचाने वाले जाह्नवी की तरंगों के सम्पर्क से शीतल बने हुए वायु ने समोग क्रीडा में यकी हुई उन स्त्रियों की थकान को मिटाया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त क पुत्र परिमलोपनामक पद्मशुतरचित नव-
साहसङ्कचरित का पातालमगा स्नान
नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

अथ षोडशः सर्गः

सोलहवाँ सर्ग

पाटलाऽऽगमनम्

अत्रान्तरे नभस्सिन्धुपुलिनं प्राप पाटला ।
दधत्यनङ्गलेखेन लाञ्छितं पाणिपल्लवम् ॥ १ ॥

सखि पाटला का आना

इसके पश्चात् जाह्नवी के उस तट पर काम के लेख (शशिप्रभा के पत्र)
से युक्त हाथोंवाली पाटला आ गई ॥ १ ॥

मणिप्रभ्रीवकोद्गीर्णशुनासीरशारासनम् ।

अपश्यद् गगनोल्लेखि तत्र स्फटिकवेश्म सा ॥ २ ॥

मणि-किरणों से इन्द्रधनुष के समान सतरंगे प्रकाश को फैलाने वाले
और आकाश को चूमने वाले स्फटिक (संगमरमर) के बने भवन को उसने
देखा ॥ २ ॥

तदिन्द्रनीलद्वारे सा हेमवेत्राकुले वभौ ।

श्लिष्यन्ती सतडिल्लेखे लेखेवेन्दोः पयोमुचि ॥ ३ ॥

स्वर्णदण्ड लिये प्रहरियों से युक्त उस नीलमणिनिमित्त द्वार पर जब
वह पहुँची, तब वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो विद्युल्लेखा युक्त बादलों
के बीच चन्द्रमा की कला हो ॥ ३ ॥

रत्नवातायनस्थस्य तिष्ठन् पार्श्वे महीपतेः ।

द्वाःस्थं किमपि पृच्छन्तीं तामैक्षत रमाङ्गदः ॥ ४ ॥

रत्न के भरोखों के पास बैठे हुए राजा के समीपवर्ती रमाङ्गद ने द्वारपाल
से कुछ पूछती हुई पाटला को देखा ॥ ४ ॥

अन्तः प्रवेशायामास स च तामात्तसम्भ्रमः ।

ययौ सा च विशांपत्युर्लोचनामृतवर्तिताम् ॥ ५ ॥

चकित रमाङ्गद ने आदरपूर्वक उसे भीतर पहुँचाया । जब राजा ने
उसे देखा तो राजा के नेत्रों को वृत्ति देने के लिए मानो 'वह अमृत बन
गई थी ॥ ५ ॥

सिताश्महर्म्यमुत्तुङ्गं झटित्यधिरूह सा ।

आनन्दकन्दलीचित्तमत्यच्छं पार्थिवस्य च ॥ ६ ॥

सगमर्र के बने उस ऊँचे भवन पर और राजा के आनन्दमरे चित्तपर भी वह शीघ्रता से चटने लगी ।

विमर्श—भवन पर चटते ही वह राजा के मन को आनन्दित करने लगी ॥ ६ ॥

चित्तिचुम्बितहार सा प्रणनाम महीभुजे ।

रमाङ्गद करग्राहसौहार्द पात्रता नयन् ॥ ७ ॥

जब उसने राजा का प्रणाम किया तो उसका हार धरती को चूम रहा था । उसने रमाङ्गद से हाथ मिलाकर उसे भी मित्रता क अनुकूल बनाया ॥७॥

नृपेण स्वयमुक्तापि इत एह्येति पाटले ।

तल्लीलामणिपर्यङ्कसवित्रे निपन्नाद सा ॥ ८ ॥

'पाटले, इधर आओ' ऐसा जब राजा ने स्वयं उससे कहा, तब वह उसके मणिमय पलंग के समीप में ही बैठी ॥ ८ ॥

पाटलाशक्यम्

कृतसम्भाषणा साय तेनारनिमनोमुवा ।

इत्योचत् च दन्ताशुशवलाधरपल्लवा ॥ ९ ॥

जब धरती के कामदेव उस सिधुराज के साथ उसकी बातचीत हुई, तब पुन वह दन्ताकिरणों से अधरो को चमकाती हुई (हँसती हुई) बोली ॥९॥

मुद्रितस्मरसौन्दर्यजाता नेत्रामृत्तच्छटा ।

इय मूर्तिर्महाराज क्वचिन् कुशलिनी तव ? ॥ १० ॥

कामदेव के सौन्दर्य को भी जीतने वाली, नेत्रों को अमृत छटा भी मॉति तृप्त करने वाली आपकी यह मूर्ति सकुशल तो है ?

विमर्श—अर्थात् आप कुशलपूर्वक स्वस्थ तो हैं ? ॥ १० ॥

कथमेता प्रविष्टस्त्वम् भूमिमत्यतदुर्गमाम् ।

न कन्य विस्मयायेय शक्तिरत्यदुमुता तव ॥ ११ ॥

श्रीमान्, आप उस अत्यन्त दुर्गम भयंकर भूमि में कैसे प्रविष्ट हुए (आये), आप की यह अद्भुत शक्ति किने आश्चर्य में नहीं डाल देगी ? ॥११॥

देव विद्याधर कोऽपि शापान्निर्मोचितस्त्वया ।

इत्यमन्द प्रनादोऽत्र तत्कोप्यसि नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

हे महाराज ! आपने किसी विद्याधर को शापमुक्त कर दिया है, यह अपवाह (बन्धुति) सर्वत्र जोरो से चल रही है, इसलिए आप अवश्य कोई असाधारण पुरुष होंगे, अतः आप चाहे जो भी हों, आप को नमस्कार ! ॥१२॥

अहो गुणेन राजेन्द्र येन केनापि गृह्यसे ।

यदेवं क्लिश्यसे तस्याः फणीन्द्रदुहितुः कृते ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! निश्चित ही आप किसी विशेष गुण से ही आकृष्ट हुए हैं, अथवा आपमें निश्चित ही कोई असाधारण गुण है, जो उस नागराज-पुत्री के लिए इतना भारी कष्ट आप सह रहे हैं ॥ १३ ॥

नायकनाक्यम्

अथ विद्रुमतान्नोष्ठनुठद्दशनदीधितिः ।

स्मित्वा वसुमतीनाथस्तामिति प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

नायक सिन्धुराज का कथन

फिर मूंगे के समान लाल ओठों पर दाँतो की श्वेत छूटा को धारण कर (हँसकर) राजा ने उससे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

कदाचिन पाटले कच्चिन् भुजङ्गपतिकन्यका ।

स्मरत्यस्मान् सखीस्वैरसङ्कथास्वन्तरान्तरा ॥ १५ ॥

हे पाटले ! क्या कभी वह भुजङ्गराजपुत्री सखियों के बीच स्वच्छन्द रूप में बातचीत करती हुई हमारी याद भी करती है ? ॥ १५ ॥

किमनद्भवती वक्ति व्रूते माल्यवती च किम् ।

अप्यस्त्यहिपुरेऽस्माकं किंवदन्ती कियत्यपि ॥ १६ ॥

बोलो, अनङ्गवती (शशिप्रभा की सखि) क्या कहती है, और माल्यवती भी कुछ कहा करती है ? क्या नागपुर (पाताल) में हमारे विषय की कोई इधर-उधर की चर्चा चलती है ? ॥ १६ ॥

फणिराजसुताकर्णं कच्चिन् प्राप्य मद्वचः ।

विहितो रत्नचूडेन शुकरूपविपर्ययः ॥ १७ ॥

क्या नागपुत्री शशिप्रभा के कान तक हमारी बात पहुँचाकर रत्नचूड़ ने अपने तोते के रूप को बदल लिया अर्थात् क्या वह तोते से आदमी बन गया ? ॥ १७ ॥

किमागतासि किं चैवं परिम्लानेव लक्ष्यसे ।

निवेदय द्रुतं यन्मे किमप्याशङ्कते मनः ॥ १८ ॥

तुम कैसे यहाँ आई हो ? तुम उदास सी क्यों दिखाई दे रही हो, मेरे मन में शंकाएँ उठ रही हैं, जल्दी बताओ ॥ १८ ॥

लेखार्पणम्

इति पृष्टवते तस्म सान्द्रप्रेमाद्र्चेतसे ।

क दर्पदीपन लेखमर्पयामास पाटला ॥ १६ ॥

लेख (पत्र) देना

अस्य त प्रेम से गद्गद् चित्तवाले राजा के इस प्रकार पूछने पर पाटला ने कामोत्तेजक वह लेख (पत्र) उसे दिया ॥ १६ ॥

तमात्त वाचयेत्युक्त्वा परमारकुलोद्बद्ध ।

रमाङ्गदस्य चित्तेप मन्ध्रमोत्तानिते करे ॥ २० ॥

परमारवश के अग्रगण्य सिंधुराज ने रमाङ्गद से कहा कि इसे पढो और ऐसा कहकर आदर के साथ आगे उढाये हुए रमाङ्गद के हाथ में दिया ॥ २० ॥

त हेमकवलीपत्रकस्तूरीलिङ्गिताक्षरम् ।

सोऽवधार्याथ तस्याग्ने व्यक्तव्यागित्यवाचयन् ॥ २१ ॥

पीले बेले के पत्र पर कस्तूरी से लिखे गये अक्षरों वाले उस पत्र को समझ बृभकर रमाङ्गद ने जोर से यों पढा ॥ २१ ॥

शशिप्रभालेखः

स्वस्ति स्थितस्य स्व सिन्धुतीरे कणिपुरस्थया ।

इदं मध्यमलोकेन्दोर्मास्थिवर्या निवेद्यते ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का पत्र ।

श्रीमान् की जय हो, आकाश गंगा के तट पर स्थित, धरती के चन्द्रमा सिन्धुराज से नामलोकस्थित माल्यवती (शशिप्रभा की सखी) इस प्रकार निवेदन करती है ॥ २२ ॥

यदैवास्मात्सखी विन्ध्ये त्वया राजन् व्ययुज्यत ।

तदैवेय कुरङ्गीर विद्धा हृदि मनोभुवा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! हमारी प्यारी सखि विन्ध्याचल के वन में जब से आप से थलम हुई है, तभी से वह काम के बाणों की चोट खायी घायल हिरनी की भांति हो गई है ॥ २३ ॥

दृष्टि सर्वत्र राजेदो सुधानिष्यन्दिनी तव ।

जाता शशिप्रभाया तु सैव हालाहलच्छटा ॥ २४ ॥

सब ओर अमृत की वर्षा करने वाली आप की दृष्टि वेचारी शशिप्रभा के लिए तो भयंकर कालकूट विष सी हो गई ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी नजर से नजर मिलाकर वह अपनी सुधबुध खो बैठी है ॥ २४ ॥

न विनोदयितुं शक्यमेपा केनापि वस्तुना ।

विनेश तव कर्पूरशीतया सङ्गमाशया ॥ २५ ॥

हे स्वामिन् ! कपूर की भाँति शीतल तुम्हारी मिलन की आशा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से भी इसका मन नहीं वहलाया जा सकता ॥ २५ ॥

त्वद्दर्शनोपकारिण्याः करोत्येकावलीमिव ।

इयं पद्माग्रवर्त्यश्रुपृपतच्छद्धानां दृशः ॥ २६ ॥

तुम्हारे दर्शनों की इच्छा रखने वाली अपनी दृष्टि के लिए मानो वह आँखों की पलकों के अग्रभाग पर आँसू की बूँदों के वहाने एक माला सी गूँथ रही है ।

विमर्श—अर्थात् रोती हुई इसके आँसू की लड़ी गूँथे हार सी लगती है ॥ २६ ॥

वक्ति व्यक्ताश्लेखेन निहितेन करोदरे ।

इयमापाण्डुगण्डेन स्मरतापमुखेन्दुना ॥ २७ ॥

निरन्तर आँसू की झड़ी लगानेवाले तथा हथेली पर कुछ पीले गालों वाले तथा कामज्वर से मुरझाये मुख को रखकर यह बड़बड़ाती रहती है ॥ २७ ॥

शिरीपादपि मृद्वङ्गी फेयमायतलोचना ।

एष क च कुकूलाग्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ २८ ॥

कहाँ तो हरसिंगार के पुष्प की भाँति कोमल अङ्गों वाली यह विशाल-नयनी कोमलांगी, और कहाँ दहकती हुई भूसी की आग जैसा कर्कश यह कामज्वर ।

विमर्श—अर्थात् भला यह कोमल शशिप्रभा इस फटोर कामज्वर को कैसे सहेगी ॥ २८ ॥

नेयं प्रवालशय्यायां नापि प्रालेयवेश्मनि ।

न चेन्दुमणिपर्यङ्के सखी निर्वृतिमेति नः ॥ २९ ॥

हमारी यह सखी न तो कोमल पत्तों की शय्या पर ही शान्ति पा रही है, न हिम-शीतल भवन में ही उसे चैन मिलता है, और न चन्द्रकान्त मणि-शय्या पर ही वह शान्ति पाती है ॥ २९ ॥

निसर्गरक्तमेतस्याः सखीजनमिवाधरम् ।

नयन्ति किमपि स्तानिमुष्णा निःश्वसितोर्मयः ॥ ३० ॥

गरम-गरम आह भरने की श्वाँसे निकलकर स्वभाव से ही रक्त वर्ण के अधरों को म्लान कर रही हैं। पदान्तर में सखियाँ जो कि उससे बहुत प्रेम करती हैं, उसे टडी टडी आहें भरते देखकर दुखी होती हैं ॥ ३० ॥

अरतिन्वमवाप्याम्भ ऋणिकेय विपूर्णते ।

एषा कमलिनीपत्रशय्यायामायतेश्रया ॥ ३१ ॥

ग्रनमनी सी होकर यह विशालनेत्री कमलिनी के पत्तों की शय्या पर पानी की बूँद की तरह पड़ी रहती है ॥ ३१ ॥

अभ्या म्मराग्निसत्तप्तं वपु शशिफ्लामृदु ।

नीरन्ध्रघर्मसलिलच्छलेनेय विलीयते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार भयकर धूप में पानी भी मरने लगता है, उसी प्रकार इसका चन्द्रमा की कला क समान कोमल शरीर कामाग्नि से सूखता चला जा रहा है ॥ ३२ ॥

कृशतामङ्गके गाढमस्या कुमुमकोमले ।

आरोपयति पुपेपुर्मौर्वीमिय शरासने ॥ ३३ ॥

उसके फूल के समान कोमल अङ्गों में इतनी दुर्बलता आ गई है कि मानो यह (रम्बी) डोरी की भाँति दुबली हो गई है। उसे मौर्वी बनाकर काम अपने धनुष पर चढाना चाहता है ॥ ३३ ॥

वृत्तया इदि वालेयं वित्तीर्णहरिचन्दने ।

निर्वाणमेति भवत कथया न जलाद्र्या ॥ ३४ ॥

यह शशिप्रभा हृदय पर चन्दन का लेप करने पर भी या जलस्नान करने पर भी शान्ति नहीं पाती है, बल्कि आपकी कथा सुनने से इसे कुट्ट राहत मिलती है ॥ ४ ॥

आकर्णकृष्टकोदण्डस्त्वा विना निशिनै शरै ।

भिनत्त्यङ्गमनङ्गोऽस्या क्षतिञ्चेतसि कापि मे ॥ ३५ ॥

कानों तक अच्छी तरह से धनुष खींचकर कामदेव तुम्हारे विना इसके अङ्ग प्रत्यङ्गों को घायल करता रहता है, यह देखकर मेरे (माल्यवती के) चित्त का उडा कष्ट होता है ॥ ३५ ॥

इयमत्यच्छङ्खदय दधत्यतिमुत्तताम् ।

वाला माणिक्यमुकुरे त्रिसुरी सम्मुरी त्वयि ॥ ३६ ॥

अत्यन्त निर्मल हृदय में सुवृत्तता अर्थात् सौमनस्य धारण करने वाली वह शशिप्रभा छोटे-छोटे मणियों से जटित दर्पण में तुम्हारे सम्मुख विमुख होकर बैठती है ॥ ३६ ॥

एषा शिखेव दीपस्य मुग्धा दग्धदशाश्रया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपते ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार दीपक की लौ जलती हुई वत्ती के साथ हवा के झोंके खाकर इधर-उधर काँपती रहती है, उसी भाँति यह भोली-भाली शशिप्रभा वियोग में जलती हुई, कामरूपी वायु से इधर-उधर काँपती फिरती रहती है ॥ ३७ ॥

इयमिन्दुद्युतिहरं युक्तमत्यायतैर्गुणैः ।

मृणालवलयं हस्ते वहति त्वां च चेतसि ॥ ३८ ॥

यह चन्द्र की कान्ति की भाँति श्वेत, लम्बे-चौड़े सूतों से युक्त कमल-नाल के कंगन को तो हाथ पर धारण किये हुए है और चन्द्रमा की कान्ति को भी चीतने वाले विशेष अधिक गुणों से युक्त तुम्हें हृदय में धारण करती है ॥ ३८ ॥

अनङ्गतापवत्यस्या निकामं सरसं हृदि ।

सङ्कुचत्यट्जिनीपत्रं न तु त्वत्प्रेमपल्लवः ॥ ३९ ॥

इस बाला के कामदाह से युक्त हृदय पर भली प्रकार रखे गये कमलिनी के पत्ते तो मुरझा (झुलस) जाते हैं; किन्तु आपके प्रेमवृक्ष के पत्र जरा भी नहीं मुरझाते हैं ॥ ३९ ॥

क्रियते वलयेनास्याः मणिवन्धे गतागतम् ।

कार्याप्रभुमिमाप्तायास्त्वय्यन्तःकरणेन च ॥ ४० ॥

यह इतनी दुर्बल हो गई है कि इसके हाथ का कंगन मणिवन्ध के कभी नीचे और कभी ऊपर होता रहता है, और इसका हृदय भी वैसे ही आपकी स्मृति में गमनागमन करता रहता है । अर्थात् इसका चित्त तुम्हीं पर लगा है ॥ ४० ॥

जायते पेशलमपि प्रायो वस्त्वन्यथाऽऽपदि ।

प्राप्तो मृणालहारोऽपि यदस्या दाहहेतुताम् ॥ ४१ ॥

आपत्ति आने पर कोमल वस्तु भी फटोर बन जाती है । जैसे कि इस बेचारी का मृणाल-हार जो शीतलता देता था, आज वियोग होने से वह भी दाहकारक बन गया ॥ ४१ ॥

निहिताः साक्षमालीभिर्लेवलीपाकपाण्डुनि ।

अस्याः स्तनतटे भारः परं वानीरपल्लवाः ॥ ४२ ॥

इसके लवली के पके पुष्प के समान पीले स्तनभाग पर सखियों द्वारा अश्रुपरिपूर्ण होकर रखे गये वेत के पत्ते भी अत्यन्त भारस्वरूप हो रहे हैं ॥ ४२ ॥

न चन्दनेन नोशीरवारिणा न जलार्द्रया ।

नाऽस्या पुटकिनीपत्रै शममेति स्मरञ्जर ॥ ४३ ॥

इसका कामञ्जर न चन्दन से, न रास के टटे पानी से, न जल में हुनोने से और न कमलिनी के पत्र रखने से ही किसी प्रकार शान्त हो रहा है ॥ ४३ ॥

किञ्चापर त्वमेतन्मया हृदयस्याधिदेवता ।

यतस्त्वन्मयमेवैषा विश्व- विश्वेश पश्यति ॥ ४४ ॥

और क्या कहें ! इसके हृदय के अधिदेवता तो आप ही बने हुए हैं । क्योंकि हे विश्व के राजा ! यह तो सारे विश्व को तुम्हारे ही रूप में देख रही है ॥ ४४ ॥

रत्नचूडोपनीतेन सन्देशेन तथाधुना ।

इयमुन्मृत्वसिता किञ्चिन् सुधागण्डूपत्र-धुना ॥ ४५ ॥

हाँ ! अमृत क घूट के समान जीवनदायक रत्नचू के द्वारा पुँचाये गये तुम्हारे सन्देश क मिलने पर इसने कुछ सार-रत्न की सास ली ॥ ४५ ॥

तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम् ।

अनङ्गविधुता यावदिय श्वसिति न सखी ॥ ४६ ॥

तो जब तक काम से पीड़ित हमार। यह सखी बीबित है, तब तक शीघ्र ही आप स्वर्णकमल लेकर यहा पहुँचे ॥ ४६ ॥

नायकस्य प्रतिसन्देशः

एवमाकर्ण्य ललित लेप्रार्थमथ पाथिय ।

उद्भिन्नसा-द्रपुलक पाटलामित्ययोचत ॥ ४७ ॥

नायक का सन्देश

सिन्धुराज ने इस तरह उस लेख को सुनकर उसका अर्थ समझ कर अत्यन्त रोमाञ्चित होकर पाटला से यों कहा ॥ ४७ ॥

यथा सखी व किमपि प्रपन्ना सिधुरा वशाम् ।

तथा त्वमपि मामेवं पाटले किं न पश्यसि ॥ ४८ ॥

हे पाटले ! जिस प्रकार तुम्हारी सखी अति दु लपूर्ण दशा को प्राप्त हुई है, क्या उसी दशा को पहुँचे हुए मुझे तुम नहीं देख रही हो ? ॥ ४८ ॥

तद् गच्छता शशिमुखोमाश्वामयितुमर्हमि ।

वयमेते च हेमाब्जमानेतु प्रयतामहे ॥ ४९ ॥

तो पाटल ! तुम जाओ और जैसे भी हो सके, अपनी सखी को टाटसँधाओ । हम भी शीघ्र ही स्वर्णकमल लाने का प्रयत्न करते हैं ॥ ४९ ॥

तथा कार्यं न वन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः ।

वक्तव्या माल्यवत्येवं मद्गिरा वल्गुवादिनि ॥ ५० ॥

हे सुन्दर भाषण करने वाली ! मेरा मनोरथ और सारा प्रयत्न असफल न होने पाये, ऐसा उपाय करो । इस तरह तुम मेरे शब्दों से यह बात माल्यवती से कह देना ॥ ५० ॥

पाटलाप्रयाणम्

आवृत्तिदत्तसन्देशा सा ततः पृथिवीभुजा ।

फणिराजेन्द्रनगरीं त्वरितं पाटला ययौ ॥ ५१ ॥

पाटला का प्रयाण

जब राजा ने बार-बार उसे ऐसा सन्देश देकर अच्छी तरह उसे समझा दिया, तब पाटला शीघ्र ही नागराजपुरी भागवती की ओर चल पड़ी ॥ ५१ ॥

प्रस्थानशंसी सहसा तस्याथ पृथिवीपतेः ।

प्रलयाम्बुधरध्वानधीरं ध्वान दुन्दुभिः ॥ ५२ ॥

तब सहसा विजय-प्रस्थान की सूचना देनेवाली, प्रलयकालीन मेघ की भाँति भीषण ध्वनि करने वाली, सिन्धुराज की सेना को दुन्दुभि वज उठी ॥ ५२ ॥

विद्याधरस्त्रीपुरुषवर्णनम्

नदन्तुकम्पिमनसां स विद्याधरयोपिताम् ।

निन्ये प्रियपरिष्वङ्गश्लथतामथ दोर्लताः ॥ ५३ ॥

विद्याधर स्त्री-पुरुषों का वर्णन

बचती हुई उस दुन्दुभि ने विद्याधर-नारियों के हृदयों को कँपाते हुए उनकी भुजलताओं को प्रियतमों के साथ किये गये आलिंगन से शिथिल बना दिया ॥ ५३ ॥

कथञ्चित् प्राणनाथस्य मुखादधरपल्लवम् ।

बाला व्यघटयत् काचिदुरसश्च पयोधरौ ॥ ५४ ॥

उस समय अतिकठिनता से किसी बाला ने प्रिय के अधरों से अपने अघर हटाये और आलिङ्गन में संसक्त प्रिय के वक्षःस्थल से अपने कुचों को हटाया ॥ ५४ ॥

शनैर्वन्ध जघने नखाङ्कवति मेखलाम् ।

कापि स्मितमुखी कान्ते तिर्यगपितलोचना ॥ ५५ ॥

किसी बाला ने नाखूनों के चिह्नों से युक्त कटिभाग पर करधनी बाँधी और तिरछी नजर से प्रिय को हँसकर देखने लगी ॥ ५५ ॥

दृष्टिं दास्यन्ति मे सरय रण्डिते दन्तवाससि ।

किमत्र कृत्यमित्यन्या किमपि व्याकुलाभसन् ॥ ५६ ॥

कोई स्त्री यह सोचकर व्याकुल होने लगी कि क्या करूँ ? मेरी सखियाँ मेरे पति के द्वारा काटे हुए मेरे श्रोतों को देखेंगी तो क्या होगा, क्या करना चाहिए ? ॥ ५६ ॥

काचित् पर्यङ्कमालोक्य सालकऋपदाङ्कितम् ।

अन्यो-यापितनेत्राभिर्जयस्याभिरह्म्यत ॥ ५७ ॥

अलता से सन पर्दाचढ़ाई से युक्त पलंग को देखकर सखियाँ एक दूसरी को देखकर हँसती हुई किसी का मजाक उड़ाने लगी ॥ ५७ ॥

एका माणिभ्यस्तक करामन्युतमाददे ।

हृदय पुष्यचापेन मध्ये विद्धमित्रात्मन ॥ ५८ ॥

किन्ना ने अपने हाथ से गिरे हुए मणि-कगन को पहना, मानो कामवाणियों से भीचोबीन बिधे अपने हृदय को सेमाला हो ॥ ५८ ॥

चुम्बनविलसप्रिमोष्ठ जागरारुणलोचनम् ।

मुत्साम्भोज दृशाऽन्योन्य विलासिभिरपीयत ॥ ५९ ॥

चुम्बन से मुरझाये ओठोंवाले, जागरण क कारण लाल-लाल नेत्रोंवाले एक दूसरे के मुख-कमलों का विलासियों ने चुम्बन किया ॥ ५९ ॥

रत्नवतीं प्रति गमनम्

सोऽथ प्रवृत्ते गतु विद्याधरवलाङ्कित ।

रथेन रथिनामग्यं पुरीं रत्नवतीं प्रति ॥ ६० ॥

रत्नवती का प्रस्थान

तब रथियों में श्रमगणय सिधुराज विद्याधरो की सेना के साथ, रथ से रत्नवती नाम की राजकुश राजस की पुरी की आर जाने के लिए रत्नवती चूआ ॥ ६० ॥

रत्नचूडसमागमः

ततः कणिकुमारेण रत्नचूडेन सोऽध्वनि ।

समगम्य जगत्पूज्यं पूपा दश श्वेदुना ॥ ६१ ॥

रत्नचूट से भेंट

फिर नागपुत्र रत्नचूड का रास्ते में उस जगत्पूज्य से उसी भाँति मिलन हुआ, जिस प्रकार पूणिमा का चन्द्रमा का सूर्य से होता है ॥ ६१ ॥

स तम्योपायनीचक्रे द्विकचक्रस्प्रलितध्रनिम् ।

अन्दिभ्रदाननिष्यन्दमात्मानमिव वारणम् ॥ ६२ ॥

उस रत्नचूड़ ने अपनी आवाज से दिशाओं को गुंजा देने वाले, सदैव मद बहाने वाले एक हाथी को राजा को भेंट के रूप में दिया, साथ ही साथ अपने आपको भी ॥ ६२ ॥

नृपस्य दीपिकाकृत्यं चक्रिरे तिमिरच्छिदः ।

पुरः प्रसर्पत्तत्सैन्यफणारतनांशुसूचयः ॥ ६३ ॥

अपनी फणाओं के मणियों की ज्योति की वक्तियों से जो अन्धकार को मिटा रही थीं, ऐसी उस रत्नचूड़ की आगे-आगे चलनेवाली नागसेना ने राजा के सामने आरती उतारने का काम किया ॥ ६३ ॥

क्रियताप्यथ कालेन सन्ततैः स प्रयाणकैः ।

प्रपेदे कुसुमाश्लेषसुगन्धिपवनं वनम् ॥ ६४ ॥

तब बहुत समय के पश्चात् लगातार पड़ाव पर पड़ाव डालता हुआ वह राजा पुष्पों से भरे सुगन्धि युक्त एक उपवन में पहुँचा ॥ ६४ ॥

दूतप्रस्थानम्

असुराधिपति साम्ना याचितुं हंमपङ्कजम् ।

स्थित्वा स तत्र पुरतो विससर्ज रमाङ्गदम् ॥ ६५ ॥

दूत को भेजना

सिन्धुराज ने वही रहकर शान्तिपूर्ण ढंग से वज्रांकुश राक्षस के पास स्वर्ण कमल को माँगने के लिए रमाङ्गद को आगे भेजा ॥ ६५ ॥

स च त्रिजगतः सारमादार्यत्र विनिर्मिताम् ।

उत्तङ्गरत्नप्रासादां प्राप रत्नवतीं पुरीम् ॥ ६६ ॥

रमाङ्गद तीनों लाकों के सार को लेकर बनाई गई ऊँचे-ऊँचे रत्नमण्डित महलों वाली उस रत्नवती नाम की राक्षस-नगरी में पहुँचा ॥ ६६ ॥

रामार्थवद्धकक्षेण प्रेषितः प्रभुणाऽविशत् ।

परिखार्णवमुल्लङ्घ्य स तां लङ्कामिवाङ्गदः ॥ ६७ ॥

रमणी की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत स्वामी के भेजने पर रमाङ्गद खाइयों से घिरी उस नगरी में उसी भाँति प्रविष्ट हुआ, जैसे राम के भेजने पर समुद्रों से घिरी लंका में श्रृंगद गया था ॥ ६७ ॥

कोऽयं कोप्ययमन्योन्यमेवं पल्लवितोक्तिभिः ।

कौतुकस्तिमिताक्षैः स पौरैश्चिरमद्दृश्यत ॥ ६८ ॥

अरे यह कौन है ? अरे होगा कोई ! इस प्रकार एक-दूसरे से आपस में कहते-कहते जब बात नगर में फैली तो नगरनिवासी आश्चर्य से आँखें खोल-कर बड़ी देर तक रमाङ्गद को देखते ही रह गये ॥ ६८ ॥

सचेन्द्रनीलहर्म्येषु ददर्शासुरकन्यका ।

लोलास्तमालश्यामेषु मेघेष्विव शतहृदा ॥ ६६ ॥

उसने इन्द्रनीलमणि मण्डित महलों में असुर कन्याओं को देखा । जो ऐसी शात हो रही थीं, मानो नील मेघों के अन्दर चंचल बिजलियाँ हों ॥ ६६ ॥

निषीयमान पौरम्भीनेत्रस्फटिकशुक्तिभि ।

वैरीद्विपघटासिह सिहद्वारमयाप स ॥ ७० ॥

पुरनारियो की स्फटिक की भाँति स्वच्छ नेत्ररूपी सिंघियाँ से जिसके रूप का पान किया जा रहा था, ऐसा वह वैरियों के गजसमूह के लिए सिंह-स्वरूप रमाङ्गद सिहद्वार (नगर के प्रमुख दरवाजा) पर पहुँचा ॥ ७० ॥

असुरेन्द्रस्य दो ऋण्डु स्थानैकभटाकुलम् ।

वीर सोऽविशदास्थानमथ द्वा स्थनिषेदित ॥ ७१ ॥

भुजाओं की कण्डु शमन के लिए जन्हे कोई स्थान नहीं था, ऐसे अनेक-योद्धाओं से भरे हुए, द्वारपाल के बताये हुए, दैत्यराज के उस समामण्डप में वह वीर पहुँचा ॥ ७१ ॥

असुरेन्द्रवर्णनम्

आसीनमञ्जनश्याममुर्ध्वं स्फटिकविष्टरे ।

हिमाचलेन्द्रशिखरे नरीनमिव नीरदम् ॥ ७२ ॥

राक्षसराज का वर्णन

ऊँचे स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ काले अञ्जन की आकृति वाला वह दैत्यराज ऐसा लग रहा था, मानो हिमालय की चोटी पर नया नील बादल विराजमान हो ॥ ७२ ॥

केयूरपद्मारागाशुमञ्जरीजप्लान्धुभौ ।

भुजौ विभ्राणमुज्ज्वालप्रतापज्वलनारिव ॥ ७३ ॥

पद्माराग (पना) की किरणों से चमकते हुए बाजूबन्दों से युक्त, प्रताप की अग्निज्वाला को धारण करने वाले उसके दोनों हाथ थे ॥ ७३ ॥

सरसा रूद्धगीर्वाणद्विपेद्रदकोटिना ।

हारवर्ली दधस्तलोला दोलामिव जयश्रिय ॥ ७४ ॥

देवगज पेरावत को युद्ध में रोक देने से उसके दाँतों से चिह्नित हृदय पर चञ्चल हार को उसने धारण किया था । जो जयलक्ष्मी के भूले की भाँति प्रतीत होता था ॥ ७४ ॥

दधानं दीप्तिपर्यस्ततिमिरौ मणिकुण्डलौ ।

वन्दीकृतौ सहैवोभौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ७५ ॥

अपनी चमक से अन्धकार को दूर करने वाले दो मणिकुण्डलों को उसने पहन रखा था, जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो उसने सूर्य और चन्द्रमा को एक ही साय बन्दी बना रखा हो ॥ ७५ ॥

वीरव्रतस्यालङ्कारमहंकारस्य जीवितम् ।
जगतामङ्कुशं तत्र स वज्राङ्कुशमैक्षत ॥ ७६ ॥

वीरव्रत के अलंकार अर्थात् आभूषण-स्वरूप अहंकार का मानो जीवित तथा तीनों लोकों पर अपना अंकुश रखने वाले उस वज्राङ्कुश को रमाङ्गद ने देखा ॥ ७६ ॥

तन्निदेशितमध्यास्त स हिरण्यमासनम् ।
नानारत्नांशुशवलं शृङ्गं मेरोरिवार्यमा ॥ ७७ ॥

तब संकेत पाने पर नाना रत्न-किरणों से सुशोभित स्वर्ण के आसन पर रमाङ्गद बैठ गया, मानो तुमैव पर्वत की चोटी पर सूर्य विराजमान हो ॥ ७७ ॥

दृतं प्रति प्रश्नः

कुर्वन् मुखानि स्मेराणि दशनज्योत्सनाया दिशाम् ।
विधाय सत्क्रियामेवमसुरेन्द्रस्तमब्रवीत् ॥ ७८ ॥
दृत रमाङ्गद से प्रश्न

दांतों की श्वेत ज्योति से दिशाओं के मुखों को भी श्वेत बनाते हुए, उस राक्षसेन्द्र ने आदर-सत्कार करके रमाङ्गद से यों कहा ॥ ७८ ॥

अहो किमपि कल्याणमासन्नफलमद्य नः ।

अन्यथा हि गृहं सन्तः किमायान्ति भवद्विधाः ॥ ७९ ॥

अहो आज हमारे किसी कल्याण का बड़ा भारी फल हमें मिला है । अन्यथा, अगर ऐसा न होता तो क्या आप जैसे सज्जन अतिथि मेरे घर आते ? ॥ ७९ ॥

यदाश्रमे बङ्कुमुनेर्युवयोर्वृत्तमद्भुतम् ।

तत् कर्णातिथितां नीतमेत्य प्रणिधिभिर्मम ॥ ८० ॥

आप लोगों ने जो अद्भुत कार्य बङ्कुमुनि के आश्रम में किये हैं, वे मेरे गुप्तचरों ने आकर मेरे भी कान तक पहुँचा दिये हैं ॥ ८० ॥

एतया साम्प्रतं ब्रूहि युतो विद्याधरैरयम् ।

किमाकाङ्क्षति वः स्वामी फलं पातालयात्रया ॥ ८१ ॥

अब यथाज्ञे कि विद्याधर-सेना ने युक्त होकर आपका स्वामी इस पाताल-यात्रा का क्या फल चाहता है ।

विमर्श—अर्थात् इस पातालयात्रा का उद्देश्य क्या है ? ॥ ८१ ॥

नियुज्यन्ते नृपेणार्थे नाल्पीयति भवान्शा ।

शेषो घृतेर्भुवोऽन्यत्र व्यापारयति ऋ फणान् ॥ ८० ॥

राजा आप जैसे महानुभाव को छोटे मोटे काम के लिए कमी नियुक्त नहीं कर सकता अर्थात् आप को किसी बड़े ही काम के लिये भेजा होगा । शेषनाग धरती के धारण के अतिरिक्त और किसी काम के लिये अपनी पत्थाओं को नहीं उठाता ॥ ८० ॥

तदत्र प्रहितो राज्ञा किमर्थमसि कथ्यताम् ।

अथिना व्यर्थतामेति न जातु प्राथना मयि ॥ ८१ ॥

तो बताइये, राजा ने आपको किसलिए यहाँ भेजा है ? मुझसे जो भी याचक प्रार्थना करते हैं, उनकी प्रार्थना कमी निफल नहीं होती ॥ ८१ ॥

रमाङ्गदोक्तिः

मार्गैरिवायतैर्वाचा शुचिभिर्दशानाशुभि ।

सीमन्तिताधर म्भित्वा तमित्यूचे रमाङ्गद ॥ ८४ ॥

रमाङ्गद का कथन

वाणी के लिए मानो विस्तृत मार्गरूप अपनी शुभ्र दन्त किरणों से अधरो को सुशोभित करत हुए अर्थात् हँसते हुए रमाङ्गद ने उससे कहा ॥ ८४ ॥

आसा मुधारसार्द्राणा शुद्धानामसुराधिप ।

गिरा त्वमेको यन् सत्यमिन्दुर्भासामिगकर ॥ ८५ ॥

इन मुधारस से भरी शुद्ध वाणियों के तुम उसी प्रकार भण्डार हो, जैसे चन्द्रिका का भण्डार चन्द्र है ॥ ८५ ॥

कच्चिच्चवयाऽयमज्ञायि देव साहसलाञ्छन ।

जगत्प्रदीपमथवा को न वेत्ति विरोचनम् ॥ ८६ ॥

क्या तुम हमारे स्वामी नवसाहसक को जानते हो ? अथवा जगत् को प्रकाशित करने वाल सूर्य को भला कौन नहीं जानता ॥ ८६ ॥

फणिराजमुत्तामेप परिणेतु शशिप्रभाम् ।

पथानेन रथक्षुण्णरत्नशैलेन गच्छति ॥ ८७ ॥

यह राजा नागराज की कन्या शशिप्रभा से विवाह करने के लिए रथों से रत्नमय पर्वतों को तोड़ता हुआ इसी मार्ग से जा रहा है ॥ ८७ ॥

त्वद्वापिहेमपद्मेन शुल्कसंस्था कृता क्लि ।

अस्या पित्रेति देवेन तदर्थं प्रहिता वयम् ॥ ८८ ॥

शशिप्रभा के पिता ने तुम्हारी बावड़ी के स्वर्णकमल को लाने वाले पुरुष को उसे ब्याहने का निश्चय किया है, प्रतिज्ञा की है । अतः उसी स्वर्णकमल के लिए राजा ने मुझे यहा भेजा है ॥ ८८ ॥

अनेनेच्छसि चेन् कर्तुं सख्यं साहसलक्ष्मणा ।

तन् कार्तस्वरराजीवमानीय स्वयमर्चयताम् ॥ ८६ ॥

यदि तुम उस नवसाहस्राङ्क राजा से मित्रता करना चाहते हो, तो स्वयं ही अपनी वावड़ी से स्वर्णकमल लाकर उनको अर्पित कर दो ॥ ८६ ॥

लुम्पन्ति त्वन्मुखच्छायां यावन्नास्य चमूरजः ।

कुरुष्व तावदातिथ्यं हेमाञ्जेन महीभुजः ॥ ९० ॥

जबतक तुम्हारे मुख की कान्ति को उसकी सेना की चरण-धूलि मलिन नहीं करती, तब तक ही स्वर्णकमल द्वारा उस राजा का अतिथि-सत्कार कर दो ।

विमर्श—अर्थात् विना युद्ध के ही कमल देकर मित्रता कर लो ॥ ९० ॥

किमन्यन् नार्थिना मत्तो विघटन्ते मनोरथाः ।

इति त्वया स्वमेवाशु प्रमाणीक्रियतां वचः ॥ ९१ ॥

और क्या कहें, तुमने स्वयं ही कहा है कि मेरे पास आनेवाले याचकों के मनोरथ विफल नहीं होते । इसलिए अपने वचनों को शीघ्र सत्य प्रमाणित कर दो ॥ ९१ ॥

इत्युक्तवति सामर्षभट्टदृष्टे यशोभटे ।

प्रत्यभापत सावज्रं विहस्यामुरकुञ्जरः ॥ ९२ ॥

क्रोधयुक्त बोद्धाओं के द्वारा देखे जाते हुए रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर हँस कर अवहेलना (लापरवाही) के साथ उस असुरराज ने यों कहा ॥ ९२ ॥

वज्राङ्कुशवाक्यम्

अहो वत विदग्धोऽपि धिङ् मुग्ध इव लक्ष्यसे ।

विदुपापि त्वया किञ्चिद्यदुक्तमसमञ्जसम् ॥ ९३ ॥

वज्राङ्कुश का उत्तर

अहो ! तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख जैसे मालूम पड़ रहे हो, क्योंकि विद्वान् होते हुए भी तुमने युक्तिसंगत बात नहीं कही ॥ ९३ ॥

यूयं क्व मानुषाः पृथ्वीसङ्कटस्वाम्यदुःस्थिताः ।

साच त्रिजगतां भर्तुरुचिता वय शशिप्रभा ? ॥ ९४ ॥

पृथ्वी पर वर्तमान अनगिनत संकटों का तुमपर आधिपत्य रहता है, अतएव दुरवस्था से युक्त तुम मानव कहाँ और वह तीनों लोकों के स्वामी के (मेरे) लायक शशिप्रभा कहाँ ॥ ९४ ॥

तादृङ्मदङ्कमेवात्र स्त्रीरत्नमधिरोहति ।

रमते हि हरस्यैव मौलाविन्दुकलाङ्करः ॥ ९५ ॥

ऐसी रत्नरूप स्त्री तो मेरी गोद ही शोभा हा सकती है, क्योंकि चन्द्रमा की कला शिव के सिर पर ही शोभा पा सकती है ॥ ६५ ॥

यद्यदस्तीह पाताले रत्न क्वचन विश्र्वन ।

भाजन तस्य तस्याहमेक के यूयमुन्यताम् ॥ ६६ ॥

इस पाताललोक में जहाँ कहीं पर भी जो कोई भी रत्न है, उसका एकमात्र मैं ही अधिकारी हूँ । सोलो, तुम लोग कौन होते हो ? ॥ ६६ ॥

सहते नृपतौ नैव हेमतामरमार्पणम् ।

ममैव शक्रविनयमीडादुर्ललितो भुज ॥ ६७ ॥

इन्द्रविजय की कठिन क्रीडा करने का अभ्यासी मेरा यह हाथ राजा (सिन्धुराज) को इस प्रकार स्वर्णकमल समर्पण कभी नहीं सह सकता है ॥ ६७ ॥

प्रभुस्तत्र नयत्तोऽपि किमनर्थाय केवलम् ।

दीर्घेदीपरमालेति विकर्षत्यसितोरगम् ॥ ६८ ॥

न्याय का शाता होकर भी तुम्हारा स्वामी केवल अनर्थ उत्पन्न करने के लिए कमल की माला समझकर काले साप को क्यों खींचना चाहता है ? ॥ ६८ ॥

इत एव निरर्तध्व वर्तध्व उचने मम ।

अप्रटे किमिति क्षेपुमात्मान यूयमुद्यता ॥ ६९ ॥

मेरे वचनों को मान कर तुम लोग अर यहीं में लौट जाओ । व्यर्थ में ही क्या तुम लोग अपने आपको गर्त (आपात्त) में डालना चाहते हो ? ॥ ६९ ॥

यावदेते न मुञ्चन्ति मर्यादामसुराब्धय ।

तावद्दूरापसारेण स्वामिन त्रातुमर्हथ ॥ १०० ॥

जब तक यह राक्षस सेनारूपी समुद्र मर्यादा को नहीं छोड़ता अर्थात् तुम लोगो को नहीं समाप्त कर देता, तब तक दूर भाग कर अपने स्वामी को बचा लो ॥ १०० ॥

नरेन्द्र दुजिगीपातस्तद्गच्छ विनियारय ।

त्वान्शः त्रिमुपेक्षते पतिमुत्पथगामिनम् ॥ १०१ ॥

यह राजा विजय की दुरभिलाषा कर रहा है, इसलिए जाओ, उसे इस मयानक विजिगीषा से रोको । तुम जैसे बुद्धिमान व्यक्ति क्या कुमार्य पर जाने वाले अपने स्वामी की उपेक्षा कर सकते हैं ? ॥ १०१ ॥

अथवाऽस्यास्ति शक्तिश्चेत् किमद्यापि विलम्बते ।

आयातु स्वयमादातुमित काञ्चनपङ्कजम् ॥ १०२ ॥

अथवा उसमें कुछ शक्ति है तो अब देर क्यों कर रहा है, वह स्वयं यहाँ आये और स्वर्णकमल को ले जाय ॥ १०२ ॥

किमन्यज्जायतामेप खड्गधारातिथिर्मम ।

इत्युक्त्वा कोपतरलं विररामागुरेश्वरः ॥ १०३ ॥

और क्या कहूँ, वह आये और मेरी तलवार की धार का अतिथि बने, ऐसा कहकर गुस्से में भरकर वह असुरराज वज्रांकुश मौन हो गया ॥ १०३ ॥

रमाङ्गदस्य प्रतिवचनम्

धैर्यं संवृतक्रोपोऽथ स्मयमानो रमाङ्गदः ।

तामत्यमुक्तपर्दङ्कः प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ १०४ ॥

रमाङ्गद का उत्तर

क्रोध को रोककर, धैर्य धारण कर रमाङ्गद ईसता हुआ आसन पर ही स्थिर बैठकर उसको उत्तर देने के लिए तैयार हुआ ॥ १०४ ॥

निर्वाणवीर्यवातेऽस्मिन् रसातलविलोदरे ।

अभुग्नभुजकण्डूतिरहो किमपि दृश्यसे ॥ १०५ ॥

नष्ट हो गया है पराक्रम रूपी वायु जिसका, ऐसे पाताललोक में मालूम होता है तुम्हारे हाथों की खुजली अभी बाकी रह गयी है ॥ १०५ ॥

मन्ये तवैतन्नोरन्ध्रमज्ञातस्वपरान्तरे ।

पातालचिरसंवासाच्चित्ते परिणतं तमः ॥ १०६ ॥

ऐसा लगता है कि पाताललोक में अधिक समय तक रहने से संसर्ग के कारण यहाँ का अन्धकार तुम्हारे चित्त में भी प्रवेश कर गया है, जिसके कारण तुम्हें स्व-पर का ज्ञान नहीं हो रहा है ।

विमर्श—अँधेरे में भी मनुष्य को अपना-पराया कुछ नहीं सूझता ॥ १०६ ॥

यां हरस्याष्टमीमाहुर्मूर्तिमाहुतिलेहिनीम् ।

तत्सूतिः प्रागभूद्भर्ता परमार इति क्षितः ॥ १०७ ॥

जिसे साक्षात् शिव की अष्टम मूर्ति—अर्थात् आहुति को चारने वाली आग कहते हैं, उसी अग्नि के वंश से उत्पन्न समस्त जगत् का स्वामी परमार इस नाम से एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ १०७ ॥

कृतावतारं तद्वंशे वधाय विबुधद्विपाम् ।

किमादिदेवं कंसारि धिङ् मर्त्यं इति मन्यसे ॥ १०८ ॥

उसी वंश में अवतार लेकर दैत्यों का नाश करनेवाले कंस के शत्रु आदिदेव को तू मनुष्य समझता है ? धिक्कार है तुझे !

विमर्श—अर्थात् सिन्धुराज तो साक्षात् विष्णु का अवतार है ॥ १०८ ॥

कमलेव मुकुन्दस्य पार्वतीव पिनाकिनः ।

फणिकन्योचिता पत्नी सा महीमीनलक्ष्मणः ॥ १०९ ॥

जिस माँति कमला विष्णुपत्नी है, जैसे कि पार्वती शिवपत्नी है, वैसे ही वह नागराजपुत्री भी धरती के कामदेवस्वरूप उस सि-धुराज की उचित रूप में पत्नी होने योग्य है ॥ १०६ ॥

ता हठेनात्मसात्कर्तुमसुरेन्द्र न शक्यसे ।

न रत्नसूचिमाक्रष्टुमयस्कान्तस्य योग्यता ॥ ११० ॥

हे असुरराज ! तुम जबर्दस्ती उस नागपुत्री को अपनी स्त्री नहीं बना सकते हो । क्योंकि रत्न शलाका को खींचने की शक्ति लोहा खींचने वाले चुम्बक में नहीं होती ॥ ११० ॥

पद पथि निधत्सेऽत्र किमन्यायमलीमसे ।

अपथे चरता यान्ति दूराद्दूरं विभूतय ॥ १११ ॥

तुम अन्यायपथिल इस मार्ग पर क्यों पैर रख रहे हो ? कुमार्ग पर चलने-वाले लोगों से समृद्धियाँ बहुत दूर हट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं ॥ १११ ॥

अनर्पण महीपाले हेमपङ्के रुहस्य यत् ।

तयापरिघमुत्प्रेक्षे तदेव द्वारमापदाम् ॥ ११२ ॥

तुम जो सि-धुराज को स्वर्णकमल नहीं दे रहे हो तो ज्ञात होता है कि तुम्हारे लिए अब वही आपत्तियों का द्वार हो जायगा, अर्थात् स्वर्णकमल न देकर तुम व्यर्थ आपत्ति मोल ले रहे हो ॥ ११२ ॥

राजेन्द्रदीपके तस्मिन् समराङ्गणवर्तिनि ।

एते भटास्ते न चिरादायास्यन्ति पतङ्गताम् ॥ ११३ ॥

युद्ध के मैदान में आये हुए उस राजेन्द्ररूपी दीप के सामने तुम्हारे ये योद्धा लोग शीघ्र ही पतितों की भाँति प्राण खो बैठेंगे ॥ ११३ ॥

तथा विधेहि न यथा त्वदन्त पुरयोपिताम् ।

करपल्लवशय्यासु शेरते वदनेन्दव ॥ ११४ ॥

ऐसा करो, जिससे तुम्हारे रनिवास की स्त्रियों के मुखचन्द्र उनके हाथ-रूपी शय्या पर न लेंटें । अर्थात् उन्हें वैधव्य दुःख के कारण हथेलियों पर मुन्ब धरकर शोक न करना पड़े ॥ ११४ ॥

प्रयुत्तपतिशोकार्तिपौरस्त्रापरिदेवना ।

इयमुत्सन्नसगीता मा भूद्वत्नवती पुरी ॥ ११५ ॥

ऐसा करो, जिससे पतिशोक से भरी पुरनारियों के कृष्ण कन्दन से युक्त तुम्हारी यह रत्नवती पुरी सगीतादि विनोद से शून्य न हो जाय ॥ ११५ ॥

देवस्थापितहमाब्जस्तदेहि पत पादयो ।

शिर पुनतु ते कामं पुण्यास्तत्पादपासव ॥ ११६ ॥

तो आओ और सिन्धुराज को स्वयं स्वर्ण-कमल देकर उसके चरणों पर गिरो, जिससे उसके चरणों की धूल तुम्हारे सिर को पवित्र कर सके । ११६ ॥

अथवा नुभट्टः सार्धमुत्तिष्ठ पुरतो भव ।

समं विद्याधरानीकरयमायाति भूपतिः ॥ ११७ ॥

अथवा तुम्हें ऐसा नहीं करना है तो अपने बीरों के साथ उठ खड़े हो जाओ और युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । यह सिन्धुराज तो विद्याधरी सेना के साथ युद्ध के लिए आ ही रहा है ॥ ११७ ॥

किमन्यन् सममेतेन शिरस्तामरमेन ते ।

हेमकोकनदं देवः स्वयमेव ग्रहीष्यति ॥ ११८ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सिर लपी कमल के साथ ही स्वामी सिन्धुगज स्वयं ही स्वर्ण-कमल को भी ग्रहण करेंगे ॥ ११८ ॥

रमाङ्गदागमनम्

तमित्युक्त्वा सभामध्याग्निर्जगाम रमाङ्गदः ।

निकटं च रणोत्कस्य जगाम जगतीपतेः ॥ ११९ ॥

रमाङ्गद का वापस जाना

वज्राङ्कुश से ऐसा कहकर सभा के मध्य से वह रमाङ्गद निकल गया, और रण मन्चाने के लिए उत्कल जगत के स्वामी नवसाहसाङ्क के पास पहुँचा ॥ ११९ ॥

अथ वदति शनैः समेत्य तस्मिन् अमररिपोर्वचनानि तानि तानि ।

असुरपतिविनाशकालरात्रिं भृङ्गुटीमुवाह मुखेन मालवेन्द्रः ॥ १२० ॥

तब राजा के पास आकर अमुरराज वज्राङ्कुश के उन-उन वचनों को कहते ही असुरपति के विनाश के लिए मालवेन्द्र ने मानो छालरात्रि रूपी मौहों को चढ़ाया ॥ १२० ॥

गत्वा विद्याधरभटचमूचक्रवालैः समं स

च्चापालोऽथ व्यधित् परितस्तत्पुरो रत्नवत्याः ।

येन व्यक्तामरजयमहासाहसस्यासुराणां

नाथस्यासीन्नवपरिभवश्यामला वक्त्रलक्ष्मीः ॥ १२१ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये कनकारविन्द-

प्रार्थनी नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

तव विद्याधर-वीरों की सेना की पक्षियों के साथ वहाँ जाकर पृथ्वीपति नवसाहसाङ्क ने सारी रत्नवती को घेर लिया । जिससे देवताओं पर स्पष्ट रूप से विजय करनेवाले साहसी दानवों के स्वामी उस वज्राकुश के मुख की शोभा कालिमा से युक्त हो गई । उसका मुख भय के कारण बाला हो गया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्कदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्क-
चरित में स्वर्ण कमल की प्रार्थना नामक सोल-
हवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः सर्गः

सत्रहवाँ सर्ग

युद्धवर्णनम्

अथाहिविद्याधरराजसैन्यैर्निपीडितायां पुरि रत्नवत्याम् ।

भटाः सकोपं भुजदर्पभाजो निर्जग्मुराकृष्टकृपाणपट्टाः ॥ १ ॥

युद्ध का वर्णन

इसके पश्चात् नाग एवं विद्याधरराज की सेनाओं से पीडित रत्नवती पुरी में, अपनी भुजाओं पर गर्व करनेवाले, तलवारों को बाहर खींचे हुए योधा लोग गुस्से में भरकर मकानों से बाहर निकल आये ॥ १ ॥

अन्योन्यसंघट्टवशेन तेषाम् उदञ्चिताः काञ्चनकङ्कटेभ्यः ।

युगान्तकालानलबीजशङ्कां न कस्य चक्रुः शिखिनः स्फुलिङ्गाः ॥ २ ॥

उन योद्धाओं के स्वर्ण के अल जव आपस में एक-दूसरे के साथ परस्पर टक्कर खाते थे, तब उनमें से भयानक अग्नि-कण निकलते थे । उन्हें देखकर फिसे प्रलयकालीन अग्नि के बीज की शंका न होती ॥ २ ॥

भालेषु भीमा भृकुटीर्वहन्तो भृङ्गत्विपश्चासिलताः करेषु ।

खुराग्रस्त्रणावनिभिः सरोपं निरीयुरन्ये चतुरैस्तुरङ्गैः ॥ ३ ॥

माथे पर टेढ़ी भौंहे चढ़ाये हुए, हाथों पर काली चमचमाती तलवारों को लिए, खुरों से धरती को खोदनेवाले चतुर घोड़ों को लेकर कोई-कोई अति क्रोध में निकले ॥ ३ ॥

न्यभादनीकं करिणां च सान्द्रसिन्दूरपूरारूणगण्डभित्ति ।

प्रत्यग्रदावानललीढकोटिकुलाचलेन्द्रप्रचयोपमेयम् ॥ ४ ॥

तुरन्त के लगाये गये घने सिन्दूर से भरे लाल गरडस्थलों वाले हाथियों की सेना ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो जंगल की आग द्वारा अभी-अभी जलाये गये श्रेष्ठ पर्वतों का समूह एकत्र हो गया हो ॥ ४ ॥

पुरो रणोत्सेकभृतां निरुद्धम् ओघेन विद्याधरवाहिनीनाम् ।

तन् प्रञ्जितं सैन्यममर्त्यशत्रोर्वभूव मूले मणितोरणस्य ॥ ५ ॥

सामने रण के लिये उतावले बने विद्याधर-सेना के समूह ने उस सैन्य को आगे से रोका, तब राक्षस की वह सारी सेना मणितोरण (मुख्यदार) के पास आकर एकत्र हो गई ॥ ५ ॥

सारोपमारोपितचापयष्टिर्निऋतूणीरयुगो गजस्य ।

मनिजगामाय महासुरेन्द्रो वेगादहङ्कार इवात्तदेह ॥ ६ ॥

गर्द में भरकर, अपने घनुय पर डोर चटाकर, दोनों कन्धों पर तरकश सँभालकर, हाथी पर बैठकर, वह असुरेन्द्र वज्राकुरा साक्षात् अहंकार की मूर्ति बनकर युद्ध के लिए तेजी से निकल पड़ा ॥ ६ ॥

युगात्ययाम्भोधरनाधीरन्तस्योद्गत मङ्गरतूर्यघोष ।

उद्धप्रतिश्रन्ति नितान्तभीमहृचकार पातालत्रिलोदराणि ॥ ७ ॥

प्रलयकालीन मेघ की भांति गम्भीर ध्वनि वाला उसकी युद्ध यात्रा का नगाडा जोर से बज उठा । उसका नाद बड़ा भयानक था, उसकी ध्वनि से सार पाताललोक का आठमत गूँज गया और प्रतिध्वनित हुआ ॥ ७ ॥

सत्पुष्करानञ्जनपुञ्जभास पथो जयम्याथ गजानसीश्च ।

व्यापारयन्ति स्म रयेण वीरास्तप्रेरिता वैरिवरूथिनीषु ॥ ८ ॥

मुडौल सुन्दर छुण्डाग्रभाग वाले तथा कज्जल की भांति कृष्ण वर्ण के गजों और तलवारों से युद्धस्थल पर उसके भेजे हुए वीर शत्रुसेना (सिंधुराज की सेना) पर आक्रमण करने लगे ॥ ८ ॥

परस्परापातिवृषाणनिर्यैत्ज्वालावलीपन्लवितान्तरिक्ष ।

अभूत् प्रवृत्त समरो महाद्विधाधरेन्द्रामुरपुङ्गवानाम् ॥ ९ ॥

एक दूसरे के ऊपर गिरती हुई तलवारों से निकलती हुई अग्निज्वाला से अन्तरिक्ष को आच्छादित करता हुआ भेद्य नाग विद्याधरराज की सेना से महाबलशाली राक्षसराज की सेना का घोर युद्ध होने लगा ॥ ९ ॥

वीरेषु धावत्सु चरत्स्वमन्द गजेषु चत्सु तुरङ्गमेषु ।

अकालकल्पात्ययशङ्कितानि चक्म्पिरे सप्तरसातलानि ॥ १० ॥

जब वीर दौड़ने लगे, हाथी बड़ी तेजी से आक्रमण के लिये इधर उधर चलने लगे, जब घोड़े मचल मचल कर दिनदिनाने लगे, तब अकाल में ही प्रलय की आशंका करने वाल सात रसातल काँप उठे ॥ १० ॥

प्रकाशयन्त करणप्रपञ्च मुराङ्गनाभि स्पृहयेद्यमाणा ।

अत्यद्भुतम् नृत्तमिबारभत्त भटा रणप्राङ्गणरङ्गमध्ये ॥ ११ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रों के सज्ज को चम्चमाने वाले, देवशिर्यों के द्वारा बड़े चाव से देखे जाते हुए वीर रणप्राङ्गण की रङ्गभूमि पर एक अद्भुत प्रकार का नृत्य जैसा दिखाने लगे ॥ ११ ॥

उत्प्लुत्य वेगात् पवमानमार्गं विद्याधरैर्दानजलाविलानि ।

पटु व्यपाटयन्त मतङ्गजाना वीक्षणासिपत्रकचै शिरासि ॥ १२ ॥

विद्याधर-वीरों ने तेजी से आकाश-मार्ग में उछलकर मदभरे हाथियों के गण्डस्थलों को अपनी तलवार की तेज आरों से भली प्रकार काटना शुरू किया ॥ १२ ॥

निपत्य कुम्भेषु महागजानां नीरन्ध्रमुक्तेषु पट्ट कणन्तः ।

भान्ति स्म विद्याधरपुङ्गवानाम् मुक्तादृहासा इव खट्वगपट्टाः ॥ १३ ॥

घने मुक्ताश्रों वाले महागजों के माथों पर चोट दे कर जोर से वजते हुए विद्याधरों के खट्वग ऐसे चमचमा रहे थे, मानो हँस रहे हों ॥ १३ ॥

आवर्ततामूर्मिलतायमाननिस्त्रिशवल्लीवलयकुलासु ।

प्रपेदिरे पूर्वसुरोज्झितानि चक्राणि विद्याधरवाहिनीषु ॥ १४ ॥

लहरों की तरह बल खाती हुई तलवारों रूपी लताओं के वलय से घिरी हुई विद्याधर-सेनाश्रों पर पहले दानवों के छोड़े हुए चक्र पड़ रहे थे ॥ १४ ॥

फणावलीष्वापतितोरगाणाम् अफल्गुरत्नोपलककशासु ।

कृपाणधारा मसृणीवभूव महासुराणां न तु सङ्गरेच्छा ॥ १५ ॥

सर्पराजों की सच्चे रत्नों से षटोर बनी हुई मणिपर्णियों पर पड़नेवाली उन दानवों की तलवारों की धार कुण्ठित हो गई, पर उनकी युद्ध करने की इच्छा कुण्ठित नहीं हुई ।

विमर्श—नागों की फणाश्रों पर अपनी तलवारों की धार को निष्फल होते देखकर वे वीर उदास और हतोत्साह नहीं हुए, अपितु उनकी युद्ध करने की इच्छा और भी प्रबल होती गयी ॥ १५ ॥

आध्मान्ति पातालतले प्रसस्रुः क्षितौ विलद्वारविनिर्गतानि ।

ज्याशब्ददृष्टासुरसिंहनादतुरङ्गहेपागजवृंहितानि ॥ १६ ॥

धनुष की टंकार, बीच-बीच में जीतने के कारण प्रसन्न हुए दैत्यों की सिंह-गर्जना, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों की चिंग्वाड़—ये सब प्रथम पाताल में ध्वनित हुए और बाद में विलद्वार से निकलकर धरती पर फैलने लगे ॥ १६ ॥

प्रधावदश्वीयखुराहतानाम् अभ्युद्गतो रत्नभुवां परागः ।

गीर्वाणचापच्छवित्वाञ्छितानि कृत्स्नानि चक्रे ककुभां मुखानि ॥ १७ ॥

दौड़ते हुए घोड़ों के खुरों से खुदकर उठी हुई रत्नमयी भूमि की रंग-विरंगी धूल ने समस्त दिशामुखों को इन्द्रधनुष की छवि से सुशोभित कर दिया ॥ १७ ॥

भटास्त्रपूर्णैः परितो गजानां स्वदानपङ्कोपचितैः पदाङ्कैः ।

भयङ्कराऽभूत्तरुणार्कविम्बसहस्रकीर्णैव रणाङ्गणोर्वी ॥ १८ ॥

वीरों के अस्त्रों से पूर्ण, चारों ओर हाथियों के अपने ही मद के कीचड़

वाले पदविन्हो से रण भूमि रक्तवर्ण के सहस्र सूर्यविम्बों से मानो व्याप्त होकर मयकर हो गई थी ।

विमर्श—रक्तरञ्जित हाथियों के पैरों के चिह्न सूर्यविम्ब की तरह लग रहे थे ॥ १८ ॥

छना समूल सुभटासिपत्रैः सहस्रशः शोणितशोकराद्रां ।

उत्तालवैषस्वततालवृन्तमिच्छित्तिमूहं करिकर्णवाला ॥ १९ ॥

योद्धाओं की तलवारों द्वारा बड़मूल से ही काटे गये अतएव रक्त कणों से आर्द्र हाथियों के हजारों कर्णरूपी तालपत्र वैवस्वत के अति ऊँचे व्यजन (चँवर) की शोभा को धारण करने लगे ॥ १९ ॥

अन्योन्यमृत्ताम्बरमा भटाना ननातपाताम्रनसत्विपोऽग्रे ।

मुजा निपेतु सममीक्षणेन समीक्षित्वा इव पन्नगेन्द्रा ॥ २० ॥

क्रोध में एक दूसरे के द्वारा काटे हुए, नवीन बालरवि की लालिमा की भाँति लाल नखकान्ति वाले हाथ धरती पर गिर पड़े और पत्थाओं पर रत्न धारण करने वाले नागराज भी देखते ही देखते शिर रहित होकर धरती पर कट-कट कर गिरने लगे ॥ २० ॥

अङ्गादसिप्रासपृपत्कभिन्नादसृक्प्रवाहेषु भृशं बहत्सु ।

लोलागलद्गैरिकनिर्झराणां राजैर्जगाहे कुलपर्वतानाम् ॥ २१ ॥

तलवार, भाले और त्राण हाथियों के शरीरों में चुसकर उन्हें द्रतविन्नत कर रहे थे, जिससे अत्यधिक लून बह रहा था । उस समय वे हाथी ऐसे लग रहे थे, मानो गेरु के भरने जिनपर बह रहे हों, ऐसे ऊँचे-ऊँचे विशाल पहाड़ हों ॥ २१ ॥

दमाया वभुः सङ्गपृथक्कृतानि सहस्रशः शस्त्रभृता शिरासि ।

कालेन समामसरोन्तरालाद् उत्सृण्वितानीय सरोरुद्वाणि ॥ २२ ॥

तलवारों से कटकर धरती पर गिरे हुए सहस्रो शस्त्रधारियों के सिर ऐसे लग रहे थे, मानो ऋग्वेद के द्वारा खण्ड खण्ड किये गये कमल समाम रूपी तालाब से बाहर पँके जा रहे हों ॥ २२ ॥

कनधकण्ठोच्छलदस्तवन्त समीपमेत्योपरि कङ्कयूथम् ।

मुहूर्तमिद्धास्तरत्नदण्डम् अदृश्यत च्छत्रमिगान्तकस्य ॥ २३ ॥

शिर विहीन शरीर के गले से निकलते हुए रक्त से सने श्रीर समीप में आकर एक के ऊपर पत्नी एक एक लाशों के ढेर पर बैठे गीच थोड़ी देर के लिए ऐसे दिग्गई दिये, मानो लाल रत्ननिर्मित दण्ड से युक्त यमराज के कद छुत्र हों ॥ २३ ॥

मुक्तैः समूहेन नभश्चराणां कुम्भेषु चक्रैः करिणा पतङ्गि ।

अस्ताचलध्यायतवप्रपातिपतङ्ग विम्बानुवृत्तिर्वितेने ॥ २४ ॥

विद्याधर-समूह द्वारा छोड़े गये चक्र जब हाथियों के गण्डस्थलों पर आकर गिरने लगे, तब ऐसा लग रहा था, मानो अस्ताचल के विशाल शिखर पर गिरने वाले बहुत से सूर्यमण्डल हों ॥ २४ ॥

पतद्भटं निर्दलिताश्ववारं निकृत्तमत्तेभकरं क्षणेन ।
व्यधायि विद्याधरसैनिकैस्तन् सनागवीरैरसुरेन्द्रसैन्यम् ॥ २५ ॥

विद्याधर-सैनिकों ने नागवीरों के साथ मिलकर राजसों की उस सेना के वीरों को मार डाला, घुड़सवारों को नष्ट कर दिया और क्षण भर में मन्दोन्मत्त हाथियों की सूँड़ों को काट कर गिरा दिया ॥ २५ ॥

हंसैरिव स्मेरतटाः समन्तात् परिच्युतैः कुञ्जरकर्णशंखैः ।

बोहुं प्रवृत्ता भवदुत्तरङ्गा झटित्यगाधा रुधिरस्रवन्ती ॥ २६ ॥

हाथियों के गिरे हुए सफेद कर्णशंखों से जिसमें हंसों के कारण शोभित तट की शोभा आ गयी थी, ऐसी तथा उत्तुङ्ग लहरों वाली वह रक्त की नदी उन सवधो अपने में समाने के लिए तैयार हो गई ॥ २६ ॥

विद्याधरव्यालभटावलुप्रधैर्येषु नश्यत्सु महासुरेषु ।

विश्वाङ्कुशो नाम सुरारिसूनुरथो रथेनाजिमर्हो विवेश ॥ २७ ॥

विद्याधर और नागसेना के वीरों ने जब बड़े-बड़े दैत्यों को मार-मारकर उनका सारा धैर्य ही नष्ट कर दिया, तब राजमेन्द्र बजाङ्कुश का विश्वाङ्कुश नामक पुत्र रथ पर चढ़कर रणभूमि में आया ॥ २७ ॥

आकर्णकृष्णात् धनुषः पतद्भिर्वालिन्दुलेखाकृतिभिः पृपत्कैः ।

अरातिसैन्ये रणधीरवीरान् भीरुनिवैको विमुखीचकार ॥ २८ ॥

फान तक खींचे गये धनुष से बालचन्द्र की आकृति वाले बाणों के छूटने पर शत्रुसेना में उस अकेले ने ही सब रणधीरों को भीरु बना दिया ।

विमर्श—अर्थात् उसके बाणों की चोट खाकर विद्याधर तथा नागों का धैर्य विगलित होने लगा ॥ २८ ॥

तद्वीर्यनिर्वासितसौष्ठवानां विद्याधराणामपतन् करेभ्यः ।

धाराप्रलग्नद्विपकुम्भमुक्ताः सवाष्पलेशा इव खड्गलेखाः ॥ २९ ॥

उसके पराक्रम से पराजित वीरता वाले विद्याधरों के हाथों से धार पर लगे गजमुक्ताओंवाली तलवारों जब धरती पर गिरों, तो ऐसा दिखाई दिया, मानो वे बड़े-बड़े मोती उनके पराजित होने के आंसू हों ॥ २९ ॥

क्षणाद्बलन्ति स्म तटाहतानि ब्रह्मानि विद्याधरपन्नगानाम् ।

सरित्पयांसीव निशाकरांशुप्रप्रवृद्धार्णवपीडितानि ॥ ३० ॥

विद्याधर और नागों की सेनायें उसकी मार खाकर पीडित होकर इस

प्रकार भाग खड़ी हो रही थीं, जैसे चन्द्र किरणों के सम्पर्क से बड़े हुए समुद्र के अन्त से पीड़ित नदियों का जल ॥ ३० ॥

न शेक्तुस्तस्य गतिं निरोद्धु विद्याधरेद्रोरगराजपुत्रौ ।

रत्नाकरस्येव महेन्द्रसह्यावसहावेग प्रलयोत्थितस्य ॥ ३१ ॥

विद्याधरपुत्र शशिखण्ड और नागपुत्र रत्नचूड भी उसकी गति को रोकने में उसी भाँति असमर्थ रहे, जैसे प्रलयकालीन समुद्र के बड़े हुए वेग को रोकने में इन्द्र और सह्याद्रि ॥ ३१ ॥

दोर्दण्डकण्डूतिमथास्य हर्तुम् सद्भूलतं भूपतिना नियुक्त ।

जगज्जगामाजिपथं रथेन रमाङ्गद कुण्टलितोऽप्रचाप ॥ ३२ ॥

तब उस असुर के भुजाओं की खुजली को मिटाने के लिये रामा का द्वारा नियुक्त रमाङ्गद अपना धनुष तान कर शीघ्रता के साथ रणभूमि के मार्ग पर रथ से चल पड़ा ॥ ३२ ॥

तथोपलेभे समरोन्मुखस्य नादेन वृद्धि शरजन्मनास्य ।

चक्रे पद बाष्पकणोत्क्रेण यथा कपोलेश्वसुराङ्गनानाम् ॥ ३३ ॥

इधर युद्धस्थल पर जानेवाले रमाङ्गद के बाणों का आवाज बड़ी और उधर राक्षसों की क्रियों के कपोलों पर आसुओं की वृद्धि होने लगी ।

विमर्श—अर्थात् उसने आते ही दैत्यों को मारना प्रारम्भ कर दिया, अतः दैत्यस्त्रियाँ वैधव्य हुआ से रोने लगी ॥ ३३ ॥

दूरात् सुपर्वारिसुतं रथेन स रहसा सम्मुखमापतन्तम् ।

रुरोध त वाणपरम्पराभियशोभट कर्णमिवेन्द्रसूनु ॥ ३४ ॥

कोच में शीघ्रता से रथ पर बैठे अपनी ओर आते हुए देवताओं के शत्रु यज्ञाकुश के उस पुत्र को वाणों की वर्षा कर रमाङ्गद ने उसी भाँति रोका जैसे कर्ण को अर्जुन ने ॥ ३४ ॥

त्रिश्वाङ्कुश सत्कवचे मुमोच वक्ष स्थले ह्यैममथास्य वाणम् ।

तदेऽञ्जनश्यामवतनौ महाद्रे शातहृदं ज्योतिरिषाम्बुवाह ॥ ३५ ॥

तब त्रिश्वाङ्कुश ने उस रमाङ्गद के, कवच सहित वक्षस्थल पर घाते का वाण मारा । उस समय ऐसा दिखाई पड़ रहा था, मानो पर्वत के काले अञ्जन के समान कृष्ण वर्ण के तट पर बादल के बीच विजयी का प्रकाश पड़ रहा हो ॥ ३५ ॥

अलक्ष्यसन्धानविमोक्षपातान् यशोभटस्यात्तरुपोऽपि रोषान् ।

मूर्च्छालुठन्सारथिराहताश्वो रथ शशासामुरनन्दनस्य ॥ ३६ ॥

अश्वतथीघना के कारण जिनका छटना तक नहीं दिखाई दे रहा था,

यशोभट के ऐसे वाणों की, मूर्च्छा से लोटते हुए सारथी वाले, और मरे हुए घोड़ोंवाले उस राक्षसपुत्र के रथ ने ही प्रशंसा की ।

विमर्श—अर्थात् उसके वाणों से सारथी मूर्छित हो गया था, और घोड़े भी मार डाले जा चुके थे, अतः केवल रथ ही उसकी वीरता का साक्षी था ॥ ३६ ॥

विलासकाञ्चीमथकालरात्रेरुद्यत्क्रुधः पद्भ्यात्मन्तकस्य ।

मौर्वीं पृपत्केण रमाङ्गदस्य चिच्छेद गीर्वाणरिपोस्तनूजः ॥ ३७ ॥

फिर कालरात्रि (प्रलयरात्रि) की विलासमेखला बनी हुई, क्रोध से युक्त बढ़नेवाले फाल की मानो पगडंडी ऐसी उस धनुष की डोरी को देवताओं के शत्रु के पुत्र (विश्वाङ्कुश) ने अपने वाण से काट डाला ॥ ३७ ॥

सन्नाभिविम्बेन महाजिलक्ष्म्याः वीरश्रियो विभ्रमनूपुरेण ।

संरन्धराहोरिव चक्रपाणिः सोऽप्यस्य चक्रेण शिरश्चकर्त ॥ ३८ ॥

महासमर रूपी लक्ष्मी की नाभि के समान और वीरलक्ष्मी के विलास के पैजनों की भाँति अपने चक्र से रमाङ्गद ने उसका सिर उसी प्रकार काट डाला, जैसे राहू का सिर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से काटा था ॥ ३८ ॥

ननर्त विद्याधरसुन्दरीणां गणो नदनूपुरमम्बरेऽथ ।

मौलौ शिरःक्षुण्णशिरस्त्रत्ने चिक्षेप चास्यामरपुष्पवृष्टिम् ॥ ३९ ॥

विद्याधरसुन्दरियों का समूह नूपुरों को क्षनका-भ्रनकाकर आकाश में नाचने लगा । और वाण से टूटे हुए मस्तक पर के कदच के रत्नवाले रमाङ्गद के सिर पर देवताओं ने पुष्पवृष्टि की ॥ ३९ ॥

दृष्टे शिरस्युत्फलिते स्वसूनोदिङ्मूललीनासु पताकिनीषु ।

वज्राङ्कुशः सम्मुखमापपात पत्युर्विशामस्तगिरेरिवाकः ॥ ४० ॥

अपने पुत्र के शिर को कटा हुआ देखकर और अपनी समस्त सेनाओं के भागकर दिशाओं में छिप जाने पर वह वज्राङ्कुश दैत्य सिन्धुराज के सामने रण-भूमि में उसी प्रकार आया, जैसे अस्ताचल के सामने सूर्य आता है ॥ ४० ॥

मदाम्बुवर्षी समरेऽभिधावन् रेजे गजस्तस्य सहेमकक्षः ।

भिन्नोऽन्तराले पवमाननुन्नस्तमालनीलस्तदितेव मेघः ॥ ४१ ॥

मद वर्षानेवाला, स्वर्ण की अम्बारी से सजा, युद्धभूमि में दौड़ता हुआ उसका हाथी बड़ा सुन्दर लग रहा था । मानो नीलमेघ विद्युत् से युक्त होकर हवा के भौकों से इधर-उधर चल रहा हो ॥ ४१ ॥

पत्युः प्रसादग्मितरज्जुकृष्टा भटा विवृत्यास्य पुरो वभूवुः ।

स्वजीवितान्याजिमुखे विहातुम् अत्युत्सुका भङ्गमलीमसानि ॥ ४२ ॥

अपने स्वामी की कृपापूर्वक हँसी रूपी डोर में बँधे हुए उसकी सेना के

धीर उसके सामने एकत्र होकर पराजय के कारण मलिन बने अपने जीवन को रणभूमि में त्यागने के लिए उत्सुक हो गये ॥ ४२ ॥

आरुह्य चन्द्र रमिवाभिराम नक्षत्रमालाभरणं गजेन्द्रम् ।

देवोऽपि वद्वैरित्तमो नियन्तुम् अथ प्रतस्थे नवसाहसाङ्क ॥ ४३ ॥

तारों से भरे नीलाकाश में जिस प्रकार चन्द्रमा तमनाश के लिए उदित होता है, उसी प्रकार देव नवसाहसाङ्क भी अलकारों से सुशोभित हाथी पर चढ़कर उस वैरि रूपी अन्धकार को रोकने के लिए आगे बढ़े ॥ ४३ ॥

एवत्र पार्श्वे शशिरण्डनामा विद्याधरेन्द्रो नृपतेर्धूम्र ।

अरातिसेनानलिनोवनैकशीताक्षुरन्यत्र यशोभट्टश्च ॥ ४४ ॥

राजा के एक ओर विद्याधरराज शशिरण्ड आ डटा और दूसरी ओर शत्रुसेनारूपी कमळिनी के वन को घास देनेवाले चन्द्रमा की मूर्ति रमाङ्गद सजा हो गया ॥ ४४ ॥

स्फुटत्फणच्छत्रमणिप्रतानतेजश्छटाजर्जरितान्धकार ।

अफल्गुवीर्यं फणभृत्कुमारोऽप्यभेऽभवत् तस्य स रत्नचूड ॥ ४५ ॥

दौर्दीप्यमान फणा में स्थित मणिप्रभा के विस्तार से अन्धकार-समुद्र का नाश करनेवाला, सफल पराक्रम वाला, नागराजपुत्र रत्नचूड भी राजा के आगे हो गया ॥ ४५ ॥

विधूतनिस्त्रिशतरङ्घितानि सवाणचक्रीकृतकामुकानि ।

हतावशेषाणि पुरोऽन्य चेलुर्वलानि विद्याधरपञ्चगानाम् ॥ ४६ ॥

लपलपाती तनवारों की चमचमाती लहर वाली, विद्याधरों की और नागों की अवशिष्ट सेना भी उसके आगे चली ॥ ४६ ॥

रक्तासपत्नीसहस्रतालपेतालतालोच्छलिवाट्टहास ।

महाभटानामसुनिर्व्यपेक्षम् अन्योद्यमावर्तत सम्पराय ॥ ४७ ॥

रक्त की मदिरा पान करके मद्यमै जैसे वेताल जहाँ हाथ की तालियाँ बजा-बजाकर भट्टहास कर रहे थे, उस स्थान पर प्राणों की चिन्ता छोड़कर आपस में दोनों ओर के वीरों का युद्ध होने लगा ॥ ४७ ॥

चकाशिरे शस्त्रभृता शिरसु मिथ पतन्त्य करवालवल्लय ।

मुक्ता सलील त्रिदशाङ्गनाभिर्माला श्वेन्दीवरपत्रमप्य ॥ ४८ ॥

अस्त्रधारी उन वीरों के सिरों पर चोट करती हुई एक-दूसरे की तलवारों चमकने लगीं । भानो देवछियों द्वारा उन पर डाली गई कमलपत्रों की मालायें ही ॥ ४८ ॥

केपाञ्चिद्दूह क्वचानि शोभा क्वचित् क्वचिहोहितपाटलानि ।

खेलजन्यश्रीचरणारविन्दलाचारसेनेव नवाङ्घ्रितानि ॥ ४९ ॥

किन्हीं-किन्हीं के कहीं-कहीं पर लाल और मटमैले रंग के कवचो ने ऐसी शोभा धारण की, मानो रणभूमि में खेलनेवाली विजयलक्ष्मी के चरण-कमलों पर लगे हुए अलते ने वे चिह्नित कर दिये गये हों ॥ ४६ ॥

हृदि प्रविष्टैरविशुद्धिमद्भिरभूद्व्यथा कापि शरैः परेषाम् ।
दुरात्मनां साधुगुणैरिवाग्रे फलेन संयोगमुपेयिवद्भिः ॥ ५० ॥

हृदय में घुसे हुए, अपवित्र, और अग्रभाग से वेधने वाले शत्रुओं के वाणों से इस प्रकार की पीड़ा उन्हें होने लगी, जैसे हृदय पर चुभे फन से युक्त होनेवाले सज्जनों के वचनों से दुरात्माओं को पीड़ा होती है ॥ ५० ॥

परस्पराघातजुषामसीनां धाराच्युतः संयति चूर्णरेणुः ।
अवाप तापिच्छरुचिर्जयश्रीविलासकालाञ्जनधूलिलीलाम् ॥ ५१ ॥

परस्पर चोट करते समय आपस में गुँथी हुई तलवारों के परस्पर घर्षण से, उनकी धारों से गिरी धूल ने विजयलक्ष्मी के लिये विलासकालीन कृष्णाञ्जन का काम किया ॥ ५१ ॥

पर्यायजातोभयसैन्यभङ्गकरालकोलाहलकातराणाम् ।
सुरारिविद्याधरसुन्दरीणां दोलेव शोकप्रमदावभूताम् ॥ ५२ ॥

एक वार राक्षसवीरों की विजय होती थी, एक वार सिन्धुराज के वीरों की इस तरह वारी-वारी से दोनों सेनाओं की पराजय के कारण भयानक कोलाहल से डरी हुई राक्षसों की स्त्रियाँ और विद्याधरों की सुन्दरियाँ—दोनों के लिए शोक और हर्ष भूले का काम करने लगे !

त्रिमर्श—अर्थात् एक पक्ष को एक वार हर्ष होता था, उस समय दूसरे पक्ष वाली स्त्रियों को खेद, फिर दूसरी वार जब प्रथम पक्ष को शोक होता तो दूसरे पक्ष को हर्ष ॥ ५२ ॥

अथासुरेन्द्रद्विरदेन वेगाद्
अभ्युत्थितेनोद्गतदानधारम् ।

मध्येरणं मध्यमलोकभर्तु-

र्जवात्सदान्धो जघटे गजेन्द्रः ॥ ५३ ॥

तब राक्षसेन्द्र वज्राङ्कश के भागे बढ़े हुए हाथी ने शीघ्रता से मद बहाते हुए सिन्धुराज के मदोन्मत्त हाथी पर वेग से प्रहार किया ॥ ५३ ॥

महेभयोस्तत्र शिखाच्छलेन प्रतिप्रहारं रदजः कृशानुः ।
क्रोशेषु विद्युत्कपिशा मुहूर्तं व्यधादिवाष्टापदपत्रवल्लीः ॥ ५४ ॥

दोनों हाथियों के दांतों पर जब-जब परस्पर का प्रहार होता था, उस समय ज्वालाओं के रूप में दांतों से निकली अग्नि ऐसी दिखाई देती,

मानो तलवार के ग्यानों के ऊपर बिजली के समान पीत बणवाले स्वर्णपत्र
जड़ दिये गये हों ॥ ५४ ॥

मुहु प्रजानामधिपेन गाढम् आश्रयमाणस्य शरासनस्य ।

द्विपट्टधारम्भावधौ गभीरः श्रेङ्गारदुङ्गार इवोन्वधार ॥ ५५ ॥

तब प्रजा के स्वामी सिंधुराज के जोर से खींचे हुए, शत्रुनाश के
विधान में चतुर धनुष की आवाज ऐसी ही पेली, जैसी भाऊ की भकार हो ।

विमर्श—शत्रुओं के नाशकार्य में वह सिंधुराज जब जब पुन पुन बाण
चढाने के लिए धनुष को चढाता था, तब-तब अत्यंत गभीर आक्रोश तथा
हुंकार का शब्द होता था ॥ ५५ ॥

परिस्फुरतकुण्डलघृष्टपुद्गास्तेन प्रयुक्ता पृथुविक्रमेण ।

प्रमृष्टकांताकुचपत्रलेखे लेखारिषकस्यपतन् पृथक्का ॥ ५६ ॥

कान तक धनुष खींचते समय अपने अप्रभाग से चमचमानेवाले कुण्डलों
के साथ रगड़ खाने वाले, महावीर उस राजा के छोड़े हुए बाण, गाढालिङ्गन
से कान्ता के कुचों की पत्ररचना को मटाने वाले अतएव उस पत्रलेख के
शत्रुभूत शत्रु के दक्षस्थल पर पड़ने लगे ॥ ५६ ॥

अरातिमुत्पेपु ततस्तनुत्रात् वह्निस्फुलिङ्गेषु समुल्लसत्सु ।

मूर्तिवर्भासे वमुधाधिपस्य निर्यन्प्रतापान्निक्वणच्छटेव ॥ ५७ ॥

शत्रु द्वारा छोड़े गये बाणों के प्रहार से कवच में से निकलते हुए देदीप्य-
मान अग्निक्वणों से राजा का शरीर ऐसा ल्या रक्षा था, मानो उससे प्रताप
के अग्निक्वण निकल रहे हों ॥ ५७ ॥

हिरण्मयी पार्थिवबाणपत्त्रिरक्षते मूध्न महासुरस्य ।

रेजेतरामञ्जनपर्वतस्य जग्नेव त्रिमाशुमयूरवमाला ॥ ५८ ॥

सिंधुराज के मुनहले बाणों की पक्ति उस राजस के ऊँचे सिर पर पड़
कर अत्यंत शोभित हुई, मानो काले अञ्जन के पहान की चोटी पर सुशोभित
सूर्यकिरणों की माला हो ॥ ५८ ॥

अभ्युद्गता भर्तुररावित्राणलुण्णे द्रनीलाङ्गदरेणुराजि ।

अदृश्यतोद्दामभुजास्पदस्य पराक्रमान्नेरिव धूमलेखा ॥ ५९ ॥

शत्रु (वज्राकुश) के बाणों से तोड़े गये राजा के नील बाजू-दों से जो
धूल निकली, वह ऐसी लग रही थी, मानो उदयद भुजाओं में रहने वाली
पराक्रम की अग्नि से धूमरेखा निकल रही है ॥ ५९ ॥

रमाङ्गदोप्युद्भ्रुकुटि कृतास्त्र धीरद्विप पार्श्वगत निहत्य ।

शरीरलावीज्जयवीजयती ज्योत्स्नासिता कीर्त्तिमिनामुरस्य ॥ ६० ॥

रमाङ्गद ने भी भौहें तानकर शत्रु के समीपवर्ती भस्त्रधारी वीर को मारकर अपने बाणों से वज्रांकुश के रथ की चांदनी की भांति श्वेत ध्वजा को उसकी धवल कीर्ति की भांति काटकर फेंक दिया ।

विमर्श—अर्थात् उसने उस रथपताका को काटकर क्या गिराया, मानो दैत्यराज की श्वेत कीर्ति को ही काट डाला ॥ ६० ॥

अधःस्थितोद्दामरवैरिपत्तिमुक्तेपुनिर्त्नशरासनज्यः ।

चिक्षेप चक्रायतिदीर्घबाहुः स कालरात्रेरिव कङ्कणानि ॥ ६१ ॥

नीचे स्थित वैरी के सैनिकों द्वारा ऊपर छोड़े गये बाणों से जब उसके धनुष की डोरी फट गयी, तब उस दीर्घ बाहु वाले ने कालरात्री (चण्डी) के कंगन की भांति चक्रों को फेंका ॥ ६१ ॥

उत्प्लुत्य हेल्लाहतसम्मुखारिर्विद्याधरेन्द्रोऽप्यसिना चकर्त ।

जगज्जयस्तम्भमिवोद्भुरस्य सुरद्विपः काञ्चनकेतुदण्डम् ॥ ६२ ॥

खेल-खेल में जिसने सम्मुख स्थित शत्रुओं का नाश कर दिया था, ऐसे उस विद्याधरराज ने उछल कर सर्वश्रेष्ठ राक्षसेन्द्र की जगविजय की प्रतीक ध्वजा के स्वर्णदण्ड को तलवार से काट डाला ॥ ६२ ॥

स रत्नचूडोऽपि तथा भुशुंभ्या पिपेप वैरीद्विपकुम्भपीठम् ।

सितातपत्रत्वमुदञ्चदाप यथास्य मुक्ताफलधूलिजालम् ॥ ६३ ॥

उस रत्नचूड ने भी बन्दूक से वैरी के हाथी के गण्डस्थलों को इस प्रकार पीस डाला कि उनपर लगे गजमुक्ताओं की धूल के गुवार उड़कर श्वेत छत्र की भांति यत्र-तत्र फेल गये ॥ ६३ ॥

तुङ्गं दधत् कर्कशतामभीकः श्रीसिन्धुराजद्विपकुम्भयुग्मम् ।

पयोधरद्वन्द्वमिवाजिलक्ष्म्याश्चक्रेऽर्धचन्द्राङ्कितमिन्द्रशत्रुः ॥ ६४ ॥

ऊँचे और कठोरता को धारण करने वाले, श्री सिन्धुराज के हाथी के गण्डस्थलों को उस निर्भीक इन्द्रशत्रु (राक्षस) ने बाणों से ऐसा विध दिया, मानो रणकामिनी के ऊँचे और कठोर कुचों को अर्धचन्द्राकार नखों से चिन्हित कर दिया हो ॥ ६४ ॥

परस्पराघट्टितदन्तकोटिभ्रष्टाग्निवेशभ्रममादधन्ति ।

रणाजिरे लोहितरञ्जितानि विरेजिरे कुञ्जरमौक्तिकानि ॥ ६५ ॥

खून से सने अतएव रक्त वर्ण के, रणभूमि में बिलखे गजमाणिक ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो हाथियों के परस्पर गुँथे हुए तथा आघात करनेवाले दांतों के अग्रभाग से छितराये हुए अग्निकण हों ॥ ६५ ॥

चिक्षेप पृथ्वीतिलके सुरारियां यामिपुं कोपकपायिताक्षः ।

तां तां जयाशामिव बाहुशाली शरैः स तस्यार्धपथे लुलाव ॥ ६६ ॥

क्रोध से मरी लाल-लाल आँखों वाले वज्राङ्कुश राक्षस ने जो जो बाण जिस जिस विजय की आशा से सिन्धुराज पर फेंके, उस बाहुशाली (बली) सिन्धुराज ने उन सब बाणों को उन-उन आशाओं सहित अपने बाणों से आधे रास्ते में ही काट डाला ॥ ६६ ॥

तयोस्तथेष्वासपरप्ररुर्पप्रत्युत्कर्णार्जुनयोर्ययश्री ।

मुनेलरत्नाकरयोरुदमा चकार वेलेष गतागतानि ॥ ६७ ॥

कर्ण और अर्जुन की माँति परस्पर बाण चलाने का प्रदर्शन दिखाने वाले उन दोनों के बीच जयलक्ष्मी उसी माँति कमी उधर और कमी उधर गमना गमन करने लगी, जैसे सुवेल पर्वत और समुद्र के बीच भीषण समुद्र की लहरें आती जाती रहती हैं ।

विमर्शो—प्रतीत होता था—अब वज्राङ्कुश विजयी हुआ, और फिर बात होता था कि सिन्धुराज विजयी हुआ ॥ ६७ ॥

पत्यु प्रजानामसुरेश्वरोऽथ किरीटमाणिक्यचय जहार ।

मणिसूनस्वप्रकप्रतान कल्पद्रुमस्येव युगान्तवात ॥ ६८ ॥

उस असुर ने प्रजापति सिन्धुराज के मुकुटमणियों के समूह को उसी भाँति हरण कर लिया, जिस भाँति युगान्तवायु कल्पद्रुम के मणिमय फूलों के गुच्छों को हर लेता है ॥ ६८ ॥

क्रोधादयार्धशलाञ्जलनसोदरेण धाणेन वासवरिपोर्नवसाहसाङ्क ।

चिच्छेद राम इव त्रिश्रवस सुतम्य पीनासलोलमणिकुण्डलमुत्तमाङ्गम् ॥ ६९ ॥

तब क्रोध में मरकर सिन्धुराज ने अर्धचन्द्राकार बाण से उस असुर वज्राङ्कुश क मोटी गदन वाले और मणिकुण्डलो से युक्त शिर को उसी भाँति काट गिराया, जैसे भीराम ने रावण के परिपुष्ट और मणिकुण्डलो से युक्त शिर को काट गिराया था ॥ ६९ ॥

आसन् मुखानि ककुभामभितोऽथ चित्रवादित्रनादलहरीमुखरोदराणि ।

देवस्य च त्रिदिग्पुष्पमयं पपात माल्य शिरस्यसुरवैरिपुराध्रमुक्तम् ॥ ७० ॥

तब सभी दिशामुख चारों ओर से विचित्र वाद्यों की ध्वनियों से गूँज उठे और देव भी नवसाहसाङ्क सिन्धुराज के शिर पर दानों के शनुओं अर्थात् देवताओं की स्त्रियों ने पारिष्वात पुष्पों की मालायें चढ़ाई ॥ ७० ॥

स्तम्भीपते पृथुभुचद्वयमार्द्रसान्द्रज्याघातलाञ्छितमलाञ्छितविभ्रमस्य ।

अत्यादरागतजितोर्जितवैरिलक्ष्मीपादाननयाप्रकनिपत्तमिवाऽचकाशे ॥ ७१ ॥

पराक्रम को क्लृप्त न होने देने वाले सिन्धुराज के ताजे और घने धनुष की दोरी के धट्टों से युक्त दोनों भुजायें ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो

अत्यन्त आदर से स्वयं आई हुई पराक्रम से जीती हुई वैरी की लक्ष्मी के अलते से रंगे हुए चरण-कमलों के चिन्हों से अंकित हों ॥ ७१ ॥

तस्याग्रतः कनककुण्डलाद्यमानगण्डस्थलीलुलितकुङ्कुमपत्रलेखाः ।

विद्याधरोरगकुरङ्गदृशः प्रमोदसान्द्रोच्छलध्वनि जगुर्जयमङ्गलानि ॥७२॥

तब सिन्धुराज के सामने ही स्वर्णकुण्डलों से रगड़ खाने के कारण मिटी हुई पत्ररचना से युक्त कपोलों वाली, विद्याधर और नागों की मृगनयनी नारियों ने आनन्द में आकर अत्यन्त उच्च स्वर वाली ध्वनि में उसकी जय के मंगल-गीत गाये ॥ ७२ ॥

स्मित्वा यशोभटकरापितचापयष्टिरुमुक्तरत्नकवचः स्वचरेध्वरेण ।

उद्भिन्नमौक्तिकनिभश्रमवारिविदुं देवो रमार्ज मुखमंशुकपद्मेन ॥ ७३ ॥

हँसकर यशोभट (रमाङ्गद) के हाथ में धनुष देकर, विद्याधरराज के द्वारा कवच खोले जाने पर देव सिन्धुराज ने मोतियों की भाँति उभरे हुए पसीने के कणों से भरे मुख को अपने दुपट्टे से पोंछा ॥ ७३ ॥

दत्ताभयोपनतपौरशतार्प्यमाणरत्नोपधामथ स रत्नवतीं प्रविश्य ।

तं संयुगस्फुटपरीक्षितशौर्यसारं राज्ये रिपोः फणिकुमारकमभ्यपिञ्चत् ॥७४॥

फिर सिन्धुराज ने रत्नवती पुरी में प्रवेश करके, अभयदान देकर एकत्र हुए पुरवासियों से सैकड़ों प्रकार के रत्नों की भेंट ग्रहण कर लेने के बाद, युद्ध में जिसके पराक्रम की भली भाँति परीक्षा हो चुकी थी, ऐसे उस नागराजपुत्र रत्न-चूड़ का उस रत्नवती के राजपद पर अभिषेक किया ॥ ७४ ॥

मूर्तं मनोरथमिवोपवनात् सकन्दम्,

आदाय तत् कनककोकनदं नरेन्द्रः ।

आदातुमीप्सितमहीन्द्रसुतेति रत्नम्

अभ्युत्सुकस्तदनु भोगवतीं प्रतस्थे ॥ ७५ ॥

इतना सब करने के पश्चात्, अपने प्रत्यक्ष शरीरधारी मनोरथ के समान राजस के बगीचे से जड़ सहित उस स्वर्णकमल को लेकर फिर उसके द्वारा इच्छित अद्वितीय रत्न 'फणिराजकन्या' को ग्रहण करने के लिए अति उत्सुकता के साथ सिन्धुराज नागों की राजधानी भोगवती नगरी की ओर चल पड़ा ॥ ७५ ॥

देवः साहसिकोप्यमन्दमुरजध्वानानुमेयोत्सवाम् ।

उन्नम्रैः परितो महौ मणिगृहैरुत्तमभयन्तीमिव ।

तामत्युन्नतरत्नतोरणशिखाप्रद्वोलमुक्ताफल-

प्रालम्बोच्छलदच्छ्वान्तिनिकररमेरामवापत् पुरीम् ॥ ७६ ॥

मृदङ्ग की ध्वनि से जहाँ उत्सव की सूचना मिल रही थी, ऊँचे मणि-
मन्दारों से जहाँ की धरती चमचमा रही थी, अत्यन्त ऊँचे रत्नजटित
द्वारों के ऊपर झूलते हुए मोतियों के गुच्छों की स्वच्छ कान्ति किरणों के रूप
में जो मानो हँस रही थी ऐसी भोगवती पुरी में सिन्धुराज ने प्रवेश
किया ॥ ७६ ॥

इति भी मृगाङ्कदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य
कृतौ नवसाहस्राङ्कचरिते महाकाये हेम कमल-
हरणो नाम षतदश सर्ग ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः सर्गः

अठारहवाँ सर्ग

फणिराजदर्शनम्

तं विष्टपत्रितयकण्टकदृष्टसारम् अभ्यागतं नृपतिमुद्गतगाढहर्षः ।
प्रत्युद्ययावधिपतिः फणिनामनर्घरत्नार्घपाणिरशनैरथ शङ्खपालः ॥ १ ॥

फणिराज सं मिलन

तीनों लोकों का कांटा बने हुए बज्राङ्कुश को मार कर जिसका बल देख लिया गया था, अतिथि रूप में आए हुए उस राजा को देखकर अत्यन्त हर्ष के साथ नागराज शङ्खपाल बहुमूल्य रत्नों का अर्घ्य लेकर उसकी अगवानी के लिए आया ॥ १ ॥

पुरप्रवेशः

आनाय सादरफणीश्वरदत्तमर्घ्यम् अर्घ्यः सतां स वहिरेव निवेश्य संन्यम् ।
देवोऽविशद्विनयवान् पुरमग्र्यायिविद्याधराधिपरमाङ्गदरत्नचूडः ॥ २ ॥

नगरप्रवेश

सज्जनों के माननीय विनयी सिन्धुराज ने नागराज के द्वारा किये गये आतिथ्य को स्वीकार कर, नगर के बाहर ही अपनी सेना को ठहराकर विद्याधर-राज, रमाङ्गद और रत्नचूड के साथ फणिराजनगरी भोगवती में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उत्सृज्य गीतमसमाप्य विलासलास्यम् अङ्गादपास्य सहसा मणिवल्लर्की च ।
अत्युन्मनास्तदवलोकनकौतुकेन वातायनान्यधिरूरोह पुरन्ध्रिलोकः ॥ ३ ॥

गाते-गाते एकदम गाना छोड़कर, विलासक्रीडा को त्यागकर गोद से सहसा मणिवल्लर्क वीणा को हटाकर उस राजा को देखने की उत्सुकता से उतावली बनी स्त्रियाँ झरोखों तथा खिड़कियों पर आ डटीं ॥ ३ ॥

उत्क्षिप्य वेपथुमता करपल्लवेन वातायनाग्रमणिमौक्तिकजालकानि ।
स्मित्वैकया स विलसन्मकरावचूललीलालवाञ्छितविलोचनमालुलोके ॥ ४ ॥

किसी स्त्री ने काँपते हुए हाथ से झरोखे पर लटकते हुए मणि और मोतियों की झालरों को हटाकर, हँस-हँसकर, कामभावना से युक्त होकर विलासपूर्ण नेत्रों से उसे देखा ॥ ४ ॥

उद्यद्विद्युत्तकरवेणिकया नृपेन्दौ तस्मिन् स्मरोत्ससितनुम्भिकया क्याचित् ।
मुक्ता मुहुविद्युधसिन्धुकलिन्दकन्याकिर्मीरवारिलहरीपुद्गद कटाक्षा ॥५॥

किसी रमणी ने धूम कर हाथ पर बेणी धारण करके, कामभावना से परिपूर्ण होकर उस नृपति के ऊपर अपनी चञ्चल परधुरे रग की दृष्टि का कटाक्षपात किया, मानो गंगा यमुना की मिश्रित चञ्चल लहरें हों ॥५॥

वाचात्तरत्नजला सप्रिलासमम्भिन् निक्षिप्य कापि नवमोक्तिरुजालमुष्टिम् ।
तत्ताडितामत्तटपाथिपदत्तदृष्टिर्दीर्घेक्षणा किमिव न प्रपया चकार ॥ ६ ॥

बजने हुए कगनवाली किसी स्त्री ने मस्त होकर उसक ऊपर नवीन मोतियों की मुट्टी भगकर पेंकी । कंधे पर उनकी चोट खाकर राजा ने जब ऊपर देखा तो उस बेचारी ने लज्जा के कारण क्या क्या नहीं किया, अर्थात् वह शर्म के कारण गड़ी जा रही थी ॥ ६ ॥

वक्षो दधानममरात्रिशिलाविशालम् आनानुवाहृमत्रलोक्य नरन्द्रचन्द्रम् ।
चित्तोपनीतपरिरम्भसुग्रातिसाद्रम् अन्या पयोधरभरे पुलक वभार ॥ ७ ॥

मुमेष पर्वत की शिला के समान विशाल वक्ष म्यल को धारण करनेवाले, घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाले उस राजचन्द्र नवगाहसाङ्ग को देखकर अपने हृदय में उसके गाढालिङ्गन के सुख का अति आनन्द लेनेवाली किसी स्त्री के स्तन रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७ ॥

आलोक्य दर्पणतने प्रतिमागर्त तं आत्तो मयैप इति कापि कृनोरसवाऽभूत् ।
मुग्धा गतेऽथ पुरतोऽत्र तदीयन्मित्रे शूच्यात्मन्शान्तिधुरे दुमुग्धी बभूव ॥८॥

उस राजा की परछाईं दर्पण पर पनी हुई देख "मैंने इसे पा लिया" ऐसा धमक कर कोई स्त्री बड़ा आनन्द मगाने लगी, पर जैसे ही दर्पण से उसका प्रतिबिम्ब हटा तो अपने को अकेली पाकर वह चन्द्रमुखी बेचारी अत्यंत दुःखी हो गई ॥ ८ ॥

इत्यापतनमदनराणपरम्पराणाम् इन्मीलिताङ्गजलनइलथमेयलानाम् ।
एणीदृशा विचरति स्म स राजहंस पारोत्ससन्नवरसोमिपु मानसेपु ॥ ९ ॥

जस प्रकार जिनके कामवाणों की परम्परा के आघात उस पर हो रहे थे, ऐसी रँगडाई लेने के कारण टीली मेलनाओं वाली उस हरिण लोचनाओं को नवीन रसों की लहरों से भरे मन रूपी सरोवरों में वह राजहंस (राजा) विचरण करने लगा ॥ ९ ॥

नायरुर्णनम्

सङ्गीतवेशमनि फणीश्वरचारणाना गीतेवजस्तमिह शुश्रुम यद्यशासि ।
यात स एव नयनातिथितामय न पुण्यैरहो वत नृपो नयसाइसाङ्ग ॥१०॥

नायक का वर्णन

लोग कह रहे थे कि नागराज के चारणों (भाटों) के संगीत-गृहों में गीतों में हम लोगों ने जिसका महान् यश सुना था, वड़े-वड़े पुण्यभाग्य के कारण आज वही नवसाहसार्द्ध नृपति हमारी आंखों के सामने भी आ गया ॥ १० ॥
कान्तिच्छटाच्छुरितद्विक्त एष देवो जीयाञ्जगन्ति परमारकुलप्रदीपः ।
उन्मूल्य सम्प्रति सुरारितमः समूलं येनाह्विष्टपतले विहितः प्रकाशः ॥ ११ ॥

अपनी कान्ति की हटा से चारों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला यह परमारवंश का दीपक चिर काल तक प्रज्वलित होता रहे (जीवित रहे), जिसने वज्राकुश राजसरूपी अन्धकार को नष्ट करके नागलोक को प्रकाशपूर्ण अर्थात् दुःखः राहत बना दिया ॥ ११ ॥

हन्तैप पन्नगपतेरतुत्प्रतिज्ञाप्राग्भारसागरसमुत्तरणंकपोतः ।

उत्पाकमेप च फलं फणिराजवन्या चित्तं चिरं कृतपदस्य मनोरथस्य ॥ १२ ॥

बड़े हर्ष की बात है कि फणिराज की भीषण प्रतिज्ञा के भार रूपी समुद्र को पार करने के लिये यह जहाज सा बन गया । यह तो नागराजपुत्री के चित्त में चिरकाल से अपना घर बनानेवाले मनोरथ के परिपक्व फलरूप में ही मिला है ॥ १२ ॥

एतद्यशोभटकरे कनकाग्नुजं तत लीलावदंसमचिराद्विरचय्य येन ।

प्रत्युत्कल्पतरुपल्लवमेग पाणिम् आदास्यते नृपतिरद्य शशिप्रभायाः ॥ १३ ॥

(यह देखो) यह रमाङ्गद के हाथ में वही स्वर्णकमल है, जिसे शीघ्र ही कनफूल बनाकर यह नृपति, नये उगे हुए कल्पतरु के पत्ते के समान कोमल शशिप्रभा के हाथ को ग्रहण करेगा अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण करेगा ॥ १३ ॥

हाटकेश्वरदर्शनम्

सान्द्रानुरागपिशुनः परशुः परेषाम्

आकर्णयन्निति स पौरजनस्य वाचः ।

श्री हाटकेश्वर इति प्रथितस्य तुङ्गम्

अग्रे ददर्श मणिमन्दिरमिन्दुमौलेः ॥ १४ ॥

हाटकेश्वर महादेव का दर्शन

घने प्रेम के सूचक पुरवासियों के वचनों को, शत्रुओं के लिये कुटार स्वरूप उस राजा ने सुना । बाद में उसने हाटकेश्वर नाम से प्रसिद्ध शिव के मणिनिर्मित ऊँचे मन्दिर को सामने ही देखा ॥ १४ ॥

तत्र प्रविश्य स कृतानतिरादिदेवम् आनर्च कल्पविटपिप्रभवैः प्रसूनैः ।

स्तोतुं कृताञ्जलिपुटः कुटजावदातदन्तांशुपल्लवितवागुपचक्रमे सः ॥ १५ ॥

उस मन्दिर में प्रवेश करके, झुककर प्रणाम करके कल्पतरु के फूलों से उसने आदिदेव शिव की पूजा की। पुन हाथ जोड़कर म्नुति करने के लिए उसने कुटज पुष्पों की भाँति श्वेत दन्त चिरणों से शोभित वचन कहना प्रारम्भ किया ॥ १५ ॥

हाटकेयरस्तुतिः

अन्तर्नटापिहितसोमसुरापगाय ।

प्रच्छन्नपञ्चराशासनलोचनाय ।

तीव्रजगत्पितशैलसुतास्वरूप

विज्ञाननर्मपटवे बटवे नमस्ते ॥ १६ ॥

हाटकेश्वर की स्तुति

अपनी जटा के भीतर चन्द्रमा और गङ्गा की छिपाकर रखनेवाले, छिपे हुए कामदेव के लिए दण्डस्वरूप है तृतीय नेत्र बिनका ऐसे तथा घोर व्रत धारण कर शरीर को गला देनेवाली पर्वनराजपुत्री (पार्वती) के द्वारा वास्तविक रूप में ज्ञात किये गये एवं पार्वती के साथ रतिक्रीडा करने में पट्ट ब्रह्मचारी गने हुए शिव जी को नमस्कार है ॥ १६ ॥

अत्यादानतमुरासुरमौलिरत्ननानामरीचिप्रचिताङ्घ्रिसरोरुहाय ।

देहाधरतिगिरिजाप्रहिताभ्यसूयसन्ध्याप्रणामविपमोज्ज्वलये नमस्ते ॥ १७ ॥

अत्यन्त आदर के साथ नतमस्तक देव एवं दानवों के सिरो पर लगे रत्नों की नाना प्रकार की किरणों से सुशोभित चरणकमल बाल, तथा शरीर के अर्ध भाग में स्थित पार्वती के साथ ईर्ष्या करनेवाली सन्ध्या से नमस्कार किये जाते हुए उन शिव को प्रणाम है ॥ १७ ॥

नीरध्रसिन्धुनलमिककपालमुक्तरत्नाङ्कुरस्य करणी त्रिधुरातनोति ।

मौली सदैव भवता भवभेदकतुनिर्दग्धभास्करमहाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १८ ॥

मृष्ट का संहार करने वाले जिस प्राप के सिर पर पानागगा के सान्द्र जल में मिक म्पाल से छिट्कनाबी काँति को चन्द्रमा धारण करता है, सूर्य के तेज को भी जीतनेवाले ऐमे आप शिव को नमस्कार है ॥ १८ ॥

कदर्पदपशमनाय वृतातहर्त्रे कर्त्रे शुभमन्य सुतगाविश्वेष्टनाय ।

उर्ध्वी मरुद् रवि निशाकर वह्नि तोय थाड्याम्बरोच्चवपुषे सुपुत्रे नमस्ते ॥ १९ ॥

जो काम के गर्व को नाश करनेवाला है, मृत्युनिन्द्या है, बरुथाण करनेवाला है, उपराज से धिरा हुआ है, और धरती, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल, हवनीय द्रव्य और आकाश को जिसने अपने शरीर में धारण किया है, उस शिव को नमस्कार है ॥ १९ ॥

नीरन्ध्रभूतिधवलाय गजेन्द्रकृत्तिसंवीतदेहकवलीकृतपन्नगाय ।

निर्दग्धदानवकुलाय विपत्तयैककार्याय कारणनुताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२०॥

सान्द्र भस्म से श्वेत बने हुए, गजराज की खाल से युक्त जिसकी देह को सांपों ने घेर रखा है, जिसने राजसकुलों को नष्ट किया है, जो विपत्ति का नष्ट करने के लिए स्वयं ही कार्य-कारण बना है, उस शिव को नमस्कार है ॥२०॥

ते ते यमेव किल वाङ्मयसागरस्य पारं गताः प्रणवमात्मविदो वदन्ति
तस्मै समाहितमहपिविनिद्रहृद्यहृत्पुण्डरीकविहितस्थितये नमस्ते ॥ २१ ॥

आत्मतत्त्व को जानने वाले, वाणीरूपी सागर को पार करनेवाले बड़े-बड़े योगी भी जिसे प्रणव (ब्रह्म) बताते हैं, और ध्यानावस्थित महपि लोग अपने विकसित निर्मल हृदय-कमल में जिसको धारण कर समाधिस्थ होते हैं, उस शिव को नमस्कार है ॥ २१ ॥

उत्तंसितेन्दुशकलाय कपालजूटसंघट्टितोर्मिमुखराम्बरनिर्झराय ।

भस्माट्गारागशुचये विकचोपवीतव्यालेन्दुभौलिमणिदीधितये नमस्ते ॥२२॥

चन्द्रकला को भाल पर सजानेवाले, सिर के जटाजूट से टक्कर खाकर ध्वनि युक्त लहरोवाली आकाशगंगा को धारण करनेवाले, भस्म के श्रंगराग से श्वेत बने हुए, सांप के यज्ञोपवीतवाले, सर्पमणि की प्रभा से पूर्ण मस्तकवाले शिव को नमस्कार है ॥ २२ ॥

नास्त्रं न भस्म न जटा न कपालदाम नेन्दुर्न सिद्धतटिनी न फणीन्द्रहारः
नोक्ता विपंन दयिताऽपि न यत्र रूपमव्यक्तमीश किल तद्दधते नमस्ते ॥२३॥

न अस्त्र, न भस्म, न जटा, न कपालों की माला, न चन्द्रमा, न सुरगंगा, न सर्पों के हार, न वृषभ, न विष, और न स्त्री ही अर्थात् इन सबसे विहीन निर्गुण रूप धारण करने वाले आप शिव को नमस्कार हो ॥ २३ ॥

नागराजगृहागमनम्

स्तुत्वेत्यवन्तिपतिरिन्दुकलावतंसं तन्मन्दिरात् सहचरैः सह निर्जगाम ।

अन्तर्निवेशितहरिन्मणिवेदिवलग्न् नागाङ्गनंस फणिराजगृहं जगाम ॥२४॥

नागराज के घर आना

इस प्रकार चन्द्रशेखर शिव की स्तुति करके वह अवन्ति का स्वामी अपने साथियों के साथ उस मन्दिर से बाहर चला आया, और फिर भीतर घरे घरे मणियों की वेदी से चमकते हुए, नागलोक के श्रंगन तथा फणिराज के घर में प्रविष्ट हुआ ॥ २४ ॥

तत्रावतीर्य रथतः स रमाङ्गदात्तपाणिः समुच्छलितमङ्गलतूर्यघोषे ।

उन्निद्रसान्द्रकुसुमप्रकरावकीर्णमणिक्यकुट्टिमले मसृणं विवेश ॥२५॥

रमाङ्गद के हाथ का सहारा लेकर वह राजा रथ के नीचे उतरा । फिर वह अत्यधिक मगलवात्रों की ध्वनि के साथ, खिले हुए ताजे फूलों वाले, मणि निमित्त आंगनवाले फणिराज क भजन म राजा ने धीरे धीरे प्रवेश किया ॥२५॥
अन्योन्यपल्लविततद्विजयप्रणस प्राप्तम्वितिविन्दकाञ्चनविष्टरेपु ।

पद्मन्त्रदायतदृशा दृष्टोऽथ तस्मिन् एकत्र तेन मिलित फणिराजलोत्र ॥२६

उसकी विजय का आशय आपस म व्यक्त करने वाले, पैले हुए मुनहले आसनो पर एक जगह बैठे हुए फणिराज के लोगों को कमलपत्र के समान नेत्रवाल उस राजा ने उस आंगन में देखा ॥ २६ ॥

तत्कृत सत्कारः

तस्मिन् गते नयनगोचरमुद्धतारो बट्टाञ्जलिज्ञटिति पन्नगराजससन ।

मन्दाकिनीत्र परितो हारणावचूडवत्रालोककुट्टमलितत्राञ्चनपङ्कजामूल ॥२७॥

राजा का सत्कार

शत्रुओं का विनाश करने वाला वह राजा जब आँलों के सामने आया तो नागराज की वह समा हाथ जाड़कर खड़ी हो गई । तब ऐसा बात होता था, भगवान् विष्णु द्वारा देखी गई मन्दाकिनी चारों ओर में मुकुलित स्वर्ण-कमलों को घारण किये हुए हो ॥ २७ ॥

न्यञ्चन्निद्राभरणभासुरपकारागगरोचिश्छटाघटिततन्फणरत्नकात्ति ।

राजन्यमौलिमण्चिन्मितपादपीठ तन्मै चकार स महाभजन प्रणामम् ॥

प्रणाम करने से मुक्ते हुए सिर पर चमकते हुए पञ्चराग मणियों की प्रमा से बिछने नागा की रक्षा क रत्नों की कात्त प्राप्त कर ली थी, ऐसे तथा समस्त छोटे-बड़े राजा जिसक चरणों पर अपना सिर मुकाते थे, ऐसे उस महानुभाव सन्धुराज ने उस नागजन को प्रणाम किया ॥ २८ ॥

प्रत्युमरत्नममित प्रमदात्रकोर्ण मुस्ता चतुष्कमुरगेऽनिदेशितं स ।

अध्यास्त सादरजरत्पर्णकल्पिताशीस्त मध्यवात कनकासनमुन्नतास ॥२९॥

तब वह पुष्ट कन्धों वाला सिन्धुराज प्रमदाओं द्वारा बिखेरे गये नये रत्नों से संकुल चौराहे को पार कर, आदरपूर्वक फणिराज क बताये सोने के आसन पर बैठा । उस समय वृद्ध नाग लोग आशीर्वचन का पाठ कर रहे थे ॥ २९ ॥
वत्सा घनानय ममेति शनैर्विसृज्य नेपथ्यनीलमाणवेश्मनि रत्नचूडम् ।
त्रासनद्वयमदापयदस्य पार्श्वे विद्याधराविषयशोभटयो फणीन्द्र ॥ ३० ॥

जाओ, जाकर मेरी पुत्री को लाओ, ऐसा कहकर रत्नचूड की नीलमणि-मय अत पुर की ओर भेजकर उस नागराज ने राजा के समीप में ही विद्याधरराज के लिये और रमाङ्गद के लिये दो आसन बिछवा दिये ॥३०॥

स्वर्णासने स्वयमथाच्छफणातपत्ररत्नप्रदीपशतजर्जरितान्धकारः ।

लोकत्रयैकतिलकस्य स नातिदूरे देवस्य दारितमहेन्द्ररिपोर्न्यपीदन् ॥३१॥

स्पच्छ फणारूपी छाते के रत्न रूपी दीप से अन्धकार का नाश करनेवाला फणिराज भी तीनों लोकों में श्रेष्ठ और वज्राक्षुश जैसे इन्द्रशत्रु का नाश करने वाले सिन्धुराज के पास ही सोने के सिंहासन पर बैठा ॥ ३१ ॥

स्थित्वैकतो युवतिमङ्गलगीतिमत्र शृण्वन् स विन्ध्यतटदृष्टचरः कुरङ्गः ।

चित्रे निवेशित इवाथ यशोभटेन स्मित्वा सविस्मयमसूच्यत पार्थिवाय ॥३२

युवति जनों द्वारा गाये गये मंगलगीतों को सुनते हुए विन्ध्याचल में देखे हुए उसी मृग को रमाङ्गद ने एक तरफ चित्र-लिखा सा चुपचाप देखा देखा और फिर राजा को भी सूचित किया कि यह वही मृग है ॥ ३२ ॥

शशिप्रभादर्शनम्

अत्रान्तरे प्रमदलोलदृशा नृपेण दूराद्दर्शि फणिराजसुताऽभियान्ती ।

तन्वी शिरीषसुमनःसुकुमारमूर्तिर्देवस्य कार्मुकलतेव मनोभवस्य ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

इसी धीच अत्यन्त मद से चञ्चल नेत्रवाले राजा ने आती हुई उस नागराजपुत्री शशिप्रभा को दूर से ही देखा । शिरीषपुष्प की भाँति कोमल देहवाली वह सुन्दरी मानो कामदेव के धनुष की मौर्वी थी ॥३३॥

ज्योत्स्नासिताम्बररुचिस्नपिताननेन्दुर्मात्राऽचिरोद्गतप्रवाङ्कुरकर्णपूरम् ।
मुक्त्वोज्ज्वलं ललितशंभुकरङ्कणं च वेपं विवाहसमयोचितमुद्वहन्ती ॥३४॥

वह चाँदनी के कारण श्वेतवर्ण के आभास की कान्ति से मनात मुखचन्द्र-वाली थी, और माता ने अभी-अभी उसके कानों में जो के शंकर सजाये थे, सुन्दर श्वेत विवाह-कगन हाथ में पहनाये थे । ऐसी वह शशिप्रभा इस प्रकार विवाह के योग्य वेश-भूषा को धारण किये हुए थी ॥ ३४ ॥

सख्या कयापि लिखितं मदन्तानलैरधूमावलीवल्लयसंशयमर्पयन्तम् ।

एकान्तकान्तमसितागरुपत्रभङ्गम् आभिभ्रती लवलिपाण्डुतले कपोले ॥३५॥

लवली के पत्ते के समान गौर और चिकने गाल पर एक ओर किसी सखी के द्वारा बनाई गई अत्यन्त सुन्दर जो अग्ररु की पत्ररचना थी, वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो कामाग्नि से उठती हुई धूँये की रेखाये हों ॥३५॥

आत्प्रसावनमनङ्गविलासवेश्म लीलानिधानमवविर्नयनोत्सवस्य ।

लावण्यसंवलितमङ्गकमुद्वहन्ती शृङ्गारदुग्धजलधेरधिदेवतेव ॥३६॥

वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सुसज्जित प्रसाधन-सामग्री वाला कामदेव का विलासग्रह हो, नयनों के विविध हावभावों से भरी तथा आनन्दः

देनेवाली हो और शृंगाररूपा दुःखसमुद्र की अधिष्ठात्री देवना सौन्दर्य में युक्त अंगों को धारण करके आइ हो ॥ ३६ ॥

सा पाटलाप्रियुतचामरमारुतेपन्थ्यानतितालकलता सहिता मखीमि ।
नातिस्फुटकणितनूपुरमाकुलानि किञ्चिद्विलम्ब्य दधती त्रपया पदानि ॥३७॥

पाटला उसके ऊपर धीरे धीरे चामर डुला रही थी । उसकी हवा से धीरे धीरे हिलनेवाले बालों की लता वाली बड़ शशिप्रभा सखियों के साथ नूपुर की अस्मृष्ट मृदु ध्वनि से युक्त चरणों को लज्जा के कारण रुक रुक कर धरती पर रख रही थी ॥ ३७ ॥

नायकदर्शनम्

उत्पद्मणा निरुपमोन्लसितप्रमोदविस्तारलङ्घितलामसरोरुहेण ।
साद्रस्मरज्वराभ्यासितया तयापि दुरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्र ॥३८॥

नायक का दर्शन

उठी हुई पलकी वाली, अनुपम उल्लास और अनन्दक विस्तार को पार करने वाली, कमलक समान नयनों की अनुलियां स अत्यधिक कामज्वर के कारण प्यासी बनी हुई उस शशिप्रभा ने भी दूर से ही राजा के रूपसौन्दर्य का पान करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३८ ॥

माल्यवतीवाक्यम्

श्रीलायनम्रमुष्पद्ममुपागताया तस्यापितु स्नकप्रिष्टरभागभानि ।
माल्यादिकृत्पितयथोचितसत्क्रियात्ते त मालयेन्द्रमिति माल्यवती जगाद

माल्यवती का कथन

लज्जा से झुके मुखकमलवाली शशिप्रभा व अपने पिता के पास ही स्नान प्राशन पर बैठ जाने पर, माता इत्यादि पहना कर सत्कार करने के बाद माल्यवती सखि ने मालयेन्द्र से कहा ॥ ३९ ॥

राजन् महीतलमृगाङ्क विलम्बमे कि अत्रापि नूणममुना स्वमुत्तानितेन ।
हमाम्बुनेन त्रिरचय्य वत्तंसममन्दा पूर्णप्रतिज्ञमृगाधिपात त्रिधेहि ॥४०॥

हे राजन् ! हे धरती क चन्द्रमा ! अरु दर किस लिए कर रहे हो, अब शीघ्र ही अपने मातृगुरु से प्राप्त किये हुए स्नानकमल स सत्कार कानों को सुशामित कर नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए ॥ ४० ॥

उत्ते वयेत्यमृत काञ्चनपुष्कर तत् याम् म कर्णशिवर फतिराजपुत्र्या ।
तावद् विहाय मृगरूपमुदारमूर्तिरभे वभृत् पुरुषाऽस्य सहेमनेत्र ॥४१॥

उस माल्यवती क ऐसा कहने पर ज्योही राजा न उस नागराजपुत्री शशिप्रभा व कान को उस स्नानकमल स निमूषित किया था ही मृग का रूप त्याग

कर वह कोने में बैठा मृग सुन्दर आकृति वाला बनकर हाथ में सोने का वेत लिये हुए एक पुरुष के रूप में आगे आकर खड़ा हो गया ॥ ४१ ॥

पुरुषप्रति प्रश्नः

कस्त्वं मृगः कथमभरिति पार्थिवेन पृष्टः स विस्मयसमुत्सुकमानसेन ।
इत्यब्रवीदुरगनेत्रपरम्पराभिरापीयमानवपुरुक्तिमवन्तिनाथम् ॥ ४२ ॥

पुरुष को प्रश्न

तुम कौन हो ? किस प्रकार तुम मृग बने, इस प्रकार आश्चर्य से उत्सुक-
मनवाले राजा ने जब उसे पृछा, तब नागों द्वारा प्रेमपूर्वक देखे गये उसने
अवन्तिनाथ से अपने शरीरसम्बन्धी कथा यों कही ॥ ४२ ॥

प्रतिहारस्य वृत्तान्तः

कैलासशैलवसतेर्गिरिशोपरोधान् द्वारप्रवेशविनिवेशकपायितेन ।
शप्तोऽस्मि कएवमुनिनाऽयमहं पितुमते श्रीहर्षदेवनृपतेः प्रतिहारपालः ॥४३॥
कैलास पर्वत पर शंकर भगवान के पास जाने से मना करने के कारण क्रुद्ध
हुए कएव ऋषि ने मुझे शाप दिया । मैं तुम्हारे पिता श्री हर्षदेव का द्वार-
पाल था ॥ ४३ ॥

राजा फणीन्द्रदुहितुः कनकारविन्दं कर्णे करिष्यति यदा नवसाहस्राङ्कः ।
स्वं रूपमाप्स्यसि तदेति समादिदेश शापान्तमेव विहितानुनयो महर्षिः ॥

शाप देने के पश्चात् जब मैंने अनुनय-विनय किया, तब उन्होंने कहा
कि जब नवसाहस्राङ्क राजा नागराजपुत्रा शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल
पहिनायेगा, तब तुम पुनः मृगरूप छोड़ कर अपने रूप को प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥
तद् वासवारिविजयोत्यमिदं यशस्ते गत्वैकपिङ्गलगिरेरवतंसयामि ।
उक्त्वेति दिव्यकुसुमैरवकीर्य मौलों पातालमल्लमनिलस्य पथा जगाम ॥४५॥

‘इन्द्रशत्रु वज्राकुश को मारने से’ फँसे हुए तुम्हारे महान् यश से
मैं जाकर पिङ्गल पर्वत को भी अलंकृत करूँगा अर्थात् वहाँ भी तुम्हारा यश-
गान करूँगा ।’ ऐसा कहकर दिव्यपुष्पो को पाताल के एकमात्र वीर राजा के सिर
पर चढ़ाकर वह पुरुष आकाशमार्ग से चला गया ॥ ४५ ॥

विवाहविधिः

तूर्यस्वनेपु विलसत्सु पठन्स्वमन्दं चन्दिष्वनीयत फणीन्द्रपुरोधसा च ।
कोणावसक्तजलपूरितरत्नकुम्भां वेदि तथा सह स मध्यमलोकपालः ॥ ४६ ॥

१. तंजौर पुस्तकालय में उपलब्ध संस्करण में यहीं पर सर्ग-
समाप्ति हो जाती है ।

विवाहविधान

तत्र तुरही क बजने पर, तीव्र स्वर से बन्दीजों के द्वारा यशगात करने पर, रत्नमण्डित जलपूर्ण घडों से सुशोभित कानों वाली वेदी के ऊपर उस शशिप्रभा के साथ नागराज का पुरोहित सिन्धुराज को लेकर आया ॥ ४६ ॥ अभ्युद्गतार्विरनलोब्धितधूमराजिश्यामीभवत्कनकतामरसावतसम् ।

तस्या यथाविधि स मालवपुष्पकेतु कयामहे कुवलयारव इवोपयेमे ॥४७॥

उठती हुई अग्नि ने जब धूआ छाड़ा, तब उससे जिसके स्वर्णकमल का आभूषण काला हो गया था, ऐसी उस नागराजकन्या को विधिवत् उसी वेदी में मालवा के कामदेव उस सिन्धुराज ने उसी भांति ब्याहा, जिस प्रकार कुवलयारव ने नागपुरी मदालसा को ॥ ४७ ॥

आनीतया झटिति रूपमदृष्टपूर्धम् अङ्गेन पुष्पशरभङ्गितरङ्गितेन ।

भाति स्म शतनुरिव त्रिदिवस्तान्त्या पातालचन्द्रकलया स तथा समेत्य ४८

कामजनित विलास से तरंगित अथवा फूलों की लड्डियों से सुशोभित अंग से शीघ्र ही जब उसमें अपूर्व रूप भर गया, तब उस पाताललोक की चन्द्रकला से युक्त वह सिन्धुराज इस भांति सुन्दर लग रहा था, मानो गंगा-देवी से युक्त शन्तनु हो ॥ ४८ ॥

फणिपतिनाक्यम्

निर्गच्छदच्छरुचिनिर्भरमशुकेन सच्छादितं किमपि पाणितले दधान ।

ऊचे तमित्यधिपति फणिनामुदञ्चन्द् ताशुशारितरदच्छदरत्नकान्ति ॥४९॥

नागराज के वचन

पैलनेवाली स्वच्छ-सुन्दर कान्ति से युक्त, वस्त्र से ढँकी हुई किसी वस्तु को हाथ में लेकर, निकलती हुई दन्त किरणों से श्रोतों को रत्नमयी कान्तिवाले बनाता हुआ वह नागराज नृपति से यों बोला ॥ ४९ ॥

यद् दीयते तव न तादृशमस्ति किञ्चित् गोहे ममात्र नृपते नवसाहसाङ्क ।

कोराप्रतिष्ठितनिधानशत यतम्वाम् ऐश्वर्यनिजितपुरन्दरमामनन्ति ॥ ५० ॥

हे राजन ! आपको क्या दिया जाय ? हे नवसाहसाङ्क ! मेरे घर तो आपके योग्य कोई वस्तु ही नहीं है । क्योंकि आपके पास तो ऐश्वर्य से इन्द्र को भी नीत लेनेवाली कोशस्थित सैकड़ों निधियाँ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

तत् स्फाटिक स्वमिव शुद्धमिदं गृहाण त्वष्टृप्रयत्नघटित शिवलिङ्गमेकम् ।

आकारमर्धननिवाचपुप पुरारेर्यस्यातरे सुकृतिनो हि विलोकयन्ति ॥५१॥

इसलिए तुम्हारी तरह शुद्ध स्फटिक का यह एक शिवलिङ्ग है, जिसे विश्व-कर्मा ने बड़े प्रयत्नों से बनाया है और जिसमें अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर की आकृति का दर्शन पुण्यात्मा लोग किया करते हैं, इसे तुम ग्रहण करो ॥५१॥

व्यासः पुरा किल पुराणमुनेः प्रपेदे तस्मान् किलादिकविपाणितलं जगाम ।
लेभे ततोऽपि भगवान् कपिलो महर्षिः सानुग्रहेण मम चेदमदायितेन ॥

सबसे पहले यह शिवलिंग भगवान् विष्णु ने मुनि व्यास को मिला, उनसे
इसे आदि कवि वाल्मीकि ने पाया । फिर भगवान् कपिल महर्षि ने पाया और
वड़ी कृपा करके उन्होंने यह मुझे दे दिया ॥ ५२ ॥

शिवलिङ्गार्पणम्

उक्त्वेत्यनर्घमतिपावनमर्पितं तद् अन्तःस्फुटैकशिवरूपमहीश्वरेण ।
पूर्णेन्दुकान्ति सहसा निगृहीतशत्रुर्जग्राह पिण्डितमिव स्वयशो नरेन्द्रः ॥५३॥

शिवलिंग का अर्पण

इतना कहकर बहूमूल्य, अतिपवित्र स्वच्छ वह शिवलिंग नागराज ने राजा
को समर्पित किया, उसके अन्दर शिव का रूप स्पष्ट दीख रहा था । शत्रुविनासक
सिन्धुराज ने पूर्णचन्द्रमा की कान्ति की भाँति एकत्र हुए अपने यश के रूप में
ही मानो उस शिवलिंग को ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

तत्राय दिक्कतटपरिस्खलितप्रवृत्तसीमन्तिनीचट्टलनूपुरकाञ्चिनादः ।
कोप्युच्छलनपटहवंशहुडुकवशङ्खवीणामृदङ्गमुरजध्वनिरुसवोऽभूत् ॥५४॥

फिर वहाँ चारों दिशाओं में फैलनेवाली नारियों की चञ्चल प यलो और
करधनी का शब्द व्याप्त हुआ, एवं ढोल, बंशी, हुड़की वाजा (जो पर्वतीय क्षेत्रों
में बजता है), शङ्ख, वीणा, मृदङ्ग, पखावज की ध्वनि से पूर्ण उत्सव हुआ ।
वृत्ते बधूमथ विवाहमहोरसवे ताम् आदाय निष्पतिमपौरुपवैजयन्तीम् ।
अन्वागतादरनिवतितपन्नगेन्द्रः पर्युत्सुकः रजनगरीं स नृपः प्रतस्थे ॥५५॥

विवाहमहोत्सव हो जाने पर अद्वितीय पुरुषार्थ की विजय पताका-
स्वरूप उस वधू शशिप्रभा को लेकर और आगतार्थ पीछे आते हुए नागराज
को लौटा कर घर जाने के लिए उत्सुक बना हुआ सिन्धुराज अपनी नगरी की
ओर चल पड़ा ॥ ५५ ॥

गत्वाथ दूरमहिविष्टपतः सहेलम् अंराः पुराणपुरुषस्य स निर्जगाम ।
शिप्रापितेन सहसा पुरतः प्रभावसीमन्तितान्नुपटलेन पथाससैन्यः ॥५६॥

पुनः आनन्दपूर्वक वह विष्णु का अंश नवसाहसार्क नागराज-भूमि से
दूर जाकर, स्वप्रभाव से नीमावद्ध जन-समूहवाले शिप्रा नदी के द्विजे हुए मार्ग
पर सेनासहित चल पड़ा ॥ ५६ ॥

तस्याः स्पृहस्तमुनिसंहतिकल्पितायः सिन्धोस्तटे स पदमेकपदे चकार ।
शृङ्गे तदा च भगवानरविन्द्वन्ननुर्वन्धूकपाटलरुचिः कनकाचलस्य ॥५७॥

उस शिप्रा नदी के तट पर मुनिसमूह के द्वारा किये ध्यातिथ्य को ग्रहण
कर उसने एक पड़ाव वहीं पर डाल दिया । उसने राते वहीं बितायी । फिर गुल-

दुपहरी के फूल के समान लारा, कमला का मित्र भगवान् सूर्य कनकाचल के शृङ्ग पर विराजमान हो गया अर्थात् सूर्योदय हो गया ॥ ५७ ॥

उज्जयिनीप्रवेशः

वालातपन्धुरितहर्म्यविटङ्कति पाराप्रतातिमधुरध्वनितन्दलेन ।
सभापणं विदधतीमिव पौरमुक्तपुष्पाञ्जलि स पुरमुज्जयिनीं विवेश ॥५८॥

उज्जयिनी में प्रवेश

राजसूर्य के प्रकाश से युक्त भजन के लहजों पर कपोतों की अतिमधुर ध्वनि के गान सभापण करनवाली उज्जयिनी नगरी में पुरवासियों द्वारा पुष्पाञ्जलि प्राप्त करते हुए सिधुराज न प्रवेश किया ॥ ५८ ॥

कातायशोभटयुतं कृशतामवाप्तास्तचिन्तयैत्र सचिवास्तमथ प्रणेमु ।

कातुत्स्थमाहृतमुरारिमिवानुयात सौमित्रिणा जनकराजतनूनया च ॥५९॥

उनां सिधुराज की चिंता से दुर्बल होने हुए मंत्रियों ने शशिप्रभा कान्ता और यशोभट (रमाङ्गद) के साथ ही उस भेद और शत्रुओं को नाश करने वाले राजा को उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार भेद और रावण जैसे शत्रु का नाश करके आये हुए, लक्ष्मण और सीता के सहित श्रीराम के मंत्रियों ने उन्हें प्रणाम किया था ॥५९॥

महाकालेश्वरदर्शनम्

आनन्दोपसलिलार्द्रदृशोऽधमार्गे सम्भाष्य तान् म्मितमुत्सहतेर्जगाम ।
विद्याधरोरगकराहृतहेमघण्टासङ्कारहारि भवन त्रिपुरान्तकस्य ॥ ६० ॥

महाकालेश्वर का दर्शन

राजा आनन्द के आमुओं से गीली आँखोंवाले उन मंत्रियों के साथ रास्ते में ही सम्भाषण करते हुए हँसता हुआ उनके साथ विद्याधर, एक नागा के हाथों से बजाये जान वाले, स्वर्णघण्टाओं की झंकार से मन हरण करने वाले, त्रिपुरासुर का नाश करने वाले, भगवान् (शिव) महाकालेश्वर के मन्दिर में पहुँचा ॥ ६० ॥

तस्मिन्चराचरगुरोर्हरिणावचूलचूडामणोपचिति विधिवत् प्रियाय ।

सारं फणोद्रमुतयाऽम्बररोधिकम्बुतूर्यस्वयोमि च स राजकुल प्रवेश ॥६१॥

उस मन्दिर में चरान्वर के स्वामी चंद्रशेखर की विधिपूर्वक पूजा करके, नागराजकन्या शशिप्रभा के साथ राजा गगनचुम्बी शिखर गाल तुरही की ध्वनि से ध्वनित अपने राजकुल में प्रविष्ट हुआ ॥ ६१ ॥

धारागमनम्

तत्रार्णवध्वनिघनोत्सपतयघोपे स्थित्वा दिनानि कनिचित् स नरेन्द्रचन्द्र ।
याति स्म भूपितकुल कुलराजधानी धाराममात्यकथितामृगयेतिवृत्त ॥६२॥

धारानगरी में प्रवेश

वहाँ उज्जयिनी में कञ्चि-गर्जना एवं घन-गर्जना की भाँति बाघों की ध्वनि से युक्त उत्सव करके कुछ दिन टहरकर फिर वह कुलभूषण नरेन्द्रचन्द्र सिन्दुराज अपने शिकार के वृत्तान्त ने लेकर सम्पूर्ण कथा मन्त्रियों से कहता हुआ, कुल की राजधानी धारानगरी में प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

ऋघाटितेष्वथ विलोकनकौतुकेन वातायनेषु परितः पुरमुन्दरीभिः ।
तस्मिन्निराद्विशति जीव इवैश्वरे सा प्रोन्मीलितोरुनयनेव पुरी बभूव ॥६३॥

राजा को देखने की इच्छा ने चारों ओर जब पुरमुन्दरियों ने वातायनों को खोला तो जिस प्रकार ईश्वर में प्रवेश करने पर लीव की दशा होती है, उसी प्रकार वह पुरी मानो नेत्रों को उधाड़े के उधाड़े ही रह गई, अर्थात् किसी ने भी खिड़कियाँ बन्द नहीं की ।

विमर्श—वर्माध में लीव की आँखें खुली की खुली रह जाती हैं, वही भाव यहाँ पर है ॥ ६३ ॥

शिवलिङ्गप्रतिष्ठा

तन् साध्वकारयदथाधिगतप्रतिष्ठं तत्राच्चरत्नशिवलिङ्गामनर्घशीलः ।
तस्य प्रभाववटितैर्व्यधुरर्हणां च विद्याधरा विकचकल्पतरुप्रसूनः ॥६४॥

शिवलिङ्ग की स्थापना

तब धारानगरी में सुन्दर स्वभाववाले सिन्दुराज ने नफटिकनिर्मित उस शिवलिङ्ग की अच्छी तरह से प्राणप्रतिष्ठा करवाई । उस समय उसके प्रभाव से विकसित कल्पतरु के फूलों से विद्याधरों ने भी पूजा की ॥ ६४ ॥

अनुयायिप्रस्थानम्

कृत्वा यथोचितमकृत्रिममुत्सवान्ते
सत्कारमायतनतिश्लथमौलिरत्नौ ।
दत्ताङ्कपाणिरुभयोः प्रजिवाय सोऽथ
विद्याधराधिपफणीन्द्रसुतो स्वदेशम् ॥ ६५ ॥
साथियों की विदाई

उत्सव के अन्त में राजा ने यथोचित हार्दिक सत्कार करके प्रणाम करने के लिए सिर झुकाने से जिनके मस्तकमणि लीले हो गए थे ऐसे विद्याधरराज और नागपुत्र (शशिखण्ड और रत्नचूड) दोनों को आलिङ्गन देकर उन्हें स्वदेश जाने के लिए विदा किया ॥ ६५ ॥

एकस्तयोरगमदन्वरगामिसैन्य-

सीमन्तिताम्रपटलः शशिकान्तशैलम् ।

अन्योऽप्यगाधजलमालजङ्घकन्या—

त्रिश्राणितोरुसरणिर्निजराजधानीम् ॥ ६६ ॥

उनमें से एक तो बादलो को चीरता हुआ अपनी सेना के साथ आकाश-मार्ग से शशिकान्त पर्वत पर चला गया । और दूसरा भी अगाध जलवाली मालव जङ्घा गंगा के तटवर्ती मार्ग से अपनी राजधानी पहुँचा ॥ ६६ ॥

शशिप्रभासखीगमनम्

मा भू कदापि निमरा रमणे यदस्य

छदानुवृत्तिरतिमननं न मदस्य ।

सक्त्वेति तामहिमुतामगमन् गृहाणि

गार्धर्भरुन्नरमहोरगसिद्धकन्या ॥ ६७ ॥

शशिप्रभा की सहेलियों का प्रस्थान

“देखो शशिप्रभे ! कभी भी अपने पति से नाराज न होना, अपने गर्व का वशीकरण करके तुम इसकी दृष्टानुसार आचरण करके ही इसे अपने अनुकूल रख सकती हो ।” इस प्रकार उस नागपुत्री को समझाकर गार्धर्भ, किन्नर, महा नाग और सिद्धों की कन्यायें अपने अपने घर चली गईं ६७ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीस्वीकारः

नीलच्छत्रावतसा भुजगपतिमुतापाण्डुगण्डमथलात —

कस्तूरीपङ्कपत्रव्यतिरशवलव्यायतासे सलीलम् ।

देवेनाथ स्वमन्त्रिपरचिरधृता साहसाङ्केन दीर्घे

रोहज्याघातरेखे पुनरपि निद्वे दोष्णि साम्राज्यलक्ष्मी ॥ ६८ ॥

इति भी भृगाङ्कदत्तस्यो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रभालाभो

नामाष्टादश सर्ग ॥ १८ ॥

साम्राज्यलक्ष्मी का स्वीकार

देव नवसाहसाङ्क ने नील छत्र से निभूषित, और पणिराज की पुत्री के पीले कपोल पर लगी कस्तूरी की पत्ररचना के कारण करबुरे लम्बे चौड़े कंधे वाले धनुष को डोर क आघातों से चिन्तित त्रिशाल कंधों पर अपने मंत्रियों की चिरकाल तक धारण की हुई राज्यलक्ष्मी को पुन धारण कर लिया ॥ ६८ ॥

भृगाङ्कदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्क

चरित महाकाव्य का शशिप्रभालाभ नामक

अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥



अथ ग्रंथप्रशंसा:

श्रीमत्कविप्रियसुहृन्ललदङ्करामराजेन्द्रभक्त्यधिगतप्रतिभाविशेषः ।

एतद्विनिर्द्रकुमुदद्युतिपद्मगुप्तः श्रीसिन्धुराजन्वृपतेश्चरितं वचन्ध ॥

ग्रंथ की प्रशंसा

परमशोभासंपन्न, कवियों के प्रिय सुहृद् अर्थात् कवियों का आदर करनेवाले विस्तृत लक्षण (यश) वाले राजधेष्ठ रामचन्द्र भगवान की भक्ति के फलस्वरूप विशेष प्रतिभा को प्राप्त करनेवाले पद्मगुप्त नामक कवि ने (अर्थात् मैं) श्री सिन्धुराज नवसाहसाङ्कनृपति के इस विकसित कुमुद के तुल्य सौंदर्यवाले चरित-काव्य का सृजन किया है ।

लक्ष्मीलतानववसन्तमहीतलेन्द्र विद्याविलासमणिदर्पणसिन्धुराज ।

एतन्मया घटितमज्ज्वलकान्तिकाव्य-माणिक्यकुण्डलमिह श्रवणे विधेहि ॥

लक्ष्मीरूपी लता के लिये नये वसन्त क समान हे धरती के इन्द्र ! विद्या के विलास के लिए मणिदर्पणरूप सिन्धुराज ! मैंने यह उज्ज्वल कान्तिवाला काव्यरूपी मणिकुण्डल बनाया है, इसे अपने कानों पर धारण कीजिये ।

त्रिमर्श—मेरे उज्ज्वल कान्तिवाले मणिकुण्डलों की भाँति सुगठित इस काव्य को आप सुने । अर्थात् जिम तरह मणिकुण्डल सौन्दर्याधारक होने से आनन्ददायक होता है, उसी तरह यह काव्य भी आनन्ददायक होगा ।

न्यस्तानि यानि मयि सूक्तिनुधापृपान्त ।

देवं तेन कतिचिन् कविवान्धवेन ।

चन्द्रातपस्नपितमौक्तिकसोदराणाम् ।

तेपामिदं विलसितं नवसाहसाङ्क ॥

हे नवसाहसाङ्क ! कवियों को चाहने वाले (वाक्पतिराजदेव) देव मुझि ने मेरे हृदय में जो कुछ सूक्तिनुधा के ऋण भर दिये थे, चन्द्र की व्योम्ना से सराबोर मोती जैसे उन्हीं सूक्तिरूपी अमृतकरणों का यह काव्य विलास है ॥

यच्चापलं किमपि मन्दधिया मयैवम् ।

आसूत्रितं नरपते नवसाहसाङ्क ।

आज्ञैव हेतुरिह ते शयनीकृतोप्र-

राजन्यमौलिकुसुमा न कविस्वदर्पः ॥

हे राजन्, अपनी मन्द बुद्धि से मैंने इस प्रकार की अपनी चपलता को जो इस काव्यरूप में निबद्ध किया है, इसमें समस्त बड़े पराक्रमशाली राजाओं के शिरस्थित मुक्तामणियों को धराशायी कर देनेवाली आप की आज्ञा ही कारण है । मेरा अपना कवित्व का कोई गर्व इसमें नहीं है ।

इति नवसाहसाङ्कचरितं सम्पूर्णम्



श्लोकानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
अ		अतिदृढमनुरक्तया	४७
अशुक्रेण शरदिन्दुमन्धुना	१२८	अतिदुर्लभसूर्यभासि	६६
असावलमित्रीनिधत्	१६५	अतिदूरत एव हरयते	७५
अस मवत्कलप्रग्नि	१७६	अतिपाटलाधरमवाञ्छित	१५५
अक्कणमकेयूरम्	१७९	अतिभासुरसकुण्डलाम्	१८३
अकरात् पद्	२३१	अतिमात्रमुपोडसौकुमार्ये	६५
अकलङ्काकृतेस्तस्य	८४	अतिवसलया सम सखीभि	८०
अकृत्रिमश्रीनिलयेन	२००	अतिविततगुणैकधास्त्रि	४५
अकृत्रिमस्यागसमुद्गतानि	१६	अतिवेलमुत्तरदिगन्तवर्तिना	१४७
अकृत्रिमोऽय गुगवत्सु	१३३	अतिरक्तमायततरेण	२३५
अकृ वा भवत प्ररन	१६७	अतिरागिणी प्रणयिनीय	२३५
अकृतातिथ्यमेतस्य	११७	अतिसान्द्रकाञ्चन	१४६
अक्षिपत्तदशिलाविटङ्कित	१२३	अतिविनतस्त्रि वहन्न	४७
अकारि कापेयमिद्	२०६	अति स्वाधीननीवार	१७८
अकांक्षुलपितै	२६	अतीते विक्रमादित्ये	१७९
अरुण्डमण्डलेनाथ	१७४	अतो वरोऽय युवयो	१११
अगमत् त्रयस्य मममेव	२३५	अत सम्प्रति वीक्षन्ते	१६५
अगलन् कुसुम याजात्	१६१	अथ कनकमृगालिका युगस्य	४९
अग्रत कृतपयोधरश्रिया	११९	अथ कमलमरस्तरङ्ग	४४
अग्रत स च	१२८	अथ क्रमोन्मीलितसौहृदाम्	१८०
अगाधपातालतलोद्गतानि	१४२	अथ किररानेन्द्र	९३
अद्गादमिप्रासगृपत्	२६३	अथ ताभिरेकतपनीय	२३१
अचल विजय पतत्रिणो	७३	अथ ता गृहीतशरदिन्दु	२३१
अच्चितयत् मेति च	५६	अथ ता शिधिहीकृतत्रपाम्	१९३
अज्ञातपाकस्य नवातपाधिका	२००	अथ द्वयनाग्निपाकशासन	२०१
अज्ञायतान्त ऋणेन	१९७	अथ द्विरेफस्य	११२
अत्यच्छदशानोद्	१७३	अथर्धिमस्या परव्यसि	६२
अरयाद्वानतमुरासुरभौलि	२७७	अथ नभमि पिशङ्गसाध्य	४६
अतसीकुसुमोपम	१८८	अथ प्रजालाधरविम्बचुम्बि	२२३
अत्रातरे श्रुति	११४	अथ पथि नवसाहसाङ्क	२०९
अत्रान्तरे प्रमदलोलदशा	२८०	अथ पार्श्वचरेण	१८२
अत्रान्तरे नभस्मिन्धु	२४०	अथ बहुचरते	३४
अत्रातरे समावाती	९५	अथ मदगवलीलावेल	८०
अत्रोर्वीतिलके	९१	अथ मधरलोचन हिया	१९२
अतिकम्पमूर्मिकुटिल	२३१	अथ स्वरेणागणदीधिकण्णा	१३२
अतिक्रांति गुणाभिराम	६८	अथ मानवमीनलक्ष्मणो	१८१

अथ मातृवती नाम	८४	अथेदं रत्नवल्यं	१७८
अथ सुखरखगापनीत	३२	अथेन्द्रचापललितं	२७
अथ मेकलाचलसुतातिरोहितौ	१४४	अथंतेन गृहीतेयं	१७८
अथ वदति शनैः	२५८	अथैप दीर्घा दशनाचिपः	५३
अथ वल्लभार्पितकराप्र	२२७	अदृश्यमेतद्यदि	१०९
अथवा परतोऽस्तु नर्म	७८	अद्य नः सफलं	८९
अथवा मृगयिष्यतेन	७५	अदृश्यैरथ सा	१७७
अथवा मृगभङ्गिनोपनीते	७३	अद्य नः पुण्यवीजेन	१६७
अथवाऽस्यास्ति शक्तिश्चेत्	२५५	अदृष्टेऽप्युःसुका	८३
अथवा सुभट्टैः	२५८	अद्येप कस्यापि मया	१३२
अथ विद्रुमतात्रोष्ट	२४२	अदः सुगन्धीकुरु	२२०
अथ विभ्रत् सरागेण	१६०	अध्यामते कामपि	२१९
अथवैक पृच विभुरस्यरेर्वधे	१५१	अधराप्रसुभ्रनमवाप्य	२३६
अथ शुचि पठता शुकेन	१९४	अधिकर्णसुदगतमयूख	२३२
अथ स त्रपया धृतांशुकाम्	१९४	अधिकाधिकजातलज्जया	१९४
अथ सानृजुवादिनी	७९	अत्रिरोहति यत्र वंश	६८
अथ सा सिद्धतनया	८५	अधिरोहति स्वयमचिन्तिता	१४४
अथ सुतनुरलोलतारके	९९	अधीत्य कौतुकेनाथ	८३
अथ स्वत्रिभ्वाधर	१०५	अधुनापि देव	१४७
अथ स चटुलपट्पदो	३४	अधुना पुनरत्र विन्ध्यपादे	७०
अथ सम्भ्रमादनुचरेण	५०	अधुनैव तेऽत्र निजतां	१५०
अथ समुदित्रासा	११४	अधःकृताः सत्यमधीरलोचने	१०८
अथ सस्मितमात्तवेपथुः	१८३	अधः स्थितोऽुामर	२७०
अथ सान्द्रघर्मजलविन्दु	२२६	अधः सन्नद्धमेवेषु	१६९
अथ सा वदने नवेन्दु	६५	अनङ्गकल्पद्रुममञ्जरीणाम्	२२२
अथ हारमनादरेण कंठात्	७६	अनङ्गचण्डातपतप्तयोः	५२
अथ हारलताविकृष्ट	७७	अनङ्गतापवत्यस्या	२४६
अथाथर्वविदामाद्यः	१७१	अनङ्गसाम्राज्य	१०२
अथादधद्वक्त्र इवांशुकाञ्चलं	१९८	अन्तर्जटापिहित	२७७
अथाऽदूरे सुखासीनः	१६६	अन्तः प्रवेशयामास च	२४०
अथाधिगन्तुं किल तस्य	५९	अनयन् सहसैव	२३७
अथानङ्गवती नाम	८८	अनया साम गायन्त्या	१६४
अथान्तिकस्थेन स	२११	अनया विद्रुमस्तम्ब	२७
अथार्पितं तेन फलं	२००	अन्योन्यकृत्तास्तरसा	२६३
अथावर्तंसीकृत	१०६	अन्योन्यसंश्लेष	१३
अथाश्रमोपान्तमहीं विहाय	२१०	अनर्पणं महीपाले	२५७
अथास्य कोपः प्रशशाम	२०६	अनयोः किमपि त्वया	७८
अथास्य सीदन्मणिवन्धनात्	२००	अन्योन्यपल्लवित	२७९
अथासुरेन्द्रद्विरदेन	२६८	अन्योन्यसंघट्टवशेन	२६०
अथाहिविद्याधरराजसैन्यैः	२६०	अन्योन्यसंघट्टविसृत्रितानि	२१३

अनल्पलावण्यविलास	५२	अभ्यागताया सहसाऽमुनास्या	२१९
अनल्पसन्वपत्रिकल्पजाल	१५८	अभ्युद्गता	२६९
अनवद्यमित पुर	१८९	अभ्युद्गताचिरनलो	२८३
अनातपत्रोऽप्ययमत्र	५७	अभवद् द्वयमेव	१८१
अनिवारितकेलिकौतुका	७०	अभिकानभिसर्तुमुद्यत	६८
अनुश्रुतीश नलिनीदलासने	१०६	अभिकान्तमपाङ्गपातिना	१८२
अनुगुणपदविनिर्गतासु	४७	अभिगम्य एव स तवाधुना	१०९
अनुपुञ्जितपिद्मदीधिति	१८६	अभितोद्गनामुत्पद्युगाङ्ग	२२९
अनुपाधिम्पाहृता	६७	अभिषेहि ऋव कुतूहलस्य	६६
अनुलिम्पनि रोदमी	६६	अभिनवल्लिवितामिव	४९
अनेकरूपाऽलिखन	५२	अभिनवविमशङ्कया	१२७
अनेन कनापि तवाश्रमे	२०५	अभिसरति वनस्थली	४२
अनेन गेलेन्मददन्तिना	६२	अभेदमिन्दुना गीत	८३
अनेन चेशोगमुपैति	५८	अमन्दमारताक्षेपमुक्त्वा	१६१
अनेन तावदृशे पुर	१९९	अमसस्तनदपपातनादितात्	१२३
अनेन ते सश्रमवारिचिन्दुना	१०९	अभूत पर्याकुला	९७
अनेन ते सुन्दरि	१०८	अभेदमृदस्तवकाभिराधृता	५५
अनेन पीनस्तनकम्प	६१	अमिष्वङ्कारथ	९३
अनेनमेकोऽपि हृदि	१३७	अमीभिर्बालि	२६
अनेन रूपानिशयेन	५५	अमी सरोजप्रतिमे मुपे	६१
अनेन विन्ध्याद्रिविहार	६१	अमृते दुःखला सहोदरा	७५
अनेन विहितान्यत्र	१७७	अमुना शतपत्रवन्धुना	१८६
अनेनास्त कपोलेषु	१७७	अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम्	२१६
अनेनेच्छसि चेत कर्तुं	२५४	अयमभिनवकर्णिकार	४२
अपकर्तुमत्र समये	१४६	अयमिह हि लतामुपैति	४२
अप्यपाहृतरय स	११९	अयमुचिततर षण्णिक्रियो	३९
अपयातु खग स	७४	अयमुत्पलपत्रलोचने	१८४
अपरिस्फुटोन्मिलितासु	२३७	अयमुल्लिखित ध्रुव	१९०
अवहर्तुमगास्वमेव	७७	अयाधितोऽप्यपित	११२
अपाङ्गसवर्धित	१०२	अयि ! कथय सितच्छद्द	३९
अपास्थ वामेतरकर्णभूषण	१९६	अयि रवा	९३
अपि कृतनयनोत्सवेन	४९	अयि मेकलाद्रितनया	१४४
अपि फोशगृहोदरे	७७	अय मुलिनपौलोमी	२४
अपि दत्तकुतूहला	६८	अय नेत्रोत्सवस्तस्मात्	१०५
अपि चक्रवधूरिय	१९२	अय स न स्यान्नत्साहसाङ्ग	८
अपि शृष्टा त्वयेतस्य	२५	अय स नो हार इवास्य	५८
अपि नाम सृष्टूनि	७६	अरण्यमहिषैर्दूर	५१
अपि धमेगायतमागज मना	१९८	अरण्यानी कवेय एत	८०
अपि स्वच्छजला	२७	अरतिस्वमवाप्याभ कणिकेय	२४५

अर्धचन्द्रमथ तज्जिघांसया	१२५	असतामसुहृन्न लज्जते	७४
अरविन्दकरेण लोहितं	१८४	अस्ति क्षिताबुजयिनीति	४
अरविन्ददलत्विपा करेण	७०	अस्याः क्षमापाल	२१५
अरविन्दमुखकोट	१६१	अस्याखण्डलकोदण्ड	२५
अरातिमुक्तेषु	२६९	अस्याः श्रुतौ चम्पकमादधत्याः	२२१
अरालकेशीयमनेन	१०१	अस्याः लताक्षेपविसृत्रितस्य	२१७
अरुचदथ करे स	४७	अस्याः स्मरात्रिसन्तप्तं	२४५
अरुणाङ्गुलीदलनिरुद्ध	२३४	असावितः पाथिव दन्तपत्रम्	२१८
अलकच्युतमन्दार	१७०	असितकान्तिजालजटिलाग्रवाहुना	१४७
अलक्षयसन्धान	२६५	असिताक्षनाङ्गमभिजात	२२९
अलङ्कृतः कस्य	२०१	असुराधिपतिं सान्ना	२५०
अलं प्रहृत्य भूपाल	२२	असुरेन्द्रस्य दोःकण्डु	२५१
अलं विपादेन धनाधिरुढा	१३३	असूययेवाथ विमुञ्जती	१०७
अलं ह्यैवं समुपेक्ष्य	१०४	असूच्यत् प्रसङ्गे न	१७८
अवकृष्य सलीलमुत्तरीयात्	७७	अमेवन्त समीरास्त	२२
अवदक्ष विहस्य पार्थिवेन्द्रः	७६	असैरिभमसारङ्ग	२२
अवददथ चित्पुण्डरीक	३८	असौ पराधीनतयाऽस्पदीकृतात्	५६
अवददथ स साहसोन्मुख	१४३	असंशयं प्रागसृजत्	१६
अवधूतमानमधुपानरस	२३६	अहिराजसुतानिदेशतः	७२
अवन्तिलको	९७	अहिराजसुते विलोक्यताम्	१८९
अवनीवलये त्वमात्तदण्डः	७८	अहो किमपि कल्याणमासन्न	२५३
अवपेत समुन्मीला	८३	अहो गुणेन राजेन्द्र	२४२
अव्यात् स वो यस्य	१	अहो दूरस्थितेनापि	९०
अवलोक्य भीरु सम्प्रति	१८५	अहो न कस्य भिन्दन्ति	९२
अवलोकयामि शकुनं	१५१	अहो पुराणराजपिं	१७९
अवश्यं तन्वि	९४	अहो वत्त विदग्धोऽपि	२५४
अवश्यंभाविनी तत्र	१७९	अहो महत्साहसमेतद्रेव	३
अवशा म्माऽभवच्चित्रं	८१	अज्ञानमस्मिन्विषये	१३७
अत्राप देवः श्रियमन्तिक	६०	आ	
अत्राप्य तास्यां गृहदीधिका	८	आकर्णकृष्टात् धनुषः	२६४
अविरलमणिदीपाद्योत	२३८	आकर्णकृष्णकोदण्डस्त्वां	२४५
अविशन्नरनाथनाम	७१	आकर्णितानां मरुतेषु	१४
अवेमि गीतेन हते	८	आक्षिप्य हारान्	१३
अवेमि संवेयममोघ	१००	आक्रान्तदिखाण्डल	१४
अशून्याः सुरगन्धर्व	२५	आत्तप्रसाधनमनङ्ग	२८०
अशेषभुवनख्यात	२२	आदातुमवतंसाय	१६८
अशोकपुष्पप्रथितां	१३५	आदाय सादरफणीश्वरदत्तमर्ष्यम्	२७४
अशोकस्कन्धलक्ष्म्यं	९२	आध्मान्ति पातालतले	२६२
असत्कवेर्वागिव	५३	आधूतकार्तस्वरकेतुयष्टि	२१२

आननेन लक्षिताद्विपक्षमगा	१२९	इत्युक्ते मस्य तेन	२८
आनन्दबाष्पमलिलाद्	२८५	इत्युक्ते मुनिना सोऽथ	१५९
आनेनुकामेन भवन्तमत्र	१४०	इत्युक्त्वले तस्य	२०३
आनीतया श्रुतिरिति	२८३	इत्युदीर्यं भागिकात्तिकद्वली	१०३
आनीय तद्यो दुहितुर्ममास्या	१३९	इतरा पदाद्भविव	२३३
आनीयताकुन्त्रव	८६	इति कथयति चाप	४३
आपपान मरमाद्द	१२४	इति चिनीदाश्रुतिशुक्तिपेयाम्	१३६
आपानभूरवमितामव	२३७	इति किञ्चिदेव न तव	१४८
आमन्तुगुञ्जत् कलहम्	४	इति क्रियदपि यावदव	५०
आमन्तुशङ्खपटहस्वनमुचित	२०८	इति तद्भवम्	९५
आयामिमालामगिकात्ति	२११	इति तद्भवया स्मरैक	८६
आग्ना चन्द्र	२६७	इति भरपते स्वान्ते	१५८
आर्द्रमगाद्भुस्य कृपात्रं चिन्ता	१३५	इति पार्थिवेन कथिते	१४५
आर्द्रांगसेय गमिना	२१९	इति पार्व्वर्तिनमुदीर्यं	१५३
आलक्ष्य स्तनसक्यलक्ष्मणि	५०	इति पृष्टवते तस्मै	२०३
आलोत्रय दर्पणतले	२७५	इति प्रकृष्या मधुरोक्ति	६
आवर्तनामूर्मिलतायमान	२६२	इति प्रियमग्नीसूक्ति	९६
आवृत्तिदत्तमन्देशा	२४८	इति भूतलवामव स	१९२
आधयत्यवनिमेघवाहने	१२४	इति वल्लु जहरति	१५४
आम्ना किमयं पणिमि	१४१	इति वल्लु वचो	७९
आमन्नपन्नमरमा	१६०	इति विरतवचस्युदीर्यं	३९
आमन् मुत्तानि	२७१	इति साऽभिहिता मृगायताक्षी	६३
आमन्वानुचरपृतेन	९९	इति सा समुदीय तत्	७३
आमामित सत्वरगामिनीनाम्	२१३	इतीहित्तज्ञे वदति	१०३
आमा पृथुम्बदकणाङ्कितानि	२२२	इतीतिवृत्त तदुपाश्रय	११२
आसा लनाप्रस्तबकोत्थितानि	२१६	इतो गात्रपरावृत्ति	१६४
आसा मुधारसार्द्राणा	२५३	इतोऽथ याती पुरतो	१३३
आसीत् पुरस्तात्रिपुरावभन्ने	१४२	इतोऽप्ययमृषि परय	१६०
आमीनमश्नश्चाममुच्चै	२५१	इतो मिय पार्व्विघटितपु	२१३
आहादहतुं चिन्धे	२७	इतो रस पल्लवयति	२१४
आहृत इव साटोप	२०	इतोऽवतसोऽपललास्य	६१
इ		इतो वान्ति हविर्भूम	१६३
इत एव निवतध्व	२५५	इतोऽस्ति गव्यूतिगार्धमात्र	१४०
इत्येकालजलदादिवैकृते	११९	इतो हिरण्मयी मूमिरतरवा	१६३
इत्यादि व्याहरन्ती	९३	इत गिरोऽसगतले	५७
इत्यापनन् मदनयाऽपरम्परागाम्	२७५	इत स चित्राङ्कित	५६
इत्युक्त्वति सामपभटदृष्टे	२५०	इदमद्भवतिना	१८३
इत्युक्त्वा विरते	२५	इदमज्जननीऽमाहृतम्	१९०
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्	१६८	इदमत्राद्भुत परय	१६४

इदमर्धविलोकिताधरं	१८४	उचितं निजसायकानुरोधात्	७९
इदमभ्यरपल्वलोदरात्	१८५	उज्झति स्म स ज्ञानैः	१२२
इदमिन्द्रजालमिति मे	१४४	उज्झिता झटिति	१२४
इदमुद्गगतमिन्दुमण्डलम्	१९०	उहुभिः खमितस्ततः	१८९
इदमोमिति गृह्यते	७६	उक्षिप्य वेपथुमता	२७४
इदं नृप त्वमवलोक्य	१३२	उत्पचमणा निरुपमोहसित	२८१
इदं भान्त्यतिलोहितातपस्तवकाः	१८५	उत्पतन्नपतदग्रतो	१२६
इदं महच्चित्रममानुषं	६२	उत्पताकमणितोरणाङ्कितं	१२७
इदं मृणालादपि	१०९	उत्प्लुत्य वेगात्	२६१
इदं वदाशिक्षत	१०९	उत्प्लुत्य हेलाहत	२७०
इन्द्रनीलकपिशीर्षकं	१२७	उत्तंसितेन्दुशकलाय	२७८
इन्द्रनीलप्रतोलीतः	१६०	इत्युक्त्वा सूक्तिचतुरो	१७८
इन्दुः कटकमाणिक्यं	१६९	उत्सृज्य गीतमसमाप्य	२७४
इन्दुद्युतिः कुन्दसितान्	१४	उदग्रकलोलकदार्धित	२०३
इमाः समं प्राणसमैर्वनेऽस्मिन्	२१६	उदग्रतुरगाधिरुदः	१८
इमां त्वदाकारनिरूपणे	१११	उदग्रदिग्धारणहस्त	५२
इयत्तया मुक्तमवैमि	१०१	उद्घाटितेष्वथ	२८६
इयमत्यच्छुद्धये	२४५	उद्ब्रदिन्द्रचापानि	१७०
इयमश्रुतरङ्गितां दशं	१८६	उद्व्रितव्यायतपचमणा	१११
इयमिन्दुद्युतिहरं	२४६	उदडीयत खे मुखेन	७१
इयमिन्दुमुखि त्वया	१९१	उदनमदय तत्क्षणाद्बुद्धत्	११४
इयं किमु स्याद्भनदेवता	५६	उदरस्थितयोः कुतूहलात्	१८८
इयं त्रियामापतिका	१०३	उदस्य वक्त्राणि	२१०
इयं तवानेन	१०१	उदितत्रपा इव	२२७
इयं नताङ्गी	१०२	उदितानि तमांसि सा च	१८७
इयं परिभ्रान्तिरगेन्द्रकन्दरे	६२	उदितासु काञ्चिगुण	२३३
इयं पुरो निर्यतिदूरमायते	१०३	उदितेन वैरितिमिरदुहा	१४७
इयं महीपालविलोकितेन	१०३	उदित्य पटुक्त्वा श्रमचारि	६१
इयं विलासोर्मि	१०१	उदियायमानतिमिरौघ	२३४
इय सुधा सुग्धविलास	१०१	उदेति कान्तामणिमेखला	५
इर्पाश्रुलवकीर्णं	९५	उदण्डहेमाम्बुरुहासु	१३४
इह किं प्रतिस्फुरति	१४५	उहामदुग्धाधिधतरंग	१२
इहानुतापो भगवन्	२०६	उद्यद्विवृतकरवेणिकया	२७५
उ		उन्मोचयन्तीमलकाग्रमेत्य	१३४
उक्त्वेत्यनर्धमतिपावन	२८४	उपयुक्तामृतस्पर्धि	१६२
उक्ते तयेत्यकृत	२८१	उपरोधमिमं न मन्यसे	७३
उक्त्वेति तूष्णीभवन्तृसोमः	१३७	उपवन इव सम्भवः	४०
उच्छिन्दतः क्षमासरसीं	१६	उपान्तविश्रान्तपयोदमण्डलैः	२०३
		उपायनीकृतोजिद्र	१९

उपोढतारापतिता	१०३	एष जानु न विकस्यते	१२२
उपोढनानामणिमौक्तिकोरकरै	२०२	एष ते न घटति	११७
उपोढलावण्यतरङ्गभङ्गया	१००	एष दृष्टस्त्वयेत्युक्ता	८७
उल्लसन्नपयोधरालसा	११६	एष वज्राकुशास्त्राज्ञी	१७९
उल्लस-कुटजा	९८	एषा तमालावलिनीलकाते	२१५
उल्लासिषु स्वर्गगवाक्ष	७	एषा शिखेव दीपस्य	२४६
उमाह लज्जानत	१०४	एषां द्वितयमेताभि	१६४
उवाह विस्फुरजाल	२९	क	
उरसा रङ्गगीर्वाण	२५१	क एष राजेति	१११
उरमि नरपते पतन्	४८	कञ्चिदस्य प्रमोदाय	८९
ऋ		कठारातपतस्य	२७
ऋतु क्वचित् क्षाप्यन्तु	५५	कर्णभूषणमणिप्रभालत्रे	११७
ऋतु तमथ विहायमा	४३	कर्णावतसीकृतपल्लवाना	२२२
ऋपुनेक्षत यस्मिन्	८८	कतिचिदपि लतान्तरे	४७
ऋतु प्रकृत्यामि पर	१३६	कतिचिद्वलिनिपीत	३५
ए		कथञ्चित् प्राणनाथस्य	२८८
एकत्र पाश्च शशिवण्डनामा	२६७	कथमेता प्रविष्टस्त्वम्	२४१
एकस्तपोरगामदम्बर	२८६	कथय प्रिये निहितसा-द्र	१५७
एका माणिक्यकटक	२४९	कदलादलदन्तमारुतो	१८१
एकेन राजहसेन	९०	कदाचित् पाटले कश्चित्	२४२
एक क्षिप्तौ माहासिकस्वमेव	१४०	कदाचिन्नोचनातिप्य	१८
एनकर्णात्पल	९०	कनकारविन्दमरविन्दलोचन	१४९
एनद्यशोभटकरै	२७६	कन्दपदर्पशमनाय	२७७
एनया साम्प्रत ब्रूहि	२५२	कन्दपस्य त्रिलोकाहठ	२३८
एनान्यवन्तीश्वरपारिजात	४	कन्यकासि	११८
एतानि परम	२२२	कवन्धकण्ठोच्छ्रलदक्षव-त	२६३
एतानि काश्चै	२२१	कमलेव मुकु-दस्य	२५६
एता मिथो रङ्गविमानमार्गा	२२१	कया न सारङ्गदशाऽसि	१९७
एतासु मीदन्मजिब-धमूल	२२२	करादनुचरस्तस्य	२८
एता करै काञ्चनपद्मगौरै	२१६	करुणार्पितलोचन मिथ	१८१
एता प्रयात्य पुरतो	२१३	करेण विभ्र-मधुमत्त	१९९
एते गतिक्षोभवशात्	२१३	करण सासूयमपास्य	१११
एते रवलीनक्षत्रशाणिताका	२१५	कस्य गृहा	२८२
एभिर्महीपालविमानरश्नै	२१४	कलहसकलस्वनैविशुद्धा	७०
एवमारुण्य ललित	२४७	कस्तुलाप्रमथिरोप्य	१२३
एवमादि यद्भूममहामनेरद्भुत	१२६	काकपक्षोद्भूतार्धान	१६३
एव निसर्गमधुराण	६४	काचित् पर्यङ्कमालोवध	२४९
एव सुधारससमृद्धिमनोहरेण	२०७	कादम्बचञ्चुतच-द्रवाकी	२२४
एष चैत्रोत्सवशिख्रे	९३	कात्यानुलिप्तानि	१६

कान्तायशोभटयुतं	२८५	कुर्वन्ति यस्यां कुसुमेषु	८
कान्तिच्छटाच्छुरिता	२७६	कुर्वन् मुखानि स्मेराणि	२५२
कामं दुर्लभमेवैत	९४	कुरु विजयमितो	४३
कार्मुके सति शरेषु	१२१	कुसुमशरसखस्य कस्यचित्	४९
कारितासनपरिग्रहे	१३०	कृजन्ती कोकिलवधू	९१
किं ताम्रसि	९१	कृतचाटुशतैः परस्परं	१९१
किं निमग्नमिह बालया	१२१	कृतनूननागंलकपाटसम्पुटां	१५०
किञ्चापरं त्वमेतस्या	२४७	कृत्वा यथोचितमकृत्रिम	२८६
किञ्चित् त्रपानुविद्धेन	८७	कृतसम्भाषणा साथ	२४१
किञ्चिदन्तरितमूर्मिभिः	१२३	कृताङ्गदः कम्बलकालिकाभ्यां	१४१
किञ्चिदस्य पुरतोऽथ	१२५	कृतानतिभ्यः सहसा	१५
किमत्र करवै	९१	कृतानतिर्विस्मितमानसे	२०१
किमनङ्गवती वक्ति	२४२	कृतावधानातिशयेन	११
किमन्यज्जायतामेप	२५६	कृतावतारं तद्वंशे	२५६
किमन्यत्तव	८५	कृतीति चार्ता तव वेत्सि	११०
किमन्यत् सममेतेन	२५८	कृती दशाऽस्याः सुदशः	१०६
किमन्यदत्रोल्लसितं	११३	कृतं यदेतेन मुनीन्द्र	२०७
किमन्यदस्याः कृतपाणिपीडनः	११३	कृपाणपातंर्दलता	१४
किमन्यदस्याश्चरितैः	३	कृशतामङ्गके गाढमस्याः	२४५
किमन्यदुक्तं सुधयेव	१०३	केयूरपन्नरागाशुमञ्जरी	२५१
किमन्यदुत्तिष्ठ गृह्णाण	१४२	केपाञ्चिदूहः कवचानि	२६७
किमन्यन् नार्थिनां	२५४	केलासशलवसते	२८२
किमपरमनुगम्य एष	३९	कोऽन्यः सखि	८९
किमयं मयि सम्भ्रमो	६५	कोऽयं कोप्ययमन्योन्यभवं	२५०
किमागतासि किं	२४२	कोष्णिनिःश्वसितवेपितच्छदं	१२१
किमाश्रमं शून्यमिदं	२०५	क्रियते बलयेनास्याः	२४६
किमालिखितवर्त्यपा	९३	क्रुधेवाधिज्यचापेन	२५
किमु विपुलमिमं मनुष्यं	४९	क्रोधादथार्धशशालान्छन	२७१
किमेतत् भवतिष्ठध्वे	८४	क्वचित्क्वचित् पतन्त्या	१६९
क्रियताप्यथ कालेन	२५०	क्वचित् क्वचित् स्वेद	५५
किसलयकलिताञ्जलिं	४१	क्वचित्त्वयाऽयमज्ञायि	२५३
कुचयोः प्रतिविम्बितः	१९१	क्वचित् मणीनां	२०४
कुचलुसपत्रलतयाथ	२२७	क्वचित् सुधापाण्डुनि	२४०
कुचाङ्गरागः कृशमध्यया तथा	१९६	क्वापि नूनमपहत्य	११९
कुतत्रपा तवालीषु	९०	क्वणदाभिमुखेन खण्डिता	१८७
कुन्हलाध्यासित	१०८	क्वणमप्यहो पतमि मे	१५७
कुन्हलोह्लासितपद्म	२१०	क्वणादपाङ्गस्तिभिता	१०७
कुम्भस्थली-रक्षतु	१	क्वणाद्वलन्ति स्म	२६४
कुरववनतः कदम्बराजि	४३	घमायां यभुः खड्गपृथक्कृतानि	२६३

चित्तिचुम्बितहार सा	२४१	जगदेकविलोकनोरसवे	१८३
चित्तिप रमयसे किमेप	७८	जगाहे स महा	३१
चित्तिरेकातपत्राया	२१	जटाहिरब्रह्मतिपार	६१
च		जडरचिरपि रोचते	४०
चवगेदभङ्गे न तथा	१४१	जाने जगन्मोहन	७
ग		जामधूनदलतागुलम	१६२
गत्वाथ दूरमहिविष्टपत	२८४	जायते पेशलमपि	२४६
गत्वा विद्याधरभटचमूचमवाले	२५८	जितमेतेन कोऽप्येप	८९
गतानि सद्य श्लथतां	१३५	जितवर जगति	१२०
गतास्तु तीर तिमियद्वेनेन	१०	जयोस्त्रा सिताम्बर	२८०
गमने तदेहि सहिती	१५२	जानस्वदिग्गितैवात्र	९४
गळिताद्गदा गुरुररद्गदलित	२३०	क	
गुप्ताभितो यत्रिदशारिबीरै	१३९	क्षत्रियवाप्तप्रतिविम्बमेतत्	२१४
गृहाणि यस्या सवरद्गनानि	५	क्षटिति विगते	१९५
घ		क्षटिति स्फुटभावसङ्करां	१९२
घटित विषेरिदमजर्यामावधोर्न	१५४	त	
च		त कारयपिसहस्रा	८४
चरार च पद् चित्र	३१	त विष्टपत्रितयकण्टकदृष्टसारम्	२७४
चकाशिरे शस्त्रभृता	२६७	त टेमकदलीपत्रकस्तूरी	२४३
चक्रिरे वेधसा नून	१७६	तटभुवि तमपर्यदापतत	४५
चक्रुस्तस्यानिलस्पर्सा	१६१	तटोद्गतप्राशुतमालराजि	२२४
चक्षुस्तदुन्मेपि सदा मुखे	१	तच्छणेनैव सा	८८
चतुरकृतकचमह स	३४	तत्कालोचितमृतम्य	१६२
चतुरां कोकिलामेप	९२	तत्र वैद्रुमगवाचमुर्द्धित	१२७
चमरीणां शरोकृत्से	२०	तत्राध दिग्गतपरिस्त्रलित	२८४
च्युतरब्रभूपणमरीचि	२३१	तत्रावतीर्य रथत	२७८
च्युतमिव सितचामर	३७	तत्रार्णवध्वनिधनो	२८५
चरणयुगतले	३७	तत्तले स्थितिमुपेयुषा	१२८
चलितयनिसमाधि	२०९	तत्रस्वपृशस्ते कवय	२
चलितोऽसि बद् क	१८६	ततश्चित्रगते तस्मिन्	८६
चिन्नेप पृथ्वीतिलके	२७०	ततरिशथिल	९८
चित्त प्रसादश्च मनस्विता	२१	ततस्तथा पञ्चशरप्रतारित	१९६
चिन्मतनु विसपता	३५	ततस्त्रदालोकनकौतुकेन	५६
चित्रवतिन्वदि	८७	ततस्त्रद्वीपे रदितस्वनी	२०५
चिरेण मन्ये चकुलद्रुमोऽय	२२१	ततस्त्रप्रस्थमर्षोऽस्य	१७८
चिर विभिन्ना कुमुदेन्दु	१६	ततस्तरद्गनिधौन	२९
कुम्भनहृष्टविभ्रोष्ट	२४९	ततस्तापसक्याभि	१०१
ज		ततस्तिरोहिते तरिमन्	२४
जगदेकललाम तस्य	६९	ततस्तुरगमुत्सृज्य	३३

ततस्तुरगहेपाभिः	२०	तदनेन विनोदयाशु	७६
तत सः दूरादहिराजकन्यकां	१००	तद्देहकान्तिस्तिमिरं	१३८
तत् स्फाटिकं स्वमिव	२८३	तद्ब्रह्मस्वकरन्यस्त	२४
तत् समीहितभवन्ति	१२२	तद् वासवारिविजयोत्थमिदं	२८२
ततस्य रोमाञ्जनिपीड	११२	तद्वीर्यनिर्वासितसौष्टवानां	२६४
ततस्सुधासूतिकराभि	१३८	तदक्षीयखुरोत्खातैः	१९
तत् साध्वकारयदथा	२८६	तदस्य कार्यस्य पुरस्कृतस्य	१४०
ततो वज्राङ्कुशोधान	१७७	तदा फणीन्द्रकन्यापि	८१
ततो विसृज्युतहारयष्टिः	२३८	तदालिग्नभपाल	८५
ततः क्षणात् सकोदण्डः	१७१	तदाश्रयैवानुचरेण चधिता	१९७
ततः कृतप्रणामस्य	१६६	तदितः स्वयमेव देव	७५
ततः कृताशीर्मणिवेदिकाम्नुते	१९८	तदिन्द्रनीलद्वारे सा	२४०
ततः चेतस्यवनीपतिर्दधे	५१	तदीयनामाङ्गलिपि	५१
ततः पपात जलधौ	३२	तदीयमुद्दामरसोर्मिनिर्भरं	१०७
ततः पिनद्दोज्वलहेमवत्कलं	१९७	तन्निदेशितमध्यास्त	२५२
ततः प्रभृत्यद्भुतरूपरेखा	१३९	तन्निरीक्षणसविस्मयं	१२९
ततः प्रभृत्येव वलीमुखाकृतेः	२०७	तन्नि तिग्मांशुनेव	८४
ततः प्रियामौलिमणिर्न	२०५	तपनीयशिलीमुखस्तदङ्गे	७०
ततः फणिकुमारेण	२४९	तमात्तं वाचयेत्युक्त्वा	२४३
ततः ज्ञानेच्छया	२८	तमानर्चं स राजेन्दु	३०
ततः स मुक्तासितमादधत्	१९७	तमित्युक्त्वा सभामध्यान्निर्जगाम	२५८
ततः स मुन्धेन्दुमयूखवन्धिभिः	२०२	तयातिदीर्घदर्शना	६०
ततः सुधासूतिमिवोज्जिताकृति	२०१	तयोस्तथेव्वासपर	२०१
तथा कार्यं न वन्ध्यः	२४८	तरङ्गभङ्गोज्ज्वल	२२४
तथा तथा दृष्टपथान्तरान्तरा	११०	तरलमणिरुचाऽऽवृत्तं	३५
तथा न चूते नवमञ्जरीयम्	२२०	तरलेऽतिसिताप्रसितद्युतौ	१८९
तथाप्ययं देव निजप्रयोजने	२०७	तरलोमिलिप्तनितम्ब	२२९
तथा त्रिवेहि न यथा	२५७	तरुकोटरमूकसारिकं	१८८
तथैव तस्योपरि गत्वरस्य	२०४	तरुवितपलतान्तरेण	४१
तथोपलेभे समरोन्मुखस्य	२६५	तव चण्डि वितम्बयत्यद्	१८७
तद् गच्छतां शशिमुखीम्	२४७	तव वेद्मि पौरुषमहं	१५२
तदत्र कुसुमस्मेरे	२७	तव शंसति	१६७
तदत्र प्रहितो राज्ञा	२५३	तवैतया संकृतिपात्र	११०
तदनङ्गपष्टशर सन्दिश	१५३	तस्मिन् कुसुमकिर्भरि	३१
तदन्तराद् किंशुककान्तितस्करः	२००	तस्मिन् गते	२७९
तदनु त्रपया पराङ्मुखीं	१९२	तस्मिन् गते नरेन्द्रेण	१७३
तदापास्तमेवमवितर्कितोत्थिते	१४५	तस्मिन्नित्युक्त्वत्येप	१६५
तदनु पुलिने सद्यो	२२५	तस्मिन् पृथुप्रतापोऽपि	१७२
		तस्मिंश्चराचरगुरो	२८५

तस्य तापजननेन	१२०	स्वदर्शनोपकारिण्या	२४५
तस्या स्वहृत्तमुनि	२८४	स्वदीवविश्लेषमवाप्य	१३५
तस्या कुचयुगे	८६	स्वमघ्न भावेव	८९
तस्याप्रत कनककुण्डल	२७२	स्वमफल्यु नेष्यसि	१५३
तस्यावनिप्रदीप्तस्य	८५	स्वमिहैव नाथ मणिधात्रि	१५१
तस्याऽविरलमत्तलि	२९	स्वया महीभृतामत्र	१६७
तस्यास्तटेऽथ	२२५	स्वयि दुष्यवशेन दृष्टिमाहे	६५
तस्यास्त्रये च	०५	स्वयि स्थिते सम्प्रति	१३३
तस्यासयोर्नृसिंहस्य	१९	स्वामप्यवञ्जिता	८९
तस्या स सादृसजिता	१७	स्वामिवाक्तर	२७
तस्या मृदलवश्रेणि	८७		
तस्याऽसुरे द्रस्य	१४०	दत्ताभयोपनतपौरशना	२७२
तस्यै शपास	१३१	ददता नलिनीदलानिल	१९४
तस्यै हार महीभर्तु	९७	दधतमरणमद्राराग	४६
तस्योपरि विभो	१८	दधतीव कापि रचिमाप	२३०
ना ददश मरित	१२६	दधताभिरि दुक्तरजाल	२३३
नां निशम्य स	११८	दधताज्ञोपवीतन	१६६
ता दृष्टेनामसात्कर्तुमसुरेन्द्र	२५७	दधान दीप्तिपर्यस्ततिमिरौ	२५१
तादृष्टादङ्गमवात्र	२५४	दयितामनङ्गमदसूति	२३६
तावदागच्छ धनेन	२४७	दशनच्छदमात्	७७
तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना	१८८	दशनऽयोस्त्रया	२४
तिलकाङ्किता प्रचुरपुष्प	२३२	दशा दिनस्य तावेय	२६
गुह्र दधन्	२७०	दायिताहिते युवजनन	२३६
तुपारपाण्डुना	९७	दिवचक्रमचारिमरीचि	७
तूर्यस्वनेपु विलसस्तु	२८२	दिव यियासुर्मम वाधि	२
तेजसि स्फुरति ताडिते	११७	दीर्घेण चक्षुषा लक्ष्मी	१७४
ते तं यमेव किल	२०८	दुर्गेति सवत्र गता	९
तेन विन्ध्यादवी	२४	दुमना नृप पथाऽमुना	१३०
तेनाथ सूनृतवच श्रुतये	२०८	दुल्भोऽयमतिथिममापि	१३०
तेनाघाततदाताम्र	८२	दुरितघ्नमिद मुदर्शन	११४
तेनेवमुक्त प्रणयो मुपन	२७७	दूरात् सुपर्वारिसुत	२६५
तेनेव मुक्ते च तदा परेषु	१३९	दूरादव स तेनाथ	२३
तेनोपपादितमयो	२०८	दूर सन्तमसेनेव	१७१
तैस्तस्य बाहुवीथण	२१	दृस्ततस्तपरिवारयोपिता	१०५
तौ मुदुजलचरैरदृश्यताम्	१२३	दश विशादस्तिमितामुपातगे	१९७
श्रुतितोऽक्षतहारलेखया	१९३	दशा वऽस्पली	२४
स्वदशनोरसवमैव	१६७	दृष्टि फणी द्र	९९
स्वप्ने मुखात्	१५२	दृष्ट सर्वत्र राज दो	२४३
स्वद्वापिहेमपद्मेन	२५३	दृष्ट दास्वति मे	२४९

दृष्टा सखिभिस्साकृतं	८७	न चिरादलङ्कृतिविशेष	२३२
दृष्ट्वा नरेन्द्रमायान्त	९८	नदन्नुत्कम्पिमनसां स	२४८
दृष्टे शिरस्युत्फलिते	२६६	ननर्त विद्याधरसुन्दरीणां	२६६
देवपद्मगवधूर्भिरुज्वलं	१२९	न नागेषु न सिद्धेषु	८५
देव पश्चात्स्थितो	९७	ननु याम्यसुना शशिप्रभावात्	७९
देव प्रसीद समितिः	२०८	न पक्षपातेन वदामि	६
देव विद्याधरः कोऽपि	२४१	नभश्चराणां व्रजतामसीपाम्	२१२
देवस्ततः स मुनिकल्पितमिन्द्र	१८०	नमद्वनिपतिः पतिः	३४
देवस्यार्पितहेमाञ्ज	२५७	नमोऽस्तु साहित्यरसाय	३
देवः स वार	१८	नयनपथमयं यथा	४१
देवः साहसिकोऽप्य	२७२	नयनाम्बुभिः क्षपितधूसराधराः	१४७
देवो रमाङ्गदेनाथ	२३	नरदेव देवमधिकृत्य	१४८
दोर्दण्डकण्डूतिमथास्य	२६५	नर्मदोर्मितुलिते	१२१
दोश्चन्दनानोकहमाप्य	१५	नरेन्द्र तस्माद्	२१४
द्राघयत्यस्तत्रिम्बोष्ट	९२	नरेन्द्रं दुर्जिगीपातत्सद्गच्छ	२५५
द्रुतमनुदत् विबुधसिन्धु	२२८	नरेन्द्रनामाङ्गलिपि	८२
द्रुतमयमनुगम्यतामिदानीम्	४०	नरेन्द्रविद्याधरपुङ्गवानाम्	२१२
द्वयोरिवार्थः खलु	१९९	नरेन्द्र सत्यं स	१०१
द्वितये द्वयेन सहसोऽञ्जितस्तदा	१५५	नवकुङ्कुमारुणपुरन्धि	२२७
ध		नवपल्लवकान्तिना	१८२
धन्या हि ता वनलता	३०	नवपल्लवारुणमुवाह	२३७
धनुषि तनुभरं निधाय	३४	नवप्रवालद्युतिपाटलोदरः	२०२
धनुषि क्रियतेऽधिरोहणं	१९१	नवमेघमलीमसाद्युगान्ते	७१
धवलाभ्रकच्छुरितभित्ति	२२७	नवसाहसाङ्क नं तवासुरादहं	१४९
धवलोदरैर्भयवशेन	२३०	नवानुरागमङ्केन	८३
धावत् कराकर्णशिरीपलोभात्	२१८	नवाम्बुधरनीलोर्यं	२७
धूमेन या नैकमखोद्गतेन	९	नवाम्बुवाहप्रतिविम्ब	११
धृतमूमिहस्तनिवहेन	१५५	न विनोदयितुं शक्यमेपा	२४४
धृतयावक्राङ्गमणिकान्त	२३२	नवीनसाहसाङ्कस्य	८२
धृतया हृदि वालेर्यं	२४५	नवे नवे पङ्कजिनीपलाश	१५७
धैर्यं नवृतकोपोऽथ	२०६	नवोद्गताशोकपलाश	६२
ध्वजाप्रलम्बेन विलम्बता	९	नवं प्रेम नवोत्कण्ठा	८७
न		न शोकनुस्तस्य गतिं	२६५
न कयाप्यतिशयते	६९	न स दृष्टिमितस्तवापि	७३
न किञ्चिदिच्चाकुकुलावतीर्णात्	१३३	नानाङ्गरागशबले	२३८
न किमयमुद्धमण्डलापवादः	४८	नाञ्चं न भस्म न जटा	२७८
नगरीं स्वदात्तहृदयोऽपि	१५५	नास्य क्षितीशोपकृतं	१३२
न चन्दनेन नोशीरवारिणा	२४७	निकाममच्छैः प्रमदा	९
न चित्रमेवं	१०९	निकाममुक्तं सुकुमारमङ्गना	१०७

निकामसरले तरिमम्	८२	नृप गृहीतु न यमप्र	११२
निर्गच्छुदच्छुरचि	२८३	मूलोकपाताललताश्रये	१९९
निबुलवनमसीस्य वर्तते	४१	नेत्ररोधिनि तपोर्न	११६
निजमर्थयसे शिखीमुप	७५	नेय प्रवालशय्याया	२४४
निहद-धरोपनपटीयसाऽमित	१४८	नैते कवीन्द्रा वति	२
निजवशविशेषकोऽस्मिन्	६९	न्यञ्जच्छिवाभरण	२७९
निजौघसीमन्तितसापु	२०३	न्यभादनीक करिणा च	२६०
निद्रायलचमीहसितच्छुटेय	२१७	न्यस्तानि यानि	२८८
निद्रागृहीतनिर्मुक्त	३१	प	
निपप्य कुम्भेयु	२६२	पञ्चैकन स्मर इव	३२
निपीय निखिल	३०	पतत्यथ कुङ्कुमपङ्कपात्रे	१०४
निपीयमानस्य पौरखी	२५१	पतद्गट निदलितारववार	२६४
निपीयमानस्य तथा	१०५	पया मह बनामतेयु	१७०
निपुण ! नि शसिष्येऽ	९०	पशु प्रजानामसुरेश्वरोऽथ	२७१
निवद्धभीमभृदुटिविलाकयन	२०६	पशु प्रमादस्मितरज्जुकृष्ण	२६६
निममदिङ्नागरुपोल	२२४	पथि चेद्वतिष्ठते	७४
निघत नरेन्द्र	१५०	पथिस्मरस्य विपमे	९१
नियुज्यते नृपेणार्थं	२५३	पदे पदे सान्द्र सुधोऽञ्जलानि	५
निर्घृदनानाद्भुत	१२	पद्मरागरचितालवालका	१२८
निवर्तमान तु हृटात्	२०४	पद् पथि निघःसेऽत्र	२५७
निराणवीर्यवातेऽस्मिन्	२५६	पया पुरोऽसरस्थाथ	१७१
निमगरकमेतस्या	२४५	पन्थारिशवोऽथ पुरतोऽत्र	१४२
निसर्गललिता	२९	पद्मेन्द्र जुह्वितु कोण य	१२२
निहतेषु स्वया	२६	पपौ शशिप्रभाप्येन	८६
निहित बलिदीपकेषु	१८७	पयाधरोत्सगनिवात्	५९
निहिता साम्रमालिभि	२४६	पर्यायजातोभयसथ	२६८
नीर भ्रभृतिष्वलाय	२७८	परमाट इति प्रापत् म	१७२
नीरभ्रसिधुजल	२७७	परवञ्जनपण्डिता मति	७८
नीलकण्ठप्रिया काम	१६९	परस्परस्पथि विलास	६२
नीलच्छत्रावतसा	२८७	परस्परावहित	२७०
नीलातपत्रमित्रेण	३०	परस्पराघात	२६८
नृपतिरथ तदो मुख	३५	परस्परापातिङ्गपाणनियत्	२६१
नृपतिरनुभयी वने	४४	पराङ्मुपीनामपि रान	८
नृप वासराणि निरूपण्णवा	१४८	पराङ्मुख्येनापि सदा	१२
नृपस्य कस्यापि परिच्छुदाङ्गना	६२	परिच्छेदितमयत्परिता	३७
नृपस्य चित्रे	१०४	परिच्छुम्बति चारुणी दिश	१८५
नृपस्य दीपिकाकृत्य	२५०	परिणाहवत् कुचनिषिद्ध	२२८
नृपस्यारण्यसञ्चार	९४	परितापयस्यविरलो	१५६
नृपेण स्वयमुक्तापि	२४१	परिपिञ्जरीताऽसिताम्बरै	१८७

परिमृज्य मुखं विलासिना	१९३	प्रतिभाति दधन् फणा कलापे	६७
परिविद्वरेखमधिनीर	२२६	प्रतिमागतेन्दुकरजाल	२३५
परिवेपविभ्रम	२२८	प्रथमं हि मण्डलमखण्डशक्ति	१४५
परिस्फुरत् कुण्डलधृष्ट	२६९	प्रधावदशवीयगुराहतानाम्	२६२
पश्य पश्य चपलेयमन्तिकात्	११८	प्रधावमानेन मयान्तरान्तरा	२०४
पश्यान्न वातायनमेतदेत्य	२१६	प्रभामण्डलपर्यस्ततमलः	१६४
पश्यान्न दपणतले लिखिता	१९४	प्रभुशक्तिरुधम	१४८
पश्येयमुद्राहुलताऽहितश्रीः	२२०	प्रभुस्तत्र न यज्ञोऽपि	२५५
पाण्डुपचमलदृशः	१२७	प्रभुत्तटसुगयारेणु	२८
पाण्डुः शरद्वचने	१६९	प्रणायतूर्यध्वनिरेप किं	२११
पातालमेतन्नयनोत्सवेन	२१३	प्रवृत्तपतिशोकार्त	२५७
पीनांसतरसंश्लिष्ट	३१	प्रशान्तचिन्तासन्ताने	१७२
पुनः पुनरिति स्वाट्टु	८२	प्रशास्ति परितो	१७६
पुनः पुनः पट्पदराजि	५१	प्रस्थानशंसी सहसा	२४८
पुरा किल ब्रह्मकमण्डलोर्यत्	९	प्रस्थितस्तदनु सोधमं	१२७
पुरो रणोत्सेकमृतां	२६०	प्रसाधिता येन च	१३
पुरो विनुच्चन्नयने	५३	प्रसादमस्माकमरण्य	५४
पुरं कालक्रमात्तेन	१७६	प्रसादमाप्तेन चिराद्विलीने	१४२
पुरः पदे पदे तस्य	१९	प्रसादहृद्यार्थकार	३१
पुरः शिरस्याहित	१०५	प्रसूनमप्यत्र न जातु	२०६
पुष्पदाम दधती	१२९	प्रसृतेव विलोचनोदरे	१९१
पुष्पप्रवालाङ्कुरमण्डलं	२२३	प्रसृतेर्गिरिकन्दरोदरात्	१८८
पुष्पाणि चिन्वत्यतिमुक्तकस्य	२१८	प्राकारवप्रच्छलतः	४
पुष्पाणि नानाविधवर्णभाङ्गि	२२०	प्रावृड्विलासस्मितमुद्गहन्ती	२१८
पुष्पोद्गमेनेव	९८	प्रावृत्तित्तिविस्तीर्ण	१७२
पूर्णन्दुग्भिन्वादपि सुन्दराणि	२	प्रियकीर्तयो जयपवित्रिताशया	१४६
पृथिवीभृतः प्रथितविक्रमेण	१४६	प्रियपाणिपङ्कजधृतेपु	२३३
पृथुप्रतापस्सचिता यथैव	१३५	प्रियसोमः सदा युक्तः	१६६
पेशलोक्तिनिपुणस्य	१३०	प्रियं नः सोऽयमायाति	९६
पौलोमीरमणस्यैव	१७४	प्रियापितः कान्तनिपीतमुक्त	२१७
प्रकटं दधज्जटिति	२३४	प्रियेयमारूढगुणा	५७
प्रकाशयन्तः करणप्रपञ्चं	२६१	फ	
प्रकाशिताशः परितः	१५	फणावलीष्वापतितोरगाणाम्	२६२
प्रकृतिः किल यस्य ते	७१	फणिराजसुताकर्ण	२४२
प्रणयोक्तिभिर्मुनिरथ	१५३	फणिराजसुतामेप	२५३
प्रत्युत्तरत्नमभितः	२७९	फलं शिरीषेण चिरादवासम्	२२१
प्रतिक्षणं या गलितांशुका	६	च	
प्रतिपदमतिदीर्घहार	३६	वन्युजीवकुमुदच्छवीमुखे	१२८
प्रतिभान्ति पुरस्तेऽपि	१७०	वहुना किं	९३

ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भ	१६८	भनागिवासादपवर्तितानना	१०७
घालप्रवालाङ्कुरपाटलस्य	१५७	भनोहरं कामिजनस्य	१०
विभ्रतो विकटदृष्टमाननम्	१२५	भमापि तस्यामधिक	२०२
विभ्रोजेष्ठ ष्व	९०	भयाऽथ तत्र भ्रमता	२०५
ब्रूम क्रियगय कथञ्चन	१५८	भयि गासुरि	७०
भ		भयैवसुक्त स	२०७
भवत्याथ चास्पैव मम	३	भरतावधूतफलधीत	२२६
भटास्रपूर्ण परितो	२६२	भरुता सुहृदेव वीजितम्	१७२
भदन्तस्मरसीम्राज्य	१६५	भस्त्राक्षिपल्लवितनी	१५१
भद्रतद्भ्रज रत्रचूड	१५८	भस्त्रोहसदशु	१९०
भ्रमद्विरेफावलिलोलदृष्टि	२१७	महामहिपनिष्पेश	२१
भरेण भूमे स्फुट	१३	महभयोस्तत्र	२६८
भवत कुतोऽपि नृप	१५०	भाग्यु रुदासु निरुदभावात्	१२५
भत्रता यदोच्छलित पृथ	१४९	भागरिवायतैर्वाचा	२५२
भत्रदिङ्गितवद्दिनैव	६५	भागिक्यवातायन	११
भत्रादृशीनां महता	१३६	भा मू कदापि	२८७
भाति स्म कप्टा	१९	भारतैरपरपारनुद्यया	१२७
भारानभद्रोतिफणास्थिताया	२२४	भा त्रिपीद नवसाहसाङ्क	१२१
भालेषु भीमा मृकुटीर्वहन्तो	२६०	मिलितस्त्वव गण्डलेखया	१८४
भुजङ्गशार्ङ्गंकीमुद्गीयम्	१३८	मुक्तघररवस्स	१७५
भुजन चित्राङ्गदरज	५७	मुक्ताद्य स्त्रीषु	१६५
भूपतावनुरक्ताया	९२	मुक्तै समूहन	२६३
भ		मुक्त्वि नशाप्रातमिवारविन्द	१३४
भणिकान्तिलुप्ततिसिरे	१५६	मुक्त्विमरवरजच्छुभ्र	२७
भणिप्रप्रीवकोद्गुगीर्ण	२४०	मुखे तवासक्तमिद	११४
भणिमुक्तिपु स्रगमुषोड	२३४	मुखे दुभि पौरविलासिनीना	६
भणिहर्म्यतलानि रत्नदीपा	६७	मुञ्चत्यलि पुष्पलतामिनोऽथम्	२१७
भदनात्तरिनाऽपि	१८२	मुद्रितस्मरसौन्दर्यवात्ता	२४१
भदमासवेन रमणेन	२३६	मुहुर्द्वलताविवतने	१८१
भदाभ्रवर्षीं समरेऽभिघातन्	२६६	मुहु प्रजानामधिपेन	२९६
भदिराक्षि पुरोऽवलोक्यताम्	१८६	मृत मनोरथमिबोपवनात्	२७२
भदिरार्विताधरदलेन	२३६	मूले भुव कज्जलपूलिन्स्पम्	२११
भध्यच्युते विभ्रति	२१९	मृगजातिपूर्वैय	२५
भधु कापि पाटलकपोल	२३५	मृगयासक्तचित्तस्य	२६
भद्रकण्ठनिभदो	१२६	मृगानुसारी विचरन्	२३
भद्रानिला दोलितपल्लवाप्रा	२१५	मृदुप्रयातीयमनिग्निग्निवो	५४
भये तवैतधीरम्भमज्ञात	२५६	म्लानिमाप स तथा	१२०
भनसा किमालिपति	१५६	य	
भनसिजवरवीरवैजयन्त्या	४९	य सूर्याशुशलाकस्य	१६८

यच्चापलं किमपि	२८८	यावदेते न मुञ्चन्ति	२५५
यत्र प्रतापोर्जित	१६	या साऽस्य शक्तिः	१३६
यत्राननेरेणदृशां	५	यां हरस्याष्टमीमाहुः	२५६
यत्राष्टमीचन्द्रमुपेयिवांस	७	युगात्पयाम्भोधरनादधीर	२६१
यथा तवेयमरतिर्यथा	९०	युतां सिताभैः सुमनोभि	५३
यथातिजिहेपि	११०	यूथे महावराहाणां	२२
यथाप्रदेशमायातैर्व्याक्ति	१६७	यूयं क्व मानुषाः	२५४
यथाऽयमभ्येति पुरो	२१४	योगक्षेमोपपत्यर्कमुपविष्टः	१६६
यथास्मि वक्तासि	१०४	र	
यदथितार्ताऽभूदनुबन्धमानसैः	१३९	रणे रणे मुक्तकृपः	१३
यद् दीयते तव न	२८३	रक्षासव	२६७
यद्वभूव पुरतोस्य	१२४	रत्नचूडोपनीतेन	२४७
यदभूत्तमसा जगत्तथा	१९१	रत्नवातायनस्थस्य	२४०
यदलं किल मानवत्यभूत्	१९२	रत्नाकरत्वं भुजगेन्द्र	१३८
यदाश्रमे बह्मुनेर्युवयांः	२५२	रथाङ्गपाणेः प्रतिमा समुद्रतः	२०२
यदि कौतुकमायतेक्षणे	१८९	रभसाकृष्टकोदण्डं	२०
यदीश विद्याधरवाहिनीयम्	२१५	रभसादपास्य मणिकङ्कणावलीः	१४७
यदुदीरितश्च	१५०	रम्भा त्वयेव यत्	८४
यद्वैव सा तर्जित	१३७	रमाङ्गदास्त्वृत्स्निग्ध	३२
यथा सखी वः किमपि	२४७	रमाङ्गदोप्युद्भ्रुकुटिः	२६९
यद्वैवास्मत्सखी	२४३	रमाङ्गदोऽपि निर्वर्त्य	३०
यद्यद्वनेऽभूत् कुसुमं	२२२	राजन् महीतलमृगाङ्क	२८१
यद्यदस्तीह पाताले	२५५	राजा फणीन्द्रदुहितुः	२८२
यन्निमज्जति	२५	राजास्ति तस्यां स	११
यशोभटे रूपमवन्ति	१०७	राजेन्द्रदीपके तस्मिन्	२५७
यशोभटोपदिष्टन	२८	रामार्थवद्धकक्षेण	२५०
यशोभिरिन्दुशुचिभिः	१७६	रुरुचेऽलिमण्डलमुदंशु	२३४
यस्मिन्वहृत्यग्बुधि	१४	रुरुचे स पुरस्	१९
यस्य प्रयाणे पृतना	१५	रूपमास्वादयामास	८६
यस्य शृङ्गेन्द्रनीलांशु	१६९	रूपेण तेजस्वितया	१३२
यस्याप्सरोभिः	१३	ल	
यस्यामानेकामरवेश्म	१०	लक्ष्मीपतेः पृथुभुजद्वयम्	२७१
यस्यामसंचितदृशां	६	लक्ष्मीरघोक्षजस्येव	१७४
यस्यां गृहप्राङ्गणपद्म	७	लक्ष्मीलतानव	२८८
यस्यां विसूत्रोऽक्षत	१०	लग्नसान्द्रगजशोणितच्छट्टैः	१२५
यस्यां समुन्मीलति	८	लग्नेनाङ्गे युगपद्दुटज	२०९
या जूटमध्ये च	१३६	लज्जयावलितकंठकदलं	१२०
यान्तमेकान्तशिशिः	१६०	लतया कार्णिकारस्य	९२
यावदङ्कुरितमत्सरो	१२६	लतापुष्पोत्करैः	२८

लतेव मग्मोलितपट्पदस्थना	१०९	विजयी यदस्मि समरेषु	१५१
लतैतया चूनतरो सलीलम्	२१७	विजयैकसद्गानि गुण	१४९
लीलाकटाक्षे मदिरेक्षणाना	७	विजित्य लकामपि	१७
लुम्पन्ति स्वम्बुलच्छाया	२५४	वितेनेऽप्यहिकयाभि	९६
लुडिताङ्गनस्य नयनस्य	२३०	विदधे वधूर्निजकराम	२२९
लृता ममूलु सुभटामिपत्रै	२६३	विद्याधरव्यालभटावलुप्त	२६४
		विद्याधरस्तदनु स	२०८
वन्ति व्यक्ताध्रुलेखेन	२४४	विदिता खलु वासुकेखिलोवया	६७
वसो दधानममराद्रिशिलाविशालम्	२७५	विपातुमेनामहमेव वा	५८
वसमा व्रजानस्य	२७९	विधाय तत्तादशमिन्द्रजाल	१३७
वदति शशिसुखीमितो	४९	विधिरसुरात्मन	२१
वदान स्म हसन्	७७	विभूतनिश्चिततरङ्गितानि	२६७
वदानवधाग्नि मग्नीजनाहृत	१०८	विधूयमाना पवनेन	५
वधूर्दिलीपस्य सुवशिणा	११३	विधृता करे प्रियतमेन	२३५
वधूमतवाचिरेणार	१७९	विनयान्तश्चरतानेन	१७७
वनभुवि पतित कुतो	३९	विन्यस्यवन्धूकदली	२२१
वनभीरवमज्जीरो	९५	विपद्यद्भृता	१४
वनान्तदेवतावास	९३	विपद् विलोक्य तव	१५४
वनान्तमेता वनिता न भोक्तुम्	२२३	विभिन्नचूर्णालकभक्ति	६०
वनानिलाहृतो	८९	विभिन्नमान कमले	१५
वलिनाहितनि सहाहुलि	१८३	विमुञ्चती चक्षुषि	२१९
वलितेऽपि किञ्चन	१५०	वियुक्तपर्यङ्कनल	१९८
वलित न विभानि पृष्ठत	१८३	विरतेऽपि मेघतिमिरे	१५५
वशी कृताक्षमालो य	१७५	विरमन्नधि पलवाघरे	१८६
वश प्रववृत्ते	१७२	विरमात्यदर कोऽय	२६
वसति स्वयमेव	६८	विराजतेऽस्यारितलको	१०२
वसतकमलोहासि	९८	विलासकाञ्चीमथकालरात्रे	२६६
वसन्तमप्यम्ब मयि प्रसन्ना	१३७	विलासिनीसङ्गलसत्	४
वहस्यऽशोकोऽयमर्थकान्ता	२२०	विलोकयन्ती जुसुम	१०२
वहति स्म निर्मलकपोल	३३२	विलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना	११३
वाचालयन्त्य कुकुभा	२१२	विलोकयास्या	१०२
वाचालरत्नवलय	२७५	विलोकितालेख्यकपोलभागात्	२१८
वामनस्वमलिन स्वमत्यजन्	११६	विलोक्ति चित्रमलीकभाषिणी	११३
वालातपच्चुरित	२८५	विलघयन्ति श्रुतिवर्म	९
विरसितकुमुदच्छदा	३५	विवृतयन्ती यदनेन्दुमण्डल	१०६
विरुलितऋषरीकलाप	४४	विवृतमुखश्चनस्य	३६
विरुतिरुदाधिशुक्तिपु	४८	विवेश हृदये तस्या	८६
विगलतिमिराशुके	१९०	विषाह्वरा सारकवचे	२६५
विचिचती किञ्चिदिवयमाद्रात्	५४	विशालनेत्राभरणैरनुदुत	१९८

विपयेऽत्र मौनमुचितं	१४५	शाखाग्रलम्बासु	२१६
विस्मयेन विपयीकृतः	१२७	शिखण्डकेतोः शशिखण्ड	२०२
विस्रस्तमाल्यां श्लथयन्धनत्वात्	१३४	शिखरासन्ननक्षत्रौ	१६८
विहस्य विद्याधरवालिकाभिः	२१२	शियिलाकुलकेशपाशया	१९३
विहितो नहि वक्षसि	७८	शियिलीकृतजीवाशाः	१७४
वीरव्रतस्यालङ्कारमहंकारस्य	२५२	शिरीपादपि मृद्वङ्गी	२४४
वीरपु धावत्सु	२६१	शिलाभेदक्षमेनापि	२३
वृत्ते मधूमथ विवाहमहोत्सवे	२८४	शिलीमुखेऽस्मिन्	१११
वृन्तादपास्तेर्मरुता	९	शुद्धैकगुणसम्पृक्ता	१६६
वैरिसिंह इति प्रापज्जन्म	१७४	शुशुभे कयापि	२२८
व्यक्ततच्चरणलघमणा	१२२	शृणु शङ्खचूडशुचिवंशभूरहं	१५३
व्यधादिवोद्गतै	१९	शोभिता किमपि	१२८
व्यधितप्रणयं दशां	१८१	श्रममपहरस्तेनूर्मि	४२
व्यनक्ति कल्याणमयी	५७	श्रममेत्य मुञ्जत	२२६
व्यञ्जितानङ्गलीलेन	८८	श्रमानुरोधाटुपविश्य	१०६
व्याधूतिमुक्ति	१८	श्रान्तासि कौतुकहृतेन	६३
व्यापारयन्ती वलिताननेन्दुः	१३४	श्रियि प्रतापे यशसि	१७
व्यासः पुरा किल	२८४	श्रियं नीलाट्टकान्त्या	१७६
व्रजन्नमर्त्यप्रमदाविमुक्त	२११	श्रीकण्ठवैकुण्ठपुरन्दराद्यैः	१४१
व्रजन् स विद्याधरवाहिनीनाम्	२१०	श्रीमत् कविप्रियसुहृद्	२८८
व्रीडावनभ्रमुखपद्म	२८१	श्रीमद्वाक्पतिराजोभृद्	१७५
श		श्रीसाहसाङ्गोज्ज्वलकीर्ति	४
शंकितेन्द्रेण दधता	१७३	श्री सीयक इति क्षेत्रं	१७४
शकुनिरयमितो दिगन्त	४०	श्रुतशक्तिसङ्कलितमत्र	१४६
शङ्के शरमृजूकुर्वन्	८७	स	
शतशो विलसन्त्युदंशु	६८	संसर्गमासाद्य विलासिनीनां	१०
शनैर्वयन्ध जघने	२४८	सख्या कयापि लिखितं	२८०
शनैस्ततस्तां सविधो	५९	सखि ! साहसिकः	८४
शनैः शनैरथ व्योम्नि	३२	सखीनामनुरोधेन	९७
शनैश्चरन्ती विपिने	५३	सङ्गीतवेशमनि	२७५
शबलं शशालान्धुनत्विपा	१८९	स च त्रिजगतः	२५०
शबलास्त्रिह कृष्णसारयूथैः	७२	स च परिणतलोध	३८
शययीकृतातनुस्वर्ण	१६२	स च विततमरीचि	४५
शरदिन्दुमरीचिनिर्मलं	१८२	स च विन्ध्यवनान्त	७२
शरदीव प्रसर्पन्त्यां	२१	स च सपदि रमाङ्गदो	४६
शराद्गुज्ज्वलकपोल	१२०	स चाद्भुतप्राभृततोपितः	२०१
शरः संहयतामेप	२६	स चित्रवर्ण	२०
शशीकररुचिना स	४८	सचेन्द्रनीलहर्म्येषु	२५१
शशिप्रभाक्षिविस्तार	१६१	स जलांशुकान्तिविशदा	२३१
शशिप्रभाशानलिनी	५१		

सत्क्रिया रचयितु	१२९	सरसि धवलिते तत	४५
सत्पुष्करानङ्गनपुञ्जभास	२६१	सरसोऽस्य विमुञ्चनी	७९
सत्पुष्करोद्घोति	११	सरागवरयुक्कलिका	१०५
स तव श्रुतिभास	६६	सरोजिनीव	९८
स तस्योपायनीचक्र	२४९	सलिलगतधियाऽथ	४४
स तस्या दूर	२९	सलिलाहतिश्रुदितहार	२३०
स तेपा सहजो	२२	सलिल किरन्तमवलोक्य	२२८
सद्य करस्पर्शमवाप्य	१२	सलीलमेव वदति	११०
सदागतिप्रवृत्तेन	१७३	स वरस, जाते जनक	१३२
सदा समकरस्यास्य	१७७	सविलासमुदस्तहस्त	६६
सदा सदाचारपरेति वार्तया	१०८	सविस्मयो लोचनमार्गमाप्तया	१००
स दूरोदस्तपर्यस्त	२९	सत्रगणलानिलवेष्टिता	२०४
स दृष्टिमथमायाति	१६६	स शरापातमीतेन	२४
सन्नाभिविग्नेन	२६६	स सङ्गत यन्मृगशावचष्टुप	१९६
सनये नृपतावखडिताज्ञे	७४	स सम्भ्रमोत्तामभतकर्णतालम्	२१०
स नृलोकशशिस्वमेव	७३	सहते नृपता नैव	२५१
सपरागो विशश्राम	३०	सहसा हृदये तस्या	८१
स बाष्पपर्याकुललोचनानि	१४१	सहसैवातिथि प्राप्त	१६५
स भृङ्गध्वनिना	३०	सहामुना किञ्चिदुपान्त	५८
समणस्तम्भमग्रेऽथ	१७७	स हि केनापि कृत्यन	८५
समसरे चेतसि दुजनानां	३	सहेमशृङ्खला	२०
समदक्रोडदप्राभि	२२	सहेलमभ्युदरता	१२
सम्प्राप्य शृथिवीपाल	१६२	सा च दो शायितभुवा	८८
सम्प्रत्यवेमि प्रथिता	१३९	साऽचिरांश्रुतपनीय	११८
समर्पिता पार्थिवपुष्पकेतुना	११२	साऽतनुश्वसनस्दृष्ट	८२
समया न तटेपु	७२	सा ते समासाद्	१४२
समानभावैस्त्रिभिरेव	१३३	साद्ब्रहेभरजसा महौजसाम्	१२४
समीरवेष्टततहेमवह्नि	२२३	साद्रोन्मीलासौरमाण्युदहन्यो	२३८
समुचरन्नुपुरसि	५९	सान्द्रानुरागपिशुन	२०६
समुद्रहन्ती स्रवदङ्गनाधु	१५७	सापदेऽथ भुङ्गो द्रकयका	११६
समुपेति सनायतां	७४	सा पाटलाविद्युत्	२८१
समेधितश्रीरभितस्तलोत्थितै	२०३	सा पुरातनपर्येन	११८
स मौलिरमानि	१४०	सा पुरो मम हृतेति	११९
सरत्नकाञ्चीवल्यै	२१२	साम्राज्यभारोद्बहन	१७
स रत्नचूडोऽपि	२७०	सारोपमारोपितचापयष्टि	२६१
सरले क्षटिशुद्धित	१५६	सावहित्यमथेय सा	८३
सरले सह वारिजश्रिया	१८७	साहसोदधिविलोडने	११८
सरस्वती कल्पलतैककन्द	२	सा हारहस्ता ररुचे	९६
सरसागसेव रमणेन	२३३	सितचक्षुषामसितरत्न	२२६

सितचामरधारणे	७२	स्फुटविद्रुमराजिनैकतः	१८०
सितप्रसूनस्तवकैस्त रूणाम्	२१५	स्फुरदद्भुतरूप	६९
सिताश्महर्ष्यमुत्तुङ्गं	२४०	स्फुरदुदरनिवेशितेन्द्र	४८
सीमा सती तिश्द्वदस्य	१६३	स्मरवरकरिहस्त	३८
सुगन्धिहार(दनुलेपनं	५१	स्मराग्निकणमेणाच्यास्तस्याः	८१
सुजनमिव गुणरूपोढ	४६	स्मरेणमर्मणि	८८
सुजातकाटिन्यपयोधराः	२०३	स्मितङ्गोत्सनादरिद्रेण	१७५
सुदृशां निमज्ज्य	२२७	स्मितमेतदलोलात्ति	९०
सुदृशां सदादथ	२३७	स्मित्वा यशोभटकरार्पित	२७२
सुदृशः स किलान्वतश्चुतं	१९४	स्पर्णामने स्वयमथाच्छु	२८०
सुदृशः स्फुटं	२२९	स्वपुरोपवने समुत्सुकः	१८२
सुदृशः स्फुटं नयनखाङ्गसुरसि	२२९	स्ववीर्यपर्यस्तपुरन्दरेण	१३८
सुधारस इवोर्वीभृत्तया	९६	स्वस्ति स्थितस्य स्वः	२४३
सुधानितं सौममिवास्वृतं	१३४	स्वेदभिन्नाङ्गरागः	२९
सुन्दरी द्वितयस्यात्र	९३	स्वेदोदविन्दुच्छलतः	२२२
सुभ्रुव' स्मरविलासदैगिकं	१२२	ह	
सुर-किञ्जर-सिद्धकन्यकाभिः	६९	हंसैरिव स्मेरतटाः समन्तात्	२६४
सुरतबलान्तशवरी	९१	हृटेन नेतुं वशतामिवात्मनो	५४
सुरभिक्षुप्रभुभिः	३८	हन्तैप पद्मगपते	२७६
सुरापगावीचि	१०३	हरयः शेरते यस्य	१७०
सुवर्णपुङ्खे लिखितं	५८	हरहसितसितं दिवापि	३७
सोऽतिमात्रगाहनेऽपि	१२१	हरिणाङ्गसुन्दरमनेक	२३३
सोऽथ प्रवृत्ते गन्तुं	२४९	हरिणीदृशो हतपुरन्धि	२२८
सोऽपि तं वलित	२३	हरेस्त्वमशोऽत्र	१४१
सोऽहसस्मरलीलेन	८१	हारेणाऽमलक	१८
स्तनपत्रलतां तस्या	८६	हिमच्छटाहारिभिरंशुजालैः	५
स्तिमितेवावतस्थे	८८	हिरण्यमयी पार्थिववाण	२६९
स्तुत्वेत्यवन्तिपति	२७८	द्विये तवेयं यद्दि	११०
स्थाने तवानुरागो	९४	हृतमुग्धमधूरुशोभयोरनयोः	१९१
स्थाने यदाह्लादयसि	१३६	हृतसुप्तमशतपत्र	२३३
स्थापितैर्मणिपीठेषु	१७२	हृतं कुतूहलेनाऽलं	१६३
स्थितमेतदयमुखेषु	७४	हता तस्यैकदा धेनुः	१७१
स्थित्वाथ किञ्चित्तमवन्तिनाथम्	१३०	हृदयन्यस्तकर्पूर	१६२
स्थिता परिप्वज्य सरोजिनी	५५	हृदयेशसुकजलधौत	२२९
स्थितोयमन्तर्नवपल्लवानां	२१८	हृदि प्रविष्टैरविशुद्धि	२६८
स्थिरा भव नृपेण	९५	हेतुद्वितयमेवात्र	१६७
स्थिरो भव मितं कालं	१७९	हेमपुङ्खाङ्किते तस्मिन्	८२
स्थूलाध्रुधारासन्तान	१७१	हेमं नृप स्यन्दनमुत्पताकम्	२११
स्फुटत्फणच्छत्रमणि	२६७		